समकालीन नारीवादी उपन्यास : एक अध्ययन

Samakaleen Narivadi Upanyas : Ek adhyayan

THESIS

SUBMITTED TO

COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

FOR THE DEGREE OF

DOCTOR OF PHILOSOPHY

BY

दीपक्.के.आर

DEEPAK.K.R

Supervising Teacher

Dr.N.MOHANAN

Professor&Head

DEPARTMENT OF HINDI

COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

KOCHI- 682022

JULY-2009

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis is a bonafide record of work carried out by **Mr.DEEPAK.K.R.** Under my supervision for PhD (Doctor of Philosophy) Degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any university.

DEPARTMENT OF HINDI	**Dr. N.MOHANAN**
Cochin University of Science &Technology	**Professor&Head**
Kochi –682022	**Supervising Teacher**

Date:

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis is based on the original work done by me under the guidance of **Dr.N.MOHANAN,** Proffessor&Head of the Department Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin-682022, and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree in any other University.

Department of Hindi **DEEPAKK.R.**

Cochin University of Science &Technology

Kochi –682022.

Date:

पुरोवाक्

पुरोवाक्

साहित्य और समाज का संबंध निर्विवाद का है। शोषण–मुक्त समाज की स्थापना ही साहित्य का परम लक्ष्य है। सामाजिक परिवर्तन में साहित्य जितनी अहम भूमिका निभाता है, उतना अन्य कोई माध्यम नहीं। मानव विकास के बाधक तत्वों को निकाल कर उसके विरुद्ध संघर्ष करना और दूसरों को संघर्षशील बनाना साहित्यकार का दायित्व है। प्रेमचंद के विचार में दलितों और शोषितों की हिमायत और वकालत करना, चाहे वह व्यक्ति हो या समूह साहित्यकार का फ़र्ज़ है। हिन्दी के समकालीन नारीवादी लेखन भी शोषित नारी की हिमायत करता है। वह सामाजिक प्राणी की हैसियत से स्त्री के मानवीय अधिकारों की माँग करनेवाला साहित्य है।

हिन्दी में 1980 और 2000 की अवधि में स्त्री–जीवन पर केंद्रित बहुत सारे उपन्यास लिखे गए। समकालीन नारीवादी उपन्यास की एक प्रमुख विशेषता स्वयं नारियों का उपन्यास रचना के क्षेत्र में प्रवेश है। इन लेखिकाओं ने हाशिए पर छोड़ी गई नारियों के जीवन के कई अनछुए एवं अनदेखे पहलुओं को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया। पितृसत्तात्मक समाज के शोषण के विरुद्ध विद्रोह और उसके खिलाफ संघर्ष का आह्वान इस समय के उपन्यासों की अनिवार्य शर्तें हैं। शोषितों के पक्षधर होने के कारण सामाजिक दृष्टि से इन उपन्यासों का अपना अलग महत्व है। इसलिए मैंने समकालीन नारीवादी उपन्यास को अध्ययन का विषय बनाया। मेरे इस शोध–प्रबंध का विषय है **समकालीन नारीवादी उपन्यास : एक अध्ययन** । 1980 और 2000 के बीच महिला लेखिकाओं द्वारा लिखित उपन्यासों की मुख्य प्रवृत्तियों का अध्ययन करना ही प्रस्तुत शोध–प्रबंध का उद्देश्य है। अध्ययन की सुविधा के लिए इस शोध प्रबंध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। आंत में उपसंहार है।

प्रस्तुत शोध–प्रबंध का पहला अध्याय है **नारीवाद स्वरूप एवं विश्लेषण**। इस अध्याय के अंतर्गत समकालीनता की अवधारण, नारीवाद की परिभाषा एवं प्रकार, पश्चिम के नारी–मुक्ति आंदोलन का संक्षिप्त इतिहास, हिन्दी साहित्य और नारी, हिन्दी के प्ररंभिक नारीवादी लेखिकायें और उनके उपन्यास आदि को अध्ययन का विषय बनाया गया है।

नारीवादी उपन्यासों में परिवार इस शोध प्रबन्ध का दूसरा अध्याय है। वास्तव में भारतीय परिवारों में नारी एक व्यक्तित्व विहीन इकाई मात्र है। इस अध्याय में महिला लेखिकाओं के परिवार संबंधी अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। भारतीय परिवारों में नारी की वास्तविक स्थिति का अंकन इस अध्याय में हुआ है। इनके अलावा विवाह, तलाक, पारिवारिक विघटन जैसे मुद्दों पर भी विचार किया गया है।

इस शोध–प्रबंध का तीसरा अध्याय है **नारीवादी उपन्यासों में सेक्स् और नैतिकता**। हमारे समाज में नैतिकता के उसूल स्त्री और पुरुष के लिए भिन्न–भिन्न है। नारी लेखिकाओं के स्त्री–देह संबंधी विचारों को इस अध्याय में चर्चा का विषय बनाया है। अलावा इसके नारीवादी लेखिकाओं की सेक्स् एवं नैतिकता संबंधी अवधारणाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया गया है। यौन–शोषण, बलात्कार, दूसरी औरत की समस्या, नवउपनिवेशवादी संस्कृति और नारी, विज्ञापन और नारी देह आदि बातों को अध्ययन का विषय बनाया गया है।

चौथा अध्याय **नारीवादी उपन्यास और कामकाजी महिला** कामकाजी महिला के जीवन पर केंद्रित है। आधुनिक शिक्षा ने नारी को आत्मनिर्भर होने की प्रेरणा दी। लेकिन नौकरी के लिए घर से निकलते ही उनके सामने अनेक समस्यायें उठ खड़ी हो जाती हैं। प्रस्तुत अध्याय में आत्मनिर्भर होने के लिए नारी द्वारा किए जानेवाला संघर्ष, श्रम का विषम विभाजन, घर और ऑफिस की दोहरी भूमिका, आर्थिक

एवं यौन शोषण, भूमण्डलीकरण और कामकाजी महिला जैसे विषयों को चर्चा का विषय बनाया गया है।

पाँचवाँ अध्याय है **नारीवादी उपन्यासों में विद्रोही नारी**। इसमें सामाजिक नियम और रूढ़ियों के विरुद्ध नारीवादी उपन्यासों में चित्रित नारी–विद्रोह का अंकन किया गया है। इसके अलवा अस्मिता की रक्षा के लिए नारी द्वारा किए जानेवाला संघर्ष, नारी स्वतंत्रता और उसके स्वरूप, पारिस्थितिक सजगता और नारी जैसे विषयों पर भी नज़र डालने का प्रयास किया गया है।

उपसंहार में प्रस्तुत अध्ययन के निष्कर्षों को संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोध–प्रबंध कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो० डॉ० एन मोहनन जी के निदेशन में संपन्न हुआ है। उनके सौहार्द पूर्ण एवं गंभीर व्यक्तित्व ने ही मुझे इस काम के लिए काबिल बनाया है। उन्होंने मेरे प्रति असीम प्यार एवं वात्सल्य दिखाया है। मैं ईश्वर से उनकी मंगलमय जीवन की प्रार्थना करता हूँ। उन्होंने सही अर्थ में मेरा अनन्त उपकार किया है जिसके लिए शब्दों में कृतज्ञता अर्पित करना संभव नहीं है। प्रिय गुरुवर मैं आपके सामने सिर नवाता हूँ और मेरी प्रार्थना है, आगे भी मुझे जीवन में सही रास्ता दिखा देने की कृपा करें।

मेरे इस शोध–कार्य के विषय–विशेषज्ञ कोच्चिन विश्व विद्यालय की प्रो० डॉ० शमीम अलियारजी के प्रति मैं आभारी हूँ। उनके बहुमूल्य सुझावों से ही मेरा यह शोध कार्य सार्थक हो पाया है। उनके प्रति मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

कोच्चिन विश्वाविद्यालय के डॉ०आर०शशिधरनजी ने मेरी काफी मदद की है। इस मंजिल तक पहूँचने के लिए वे सदैव मुझे प्रेरणा देते रहे हैं। मैं तहे दिल से उनके प्रति मेरा आभार प्रकट करता हूँ।

कोच्चिन विश्वाविद्यालय के डॉ० वनजाजी के प्रति भी मैं आभारी हूँ। उनहोंने अपने बहुमूल्य सुझाव और सलाहों से मेरी काफी मदद की है। मेरी शंकाओं को उचित समाधान देने के लिए वे हमेशा प्रस्तुत रही हैं। उनकी कृपा के लिए मैं तहे दिल से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

विभाग के अन्य अध्यापकों को भी मैं इस वक्त स्मरण करता हूँ और तहे दिल से आभार प्रकट करता हूँ।

हिन्दी विभाग के पुस्तकालय के कर्मचारियों के प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ। उन्होंने इस शोध कार्य को सुगम बनाने के लिए काफी सहयोग दिया है।

मैं विभाग के अपने वरिष्ठ भाईयों के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने इस शोध कार्य को सार्थक बनाने के लिए काफी मदद की है। प्रिय भाई राजेंद्रन, जयचंद्रन, सजीव वावच्चन, मनोज, हेरमन, विजयकुमार, रमेश आदि को मैं इस वक्त स्मरण करता हूँ।

मेरे इस शोध कार्य की पूर्ति के लिए मैं अपने प्रिय मित्रों के प्रति भी आभारी हूँ। वे मेरी सहयता के लिए हमेशा उपस्थित रहे थे। प्रिय मित्र संजीव, राजन, प्रदीप, जोईस, अनीष, प्रदीपराज, बिपिन राज आदि को मैं तहे दिल से धन्यवाद प्रकट करता हूँ।

परम मित्र सजी कुरुप्प इस शोध कार्य के अथ से लेकर इति तक मेरे साथ रहा है। उन्होंने हमेशा मुझे बड़े भाई का वात्सल्य और मित्र का प्यार दिया है। वह ज़िन्दगी के हर पल मेरे साथ रहा है। धन्यवाद स्वरूप उनसे कुछ कहने की ज़रूरत नहीं। किन्तु महज औपचारिकता के कारण उसके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ।

मैं अपने मित्र सनल, षैजू आदि को भी इस वक्त स्मरण करता हूँ। मेरे अन्य सभी मित्रों को भी मैं इस वक्त स्मरण करता हूँ।

मेरे प्रिय भाई प्रसाद और संतोष को मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ उनके प्यार और प्रेरणा ने ही मुझे इस कार्य के लिए सक्षम बनाया है। मेरे प्रिय पिताश्री और माताश्री के प्यार के सामने मैं नतमस्तक हूँ। वे मुझे निरंतर प्रेरणा देते रहे हैं। यह शोध प्रबंध निस्संदेह उनके आशीर्वाद का फल है। यह शोध प्रबंध मैं उनको समर्पित करता हूँ।

मैं यह शोध–प्रबंध विनम्रता के साथ विद्वानों के सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसकी कमियों और गलतियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

दीपक्.के.आर

हिन्दी विभाग

कोच्चिन विश्वविद्यालय

कोच्चिन–22

तारीख:

विषय सूचि

अध्याय–1

नारीवाद स्वरूप एवं विश्लेषण 1- 66

समकालीनता– समकालीनता–व्याख्या एवं परिभाषा– साहित्य और समकालीनता– समकालीन हिन्दी उपन्यास– समकालीन हिन्दी उपन्यास की प्रमुख प्रवृत्तियाँ- दलित विमर्श–

संप्रदायिकता– भूमण्डलीकरण एवं पारिस्थितिक सजगता– नारी विमर्श – नारीवाद अर्थ और परिभाषा– नारी चेतना भारत में– प्राचीन काल– मध्यकाल– विवाह– सती–प्रथा और विधवा जीवन– पर्दा–प्रथा– शिशु–हत्या– देवदासी–प्रथा– नारी जागरण और स्वतंत्रता संग्राम– स्वातंत्र्योत्तर भारत में नारी– नारीवाद पाश्चात्य देशों में– नारीवाद के प्रकार– लिबरल फेमिनिज़म– राडिकल फेमिनिज़म– मार्क्सिस्ट फ़ेमिनिज़म– सोश्यलिस्ट फ़ेमिनिज़म– वुमणिसम– नारी विमर्श– नारीवाद के प्रेरक साहित्य– हिन्दी साहित्य और नारी– हिन्दी उपन्यास और नारी– प्रेमचंद पूर्व युग– प्रेमचंद युग– स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और नारी– प्रमुख महिला उपन्यासकार और उनके उपन्यास– नारीवादी लेखन और पुरुष– समकालीन नारीवादी उपन्यास– समकालीन नारीवादी उपन्यास–मुख्य प्रवृत्तियाँ– पारिवारिक एवं वैवाहिक जीवन– नैतिकता और सेक्स संबंधी परिकल्पना– कामकाजी महिला– विद्रोही और रूढ़िमुक्त नारी– भूमण्डलीकरण और पारिस्थितिक सजगता ।

अध्याय–2

नारीवादी उपन्यासों में परिवार ....68 - 140

परिवार – समकालीन नारीवादी उपन्यास और परिवार– औरत का गढन– बेटा–बेटी – भेदभाव की दृष्टि– कन्याभ्रूण–हत्या– परिवार संबंधी परिकल्पना– विवाह की अवधारणा– विवाह की अवधारणा और समाज– विवाह की अवधारणा–नई दृष्टि– पुरुष की नज़र में स्त्री– स्त्री की नज़र में पुरुष– असंतृप्त वैवाहिक जीवन एवं पारिवारिक विघटन – तलाक की परिकल्पना– तलाक– समाज का दृष्टिकोण– अमरीकी समाज और तलाक– मातृत्व की अवधारणा– विधवा जीवन– नारी और समाज– निष्कर्ष ।

अध्याय–3

नारीवादी उपन्यासों में सेक्स् और नैतिकता 142-213

नैतिकता– नैतिकता– सिद्धांत–गढन– नैतिकता के दोहरे मापदंड़– यौन–क्रियाओं का खुला चित्रण– यौन–शोषण––घर के अंदर– यौन–उत्पीड़नः घर के बाहर– बलात्कार और समाज– बलात्कार––नारी की मानसिकता– दूसरी औरत की समस्या– असंतृप्त लैंगिक जीवन– विवाहेतर संबंध– विवाहेतर संबंध–– पापबोध का अभाव– नारी और समलैंगिकता– सेक्स् और नवउपनिवेशवादी संस्कृति– नारी देह–विज्ञापन और बाज़ार– उनमुक्त काम की अवधारणा– देह संबंधी अवधारणाएँ– निष्कर्ष।

अध्याय–4

नारीवादी उपन्यास और कामकाजी महिला ....215 - 279

श्रम का विभाजन– नारी और आत्मनिर्भरता– आत्मनिर्भरता और अस्मिता– आत्मनिर्भरता और निर्णय क्षमता– कामकाजी नारी : पुरुष की नज़र में– कामकाजी नारी और समाज– कामकाजी महिला की दोहरी भूमिका : घर और ऑफिस में– कामकाजी महिला और आर्थिक शोषण– कामकाजी महिला और यौन–शोषण– कामकाजी महिला और सहकर्मी– भूमण्डलीकरण और कामकाजी महिला– निष्कर्ष।

अध्याय–पाँच

नारीवादी उपन्यासों में विद्रोही नारी ....281 - 332

नारी और सामाजिक नियम– धार्मिक रूढ़ियाँ– विद्रोह– सामाजिक नियम के विरुद्ध विद्रोह– धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह– पुरुष वर्चस्व के विरुद्ध विद्रोह– नारी और अस्मिता–बोध– नारी–स्वतंत्रता– पारिस्थितिक सजगता– निष्कर्ष।

उपसंहार ....334 - 342

संदर्भ ग्रंथ सूचि ....344 - 375

अध्याय–1

नारीवादः स्वरूप एवं विश्लेषण

समकालीनता

अपने समय के साथ का सार्थक सरोकार ही समकालीनता है। ‘ समकालीन ’ संस्कृत शब्द है, जिसकी व्युत्पत्ति ‘ काल ’ शब्द में ‘ सम ’ उपसर्ग और ‘ इन ’ प्रत्यय के योग से हुई है। शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से ‘ समकालीन ’ का अर्थ है ‘ समान काल का ’। “ प्रामाणिक हिन्दी कोश ” में समकालीन शब्द का अर्थ ‘ एक ही समय में होनेवाला ’ या ‘ वर्तमान कालिक ’– आदि दिए गए हैं।[1]

“ नालन्दा विशाल शब्द सागर ” में समकालीन के लिए ‘ जो एक ही समय में हुए हो ’ अर्थ दिया गया है।[2]

डॉ० रवीन्द्र भ्रामर ने समकालीन शब्द के तीन अर्थ दिए हैं, ‘काल–विशेष से सम्बद्ध’, ‘व्यक्ति –विशेष के काल–यापन से सम्बद्ध’ और ‘साहित्य, समाज अथवा प्रवृत्ति विशेष से संश्लिष्ट काल–खण्ड’।[3] काल–विशेष की दृष्टि से ‘ समकालीनता ’ का अर्थ एक क्षण में भी सिमट सकती है। व्यक्ति विशेष की दृष्टि से ‘ समकालीनता ’ का अर्थ हुआ ‘ एक व्यक्ति की संपूर्ण आयु का काल–खण्ड ’। साहित्य के मूल्यांकन के

---

[1] आचार्य रामचन्द्र वर्मा, प्रामाणिक हिन्दी कोश, पृष्ट–914

[2] नवलजी, नालन्दा विशाल श्ब्द सागर, पृ–1404

[3] रवीन्द्र भ्रामर, समकालीन हिन्दी कविता, पृ–9

प्रसंग में ‘ समकालीनता ’ का अर्थ किसी भी साहित्यकार के लेखन–काल में प्राप्त प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य के रूप में निर्धारित किया जा सकता है।

अंग्रेज़ी में ‘ समकालीन ’ शब्द के लिए ‘ कन्टेम्पोरेरी ’ [contemporary]अथवा ‘ कोंटेम्पेरेरी ’ शब्द प्रयुक्त है। डॉ० कामिल बुल्के ने इन दोनों शब्दों को, समकालीनता के पर्याय के रूप में स्वीकारा है।[1] “ द आक्सफोर्ड डिक्शनरी–तृतीय वॉल्यूम ” में कन्टेम्पोरेरी अथवा समकालीनता का अर्थ, समान समय, युग या अवधि से संबंधित अर्थात एक समय में साथ–साथ जीवन निर्वाह करते अस्तित्ववान होने या घटित होने से लगाया गया है।[2]

समकालीन शब्द के अर्थ विवेचन के बाद इस शब्द के सामान्य अर्थ

‘ अपने समय का होना ’, ‘ एक ही समय में होने या रहनेवाला ’ आदि रूपों में ग्रहण किया जा सकता है।

समकालीनता–व्याख्या एवं परिभाषा

‘ समकालीनता ’ शब्द की अवधारणा विवाद का विषय है। इस शब्द को विभिन्न प्रकारों से परिभाषित करने का प्रयास विद्वानों ने किया है। कभी मूल्यों कभी विशेष प्रवृत्तियों और कभी कालवाची अवधारणाओं से जोड़कर इस शब्द की व्याख्या और परिभाषा देने का प्रयास समय–समय पर होता आया है। ‘ समकालीन ’ शब्द की

---

[1] डॉ कामिल बुल्के, अंग्रेज़ी हिन्दी कोश पृ–134

[2] जे० ए० सिम्पसन एण्ड ई० एस ०सी० वैन, द आक्सफोर्ड डिक्शनरी–तृतीय वॉल्यूम पृ–813

सही अवधारणा ग्रहण करने के लिए विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं और व्याख्यावों पर दृष्टि डालना समीचीन होगा।

समकालीन और समकालीनता शब्दों की व्याख्या करते हुए मृदुल जोशी लिखती है-

" समकालीन शब्द विशेषण है और समकालीनता भाववाचक संज्ञा है। किसी व्यक्ति के समय या किसी काल-खण्ड में प्रचलित या व्याप्त प्रवृत्तियों या स्थितियों को उस व्यक्ति के समकालीन माना जा सकता है और इन प्रवृत्तियों एवं स्थितियों के होने का भाव समकालीनता है। "[1]

डॉ० जयप्रकाश शर्मा समकालीनता को एक काल-निरपेक्ष शब्द मानता है। उनके अनुसार समकालीन होने का मतलब समयहीन होना भी है। वे लिखते हैं- " समकालीनता ' एक काल निरपेक्ष शब्द है। प्रत्येक युग का साहित्य अपने युग जीवन का साक्षी और समकालीन रहा होगा। इसलिए समकालीनता युग-संदर्भ की भावना नहीं हो सकती। समकालीनता का सामान्य अर्थ वर्तमान से अथवा गत दो-तीन दशकों से लें तो भी प्रश्न उठता है कि ऐसा कौन-सा परिवर्तन चक्र चला कि इस साहित्य को समकालीन की संज्ञा दे दी गई? वास्तव में समकालीन होना समयहीन होना भी है। "[2]

सुरेशचन्द्र के विचार में ' समकालीनता ' काल सापेक्ष है। वे लिखते हैं- " स्वरूपतः समकालीनता काल सापेक्ष है। इसलिए समाकालीनता को काल की सीमाओं में रहते हुए ही परिभाषित किया जा सकता है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से

[1] मृदुल जोशी,समकालीन हिन्दी कविता में आम आदमी, पृ-1

[2] डॉ० जयप्राकाश शर्मा, समकालीन हिन्दी काव्य दशा और दिशा,, पृ-8

मानव मूल्य और सामाजिक मान्यताओं में परिवर्तन ला देनेवाली घटनाओं से विलगित कालावधि विशेष के अन्तर्गत घटित या प्रत्ययों को उस अवधि की सीमा में आने वाले अन्य प्रत्ययों का समकालीन कहा जाता है।''[1]

समकालीनता आधुनिकता का विस्तार है। समकालीनता का अर्थ मात्र कालबोध से संबंधित है पर आधुनिकता एक साथ कालबोधक और मूल्यबोधक दोनों

है। इस संबंध में डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं–

'' समकालीन साहित्य पर विचार करते समय आरंभ में ही मूलभूत प्रश्न यह उभर कर आता है कि समकालीन और आधुनिक के बीच अंतर क्या है, या कि ये दोनों पद समानार्थक हैं? उत्तर में कहना होगा कि ' समकालीन ' पद सिर्फ काल बोधक है, जब कि ' आधुनिक ' कालबोधक के अतिरिक्त मूल्यबोधक भी। समकालीन अपने शाब्दिक अर्थ में स्पष्ट है– वक्ता या कि लेखक के समय का जीवन, समाज, साहित्य–जो भी अभिप्रेत हो। आधुनिक की व्याख्या अपेक्षित है, जहाँ पहले अर्थ के अंतर्गत तो समकालीनता का बोध होता है, पर उसके आगे पद का विशिष्ट और निजी अर्थ आता है।''[2]

स्पष्ट है प्रस्तुत अर्थ का संबंध मूल्यबोध से है।

डॉ ० रामकली सराफ के अनुसार आधुनिकता की तरह समकालीनता भी मूल्य–बोध से अभिन्न रूप से जुड़ी है। उनका विचार है, '' अनिवार्यतः समकालीनता आधुनिकता की तरह ही मूल्य–बोध से अभिन्न रूप से जुड़ी है।

[1] सुरेश चन्द्र, समकालीन मूल्य बोध और संशय की एक रात, पृ–100

[2] राम्स्वरूप चतुर्वेदी, समकालीन हिन्दी साहित्य :विविध परिदृश्य, पृ–9

समकालिक रचनाशीलता वर्तमान को इतिहास–निरपेक्ष ढंग से न देखकर इतिहास–बोध से जोड़कर अर्थात भविष्योन्मुख दृष्टि से देखती है।”[1]

डॉ ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ‘ समकालीनता ’ का अभिधार्थ –‘ जो इस काल में है ’– का निराकरण करते हुए कहता है–

“ समकालीनता, एक काल में साथ–साथ जीना नहीं है। समकालीनता अपने काल की समस्याओं और चुनौतियों का ‘ मुकाबला ’ करना है। समस्याओं और चुनौतियों में भी, केन्द्रीय महत्व रखने वाली समस्याओं की समझ से समकालीनता उत्पन्न होती है।”[2]

विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई व्याख्यावों पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अधिकांश विद्वान ‘ समकालीनता ’ को मात्र काल–बोधक तत्व के रूप में स्वीकारने को तैयार नहीं है। वे काल–बोध की तुलना में मूल्य–बोध को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। यहाँ मूल्य या मूल्य–बोध शब्द की अवधारणा विस्तृत एवं व्यापक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। डॉ० आनंदप्रकाश दीक्षित कहते हैं, “ समकालीनता, मेरे लिए मात्र कालबोध के लिए प्रयुक्त की जानेवाली एक भाववाचक शब्द नहीं है, बल्कि सर्जना के धरातल पर मैं उसे जीवंतता प्रदान करनेवाली एक शक्ति और सर्जक के लिए एक ऐसा उपयोगी तत्व, जो उसकी कृति को नवता प्रदान करके ग्रहीता को उस कृति के निकट लाने और उससे आत्मीय भाव से जुड़ जाने का संबल प्रदान करता है, मानता हूँ। ”[3]

---

[1] डॉ० रामकली सराफ, समकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ, पृ–198

[2] डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, समकालीन सिद्धांत और साहित्य, पृ–16

[3] डॉ०आनंदप्रकश दीक्षित,समकालीन कविता संप्रेषण : विचार आत्मकथ्य, पृ–24

साहित्य का लक्ष्य मानव जीवन का सर्वतोमुख विकास है। मानव जीवन की जटिलताओं एवं समस्याओं को दूर करके उसके जीवन को अधिक से अधिक काम्य बनाना ही साहित्य का लक्ष्य है। जिस साहित्य में यह क्षमता नहीं, वह साहित्य नहीं है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, " मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनाशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"[1]

जो साहित्य या सहित्यकार मानव जीवन के शोषक तत्वों को पहचानकर उसके विरुद्ध, आम जनता के पक्ष में खडे हो जाते हैं, प्रस्तुत साहित्य या साहित्यकार निश्चित रूप से समकालीन है। इस दृष्टि से प्रेमचंद समकालीन है। समकालीनता की इस प्रकार की व्याख्या में कालबोधक तत्व बिलकुल नगण्य है। डॉ ० आनंदप्रकाश दीक्षित कहते हैं, " अतीत को वर्तमान के संदर्भ में ही अपनी उपयोगिता पुनः पुनः प्रमाणित करनी होती है। वर्तमान ही है जो उसे अपने आसंग में नवीन अर्थवत्ता प्रदान करता है। समकालीनता ऐसी स्थिति में केवल तात्कालिक प्रतिक्रिया के रूप में ग्रहीत होकर नहीं रहती, बल्कि रचना में वह एक दृष्टि की सृष्टि करती है, जिसके फलस्वरूप रचना कालातीत और कालजयी बनकर जीती रहती है, क्योंकि उसमें, स्वयं अतीत बन जाने पर भी परंपरा का बल समाहित हो जाता है और उसे भविष्य की संभावना से स्पंदित करता रहता है। "[2] इसप्रकार समकालीन शब्द का एक विशेष अर्थ निकलता है, ' समय या काल के सम या साथ चलने वाला। '

---

1 हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल,, पृ–148

2 डॉ ०आनंदप्रकश दीक्षित, समकालीन कविता संप्रेषण : विचार आत्मकथ्य, पृ–25

वर्तमान समय में रचित सभी रचनायें समकालिक है– ऐसा विचार भ्रामक है। कुछ रचनायें वर्तमान समय में रचित होकर भी, भूतकाल की प्रतीत होती हैं। ऐसी रचनाओं को मात्र काल–तत्व के आधार पर समकालीन कहना अनुचित है। इसीप्रकार, जो रचना वर्तमान समय में रचित होकर भी कालबोध, देशबोध, व्यक्तिबोध आदि तत्वों से रहित है, समकालीन रचना नहीं है। अतः वर्तमान समय में रचित सभी रचनाओं को विशाल अर्थ में ' समकालीन ' कहना ठीक नहीं है

किन्तु प्रस्तुत रचनायें अगर अपने समय के साथ सार्थक सरोकार रखती हैं तो उसे समकालीन कहने में कोई हर्ज नहीं है।

साहित्य और समकालीनता

साहित्य और समाज का संबंध अवितर्कित है। साहित्यकार का अस्तित्व समाज से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। जो साहित्यकार समाज से अलग है उसका मूल्य शून्य के बराबर है। प्रत्येक युग का साहित्य अपने युग का साक्षी और प्रतिनिधि है। राजनाथ शर्मा कहता है, " कवि या लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको जैसा मानसिक खाद मिलता है – वैसी ही उसकी कृति होती है।"[1]

साहित्यकार अपनी युगीन परिस्थितियों से प्रभावित न हो– यह कदापि संभव नहीं है। दर असल साहित्य युगीन परिस्थितियों के अनुसार स्वयमेव परिवर्तित होता रहता है। वस्तुतः इस प्रकार का परिवर्तन एक अनिवार्यता भी है। प्रस्तुत परिवर्तन समकालीन साहित्यकार को समय के साथ या समय से बाँधकर चलने की प्रेरणा देती है। साहित्य का मकसद महज मनोरंजन नहीं है। मानव जीवन की तमाम समस्याओं पर विचार करके उसके कारणों से अवगत कराना ही साहित्य का उद्देश्य है।

---

[1] राजनाथ शर्मा, साहित्यिक निबंध पृ–335

इन समस्यावों की पहचान के लिए समय के साथ चलना अनिवार्य है क्योंकि युगीन परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य की समस्यायें और प्राथमिकतायें भी बदलती रहती हैं। मानव विकास के बाधक तत्वों को ढूँढकर उसके विरुद्ध संघर्ष करना और दूसरों को संघर्षशील बनाना साहित्यकार का दायित्व है। वास्तव में वही साहित्यकार समकालीन है। साहित्यकार के इस फ़र्ज़ के बारे में प्रेमचंद का विचार इस प्रकार है, '' प्रकृति–निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौंदर्य–बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिए कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है– चाहे वह व्यक्ति हो या समूह– उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है।''[1]

अपने समय की लोकचेतना का साक्षी है समकालीन साहित्यकार। वे उन तत्वों के विरुद्ध संघर्ष की भूमिका तैयार करते हैं जो मनुष्य को मानवोचित जीवन जीने से रोकते हैं। समकालीन साहित्यकार के इस संघर्ष को डॉ० आनंदप्रकाश दीक्षित ने यों व्यक्त किया है, '' वह उस व्यग्रता को पकड़ता है जो बृहतर समाज को विकल कर रही होती है और अभिव्यक्ति की राह खोज रही होती है। अर्थात उसकी अनुकूलता और उसका समर्पण इस लोक–चेतना के प्रति होता है। उसका पक्षधर बनकर वह व्यग्र करने वाली अवांछित स्थितियों के विरुद्ध संघर्ष की भूमिका तैयार करता है, एक अर्थ में लोक का नेतृत्व करता है और उसका पथ–निर्देश करता है। स्पष्ट है कि इस भूमिका में वह संघर्ष, विरोध या विद्रोह की अपनी किसी भी स्थिति का स्वीकर्ता होता है।''[2]

---

[1] प्रेमचंद, कुछ विचार, पृ–10

[2] डॉ ०आनंदप्रकश दीक्षित, समकालीन कविता संप्रेषण : विचार आत्मकथ्य पृ–26

जाहिर है कि समकालीन लेखक समाज की यथास्थिति वर्णन से या केवल समय के साथ चलने से तृप्त नहीं है। वह परिवर्तन की प्रक्रिया में अपनी भागीदारी के प्रति भी सचेत है। श्रीकांतवर्मा कहता है--

" मित्रो,

यह कहने का कोई मतलब नहीं

कि मैं समय के साथ चल रहा हूँ।

सवाल यह है कि समय तुम्हें बदल रहा है

या तुम समय को बदल रहे हो? "[1]

समकालीन हिन्दी उपन्यास

उपन्यास का सामाजिक सरोकार गहरा है। क्योंकि वह आम आदमी की साहित्यिक विधा है। वह दलित और पीड़ितों का पक्षधर है। सामाजिक-परिवर्तन में उसकी भूमिका महत्वपूर्ण है। ऐसे विचार हिन्दी उपन्यासों में प्रेमचंद के समय से ही दृष्टिगोचर होते हैं। साधारण मानव की समस्यायें, उनकी संवेदनायें आदि का यथार्थ चित्रण प्रेमचंद के उपन्यासों में मिलते हैं। उनके उपन्यासों में उस सामाजिक व्यवस्था के प्रति आक्रोश है, जो मानव को मानवोचित जीवन जीने से वंचित रखती है। इसप्रकार अपने समय के साथ सार्थक सरोकार रखने में, आम आदमी के यथार्थ का चित्रण करने में तथा उनके पक्ष में खड़े होने में प्रेमचंद सफल रहे, और वे सच्चे अर्थ में समकालीन रहे।

---

[1] श्रीकांतवर्मा, मगध, पृ-60

स्वाधीनता परवर्ती हिन्दी उपन्यासों में अस्तित्ववाद का प्रभाव द्रष्टव्य है। इस समय के उपन्यासों में समाज की तुलना में व्यक्ति को अधिक महत्व दिया गया। नतीजतन इसके, सामाजिक सरोकार की भावना क्षीण हो गई। संत्रास, कुंठा, निराशा, अकेलापन, अजनबीपन आदि इस समय के उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ रहीं। इस समय के साहित्य की चर्चा करते हुए डॉ० विश्वंभरनाथ उपाध्याय लिखते हैं, " ' पुरानी नई कविता ' के सिरजनहारों अथवा पिछले दशक (50-60 के मध्य) के व्यक्ति–केंद्रित लेखकों की समकालीनता में दोष यह था कि उनकी मुक्ति की कल्पना में, वास्तविक आवश्यकताओं के आयाम (नेसेसिटी) की उपेक्षा की गई। अनूठे क्षणों की खोज में, व्यापक समाज के प्रवाह के अनूठेपन की चिंता नहीं की गई। व्यापक बदलाव के प्रश्न को टाल दिया गया और पराए संदर्भों में उपजी मनोवृत्तियों (संदेह, अनास्था, मृत्युकामना, आत्महत्या, सेक्स) की जांच परख में ही सार्थकता खोजी गई। उन्हें यह भ्रम हुआ कि सार्थकता, समूह से स्वतंत्र, कोई व्यक्तिगत दार्शनिक खोज का नाम है। .... उनके समकालीन बोध में काल संग्रथित नहीं हुआ। उनके बोध में जीवन की, भारतीय समाज (देश) के व्यापक दुःखों और ज़रूरतों की उपेक्षा हुई।"[1]

इस तरह अस्तित्ववाद से प्रभावित उपन्यासकारों के उपन्यासों में समाज के वांछनीय परिवर्तन या काम्य स्थिति के स्वरूप का चिंतन न के बराबर है। जनता के वास्तविक जीवन से दूर होने के कारण धीरे–धीरे उसकी ' समकालीनता ' अथवा समय के साथ का सार्थक सरोकार रखने की क्षमता मंद पड़ गई।

सप्तम दशक के अंतिम तथा अष्टम चरण के प्रारंभिक चरण में उपन्यासकारों का चिंतन फिर से जनता की वास्तविक या यथार्थ जीवन से जुड़ गया।

[1] विश्वंभरनाथ उपाधाय, समकालीन सिद्धांत और साहित्य, पृ –15

परिणाम स्वरूप इसके, इस समय के उपन्यासों का मूल स्वर ‘ व्यवस्था विरोध ’ होने लगा। बाद में यह व्यवस्था विरोध ही समकालीनता की पहचान के रूप में स्वीकृत होने लगा। “ पिछले इतिहास की गवाही के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हमारे संकट और दु:ख का मुख्य कारण बाहरी नहीं भीतरी है। भीतरी कारणों में आदमी की मुसीबत का मुख्य सवाल रजनीतिक और सामाजिक ‘ व्यवस्था ’ (सिस्टम) है। यह ‘ व्यवस्था ’ सीढ़ीदार रही है और है। यानी अपने समाज की संरचना वैषम्यमूलक, मुद्रापरक, संग्रहशील, उच्चवर्गोन्मुख, और ‘ अलगाव ’ की प्रोत्साहक है। यह सामाजिक, राजनीतिक ‘ जनतंत्र ’ बडे लोगों के लिए एक सुखद संस्था है। व्यवहार में जनतंत्र का अर्थ है ‘ अल्पतंत्र ’। इस संरचना तथा ढ़ांचे को तोड़ने वाला साहित्य ही समकालीन साहित्य है। जिस रचना से इस ‘ ढ़ांचे ’ पर चोट नहीं होती वह अप्रासंगिक साहित्य है। उसका ऐतिहासिक या क्लासिक मूल्य हो सकता है लेकिन उसका समकालीन मूल्य नहीं होगा।”[1]

1980 के परवर्ती हिन्दी उपन्यासों में प्रस्तुत ‘ व्यवस्था विरोध ’ ही, जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है, मुख्य स्वर है। इन उपन्यासों में आदमी को आदमीयत के पद से वंचित करनेवाली व्यवस्था और उनके ज़िम्मेदारों के विरुद्ध जो आक्रोश है, उसकी अभिव्यक्ति हुई है। कालगत दृष्टि से इन उपन्यासों को समकालीन न कहकर समसामायिक कहना अधिक संगत होगा। क्योंकि आनेवाले समय में भी प्रासंगिक बने रहने की क्षमता इन उपन्यासों को है, इसका फैसला होना अब बाकी है। किंतु अपने समय के साथ सार्थक सरोकार रखने में इस समय के उपन्यास पूरी तरह खरे उतरे हैं। मानव जीवन से संबंधित विभिन्न समस्याओं का यथार्थ चित्रण करके, सामान्य जनता को इनसे अवगत कराने में आलोच्य समय के उपन्यास सफल निकले

[1] विश्वंभरनाथ उपाधाय समकालीन सिद्धांत और साहित्य, पृ–17

हैं। इस समय के उपन्यासकारों ने उपन्यास को महज उपन्यास के रूप में नहीं, एक सशक्त प्रतिरोध के रूप में अपनाया है।

1980 और 2000 के बीच दलित, नारी जैसे हाशिए पर रखे गए वर्गों के जीवन को केन्द्र में रखकर अनेक उपन्यास लिखे गए। इसका मुख्य उद्देश वर्तमान स्थिति से उनका सुधार था और उस सुधार–हेतु किए जानेवाले संघर्षों को प्रेरणा देना। इस दौर में भूमण्डलीकरण ने जीवन के सहज प्रवाह को प्रभावित किया है। दर असल हमारा सांस्कृतिक अस्तित्व गहरे संकट का सामना कर रहा है। इस तथ्य की ओर भी समकालीन उपन्यासकारों के ध्यान आकृष्ट हुए हैं। शोषण के नए–नए दाँव–पेंचों को पहचानकर आम जनता को भूमण्डलीकरण अथवा नव उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्षरत बनाने में समकालीन उपन्यासकारों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। संप्रदायिकता के बदलते संदर्भों को उजागर करने में भी समकालीन उपन्यासकार कामयाबी हासिल की है। प्रगति या विकास के नाम पर मनुष्य अंधाधुंध प्रकृति का नाश और प्रदूषण कर रहे हैं। प्रस्तुत प्रदूषण से भी समकालीन उपन्यासकार वाकिफ है और उनके विरुद्ध आवाज़ उठाने में सक्रिय भी।

संक्षेप में, मानव जीवन से संबंधित विभिन्न पहलुओं का अंकन समकालीन उपन्यासों में हुआ है। ये उपन्यास एक साथ पहचान और प्रतिरोध दोनों

हैं। जहाँ तक उपन्यासकारों का मामला है, अधिकांश लेखकों ने विषय को ईमानदारी से लिया है और उनकी संपृक्ति और सामाजिक सरोकार उनकी रचनाओं में प्रकट भी हुए हैं।

समकालीन हिन्दी उपन्यास की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

समकालीन हिन्दी उपन्यास यथार्थ के ठोस धरातल पर खड़ा है। वह वर्तमान की चुनौतियों और समस्याओं को अपने में समेटकर चल रहा है। सन् 1980

के बाद अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर परिवर्तन की गति इतनी तीव्र हो गई कि इनसे जीवन की सहज गति बाधित हो गई। इसी दौर में ही भूमण्डलीकरण नए–नए मूल्यों को हमारे जीवन पर थोपना आरम्भ कर दिया था। वर्तमान स्थिति कुछ ऐसी है कि सामाजिक जीवन में अब ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा है, जो भूमण्डलीकरण के जाल में न फँसा हो।

दलित तथा स्त्री–मुक्ति आंदोलनों को प्रश्रय देनेवाले अनेक उपन्यास इस समय लिखे गए। इसका मूलकारण स्वत्वबोध की पहचान था। वर्तमान समय में संप्रदायिकता उनकी तमाम जडिलताओं सहित सामाजिक जीवन में व्याप्त है। परिस्थिति प्रदूषण और विकास संबंधी अपरिपक्व दृष्टि के कारण प्रकृति का नाश भी वर्तमान समय की सच्चाई है। लेकिन इन तमाम अवांछनीय परिस्थितियों और भीषण संकटों के बावजूद हिन्दी उपन्यासकारों ने अपनी सचेत एवं सजग रचनाधर्मिता का परिचय दिया है। सामाजिक जीवन से अपना गहनतम सरोकार बरकरार रखने में वे सफल रहे। वर्तमान स्थिति का यथार्थ चित्रण इनके उपन्यासों में मिलते हैं। इस दौर के हिन्दी उपन्यास दलित विमर्श, संप्रदायिकता, पारिस्थितिक सजगता, भूमण्डलीकरण तथा नारी विमर्श जैसी प्रवृत्तियों पर केन्द्रित केन्द्रित है।

दलित विमर्श

दलित विमर्श समकालीन हिन्दी उपन्यास की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। हिन्दी का दलित साहित्य देशव्यापी दलित चेतना की उपज है। महात्मा ज्योतिबा फूले और डॉ० भीमराव अंबेड़कर इस चेतना के प्रेरणा स्रोत थे। दलित चेतना का उदय और साहित्य में इसका चित्रण सर्वप्रथम महाराष्ट्रा में हुआ। समकालीन हिन्दी दलित साहित्य सदियों से सताए गए लोगों की पीड़ा की अभिव्यक्ति है। किन्तु यह कोरा मूक अभिव्यक्ति नहीं है, इसमें अस्वीकार, निषेध, विद्रोह, और संघर्ष की आग भी है।

समकालीन हिन्दी उपन्यास में दलितों पर होनेवाले धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, और शारीरिक शोषण का अंकन है तथा प्रस्तुत शोषण के विरुद्ध उनका संघर्ष और विद्रोह का चित्रण भी हैं। ये संघर्ष वस्तुतः अपने स्वत्वबोध की पहचान का परिणाम है। समकालीन दलित हिन्दी उपन्यास की एक विशेषता यह है कि उनके प्रणेता अधिकांशतः स्वयं दलित ही है। अतः समकालीन दलित उपन्यास यथार्थ के काफी निकट है। हाँलाँकि दलित साहित्य की अवधारणा को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग केवल दलित लेखकों द्वारा लिखे गए साहित्य को ही दलित साहित्य मानते हैं। दूसरा वर्ग गैर दलित द्वारा लिखे गए साहित्य को भी दलित साहित्य मानने के पक्ष में हैं। किन्तु दलितों द्वारा लिखे गए उपन्यासों के कथ्य में अनुभव की प्रामाणिकता है और उनकी रचना भोगा हुआ यथार्थ ही है।

प्रेमकपाड़िया का ‘ मिट्टी की सौगंध ’, जयप्रकाश कर्दम के ‘ करुणा ’, ‘ छप्पर ’ सत्यप्रकाश का ‘ जस तस भई सबेर ’, मोहनदास नैमिशराय के ‘ मुक्तिपर्व ’, ‘ अपने–अपने पिंजरे ’, ओमप्रकाश वाल्मीकी का ‘ जूठन ’, सूरजपाल चौहान का ‘ तिरस्कृत ’, ‘ शरणकुमार लिंबाले का ‘ अक्करमाशी ’ आदि इस समय के उल्लेखनीय दलित उपन्यास हैं।

संप्रदायिकता

संप्रदायिकता वर्तमान समय की कटु वास्तविकता और पेचीदा समस्या है। धर्म और राजनीति के साँठगाँठ ने इस समस्या को और जटिल बनाया है। संप्रदायिकता वास्तव में धर्म का संकुचित या सीमित रूप है। वस्तुतः संप्रदायिकता देश की एकता के लिए खतरनाक चुनौती है। दर असल अंग्रेज़ों द्वारा अपनाई गई ‘दो राष्ट्र नीति ’ का परिणाम है संप्रदायिकता। संप्रदायिकता के विभिन्न आयामों का चित्रण समकालीन हिन्दी उपन्यास की प्रमुख प्रवृत्ति है। सन् 1992 में बाबरी मस्जिद का ध्वंस

हुआ था। देश भर व्याप्त संप्रदायिक दंगे इसका परिणाम था। समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों ने संप्रदायिक नफरत तथा धर्मोन्माद पैदा करने वाली स्थितियों के अंकन में गहरी संवेदन शीलता का परिचय दिया है। उनका मानना है कि फासीवाद और संप्रदायिकता में वास्तव में कोई अंतर नहीं है। तथा आम जनता के जीवन से इसका कोई तालूक भी नहीं है।

भगवनदास मोरवाल का ‘ काला पहाड़ ’, प्रियंवद का ‘ वे वहाँ कैद हैं ’, गीतांजली श्री का ‘ हमारा शहर उस बरस ’ कमलेश्वर का ‘ कितने पाकिस्तान ’ मंज़ूर एहतेशाम का ‘ सूखा बरगद ’, भगवान सिंह का ‘ उन्माद ’ आदि उपन्यासों में संप्रदायिकता के विभिन्न आयामों का चित्रण मिलते हैं।

भूमण्डलीकरण एवं पारिस्थितिक सजगता

भूमण्डलीकरण साम्राज्यवाद का नया रूप है। विगत बीस वर्षों से भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया काफी तेज़ी से चल रही है। भारत दीर्घ काल तक अंग्रेज़ों का उपनिवेश रहा था। वर्तमान समय में उपनिवेशवाद का रूप बदल गया है। पूँजीवादी देश आज दूसरे देशों में अपना उपनिवेश स्थापित किए बिना ही अपना साम्राज्य का विस्तार कर रहे हैं। अत: यह नव उपनिवेशवाद अथवा भूमण्डलीकरण है। आज हमारे जीवन में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा है जो भूमण्डलीकरण के चँगुल में न फँसा हो। भूमण्डलीकरण का सबसे ज़ोरदार हमला आर्थिक और संस्कृतिक क्षेत्र पर हो रहा है।

समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों ने भूमण्डलीकरण को काफी गौर से लिया है। भूमण्डलीकरण के सभी दाँव–पेंचों से वे भली–भाँति परिचित हैं और उनके उपन्यासों में इसका चित्रण भी हैं। भूमण्डलीकरण से उपजी ‘ उपयोगिता की मानसिकता ’ के प्रति विरोध की भावना समकालीन हिन्दी उपन्यासों में द्रष्टव्य है। विनोद कुमार शुक्ल का ‘ नौकर की कमीज़ ’, प्रियंवद का ‘ परछाई नाच ’, उदयप्रकाश का ‘

पीली छतरीवाली लड़की ', रवीन्द्रवर्मा का ' निन्यानबे ', चित्रा मुद्गल के ' एक ज़मीन अपनी ', ' आवाँ ' आदि कुछ उल्लेखनीय उपन्यास हैं जिनमें भूमण्डलीकरण के विभिन्न आयामों का चित्रण किया गया है।

परिस्थिति प्रदूषण और प्रकृति का शोषण समकालीन जीवन की ज्वलंत समस्या है। विकास के नाम पर प्रकृति का नाश और पर्यावरण–प्रदूषण सारी सीमाओं को लाँघ कर आगे बढ़ रहे हैं। समकालीन हिन्दी उपन्यासकार इस संदर्भ में भी अपनी सजगता का परिचय दिया है। प्रकृति शोषण और प्रदूषण के विरुद्ध उनके सख्त विद्रोह समकालीन हिन्दी उपन्यासों में देखा जा सकता है। वीरेन्द्र जैन का ' डूब ', संजीव का ' धार ', मैत्रेयी पुष्पा के ' बेतवा बहती रही ', ' इदन्नमम ' आदि एतत विषय संबंधी कुछ उल्लेखनीय रचनायें हैं।

नारी विमर्श

हिन्दी साहित्य में ' नारी–मुक्ति ' एक संगठित आंदोलन का रूप सत्तर के बाद ही धारण करता है। इसका मूल कारण स्त्री–शिक्षा का प्रसार था। शिक्षित नारी अपने स्वत्व को पहचानते हुए अपने शोषक तत्वों के खिलाफ संघर्ष करने लगी। उनके इस संघर्ष को प्रश्रय देनेवाला साहित्य है नारीवादी साहित्य। नारी विमर्श नारीवाद का विकसित रूप है। समकालीन हिन्दी उपन्यासों में चित्रित नारी अपने अधिकारों के प्रति सजग है। शोषण के विरुद्ध छुप रहने के लिए या निष्क्रिय रहने के लिए वह तैयार नहीं है। शोषण के विरुद्ध अपना सख्त विद्रोह प्रकट करने में वह हिचकती नहीं। संक्षेप में, समकालीन हिन्दी उपन्यासों में नारी चिंतन के विभिन्न आयामों का यथार्थ अंकन उपलब्ध है।

समकालीन नारीवादी उपन्यास की एक अन्य विशेषता है स्वयं नारियों का उपन्यास रचना के क्षेत्र में प्रवेश। विगत दो दशकों में महिला लेखिकाओं की संख्या में काफी वृद्धि हुई हैं। यह वृद्धि केवल संख्यात्मक न होकर गुणात्मक भी रही

है। समकालीन नारीवादी उपन्यास और उनकी मुख्य प्रवृत्तियों के विश्लेषण करने से पहले ‘ नारीवाद ’ शब्द के अर्थ और परिभाषा के बारे में विचार करना लाजिमी होगा।

नारीवाद अर्थ और परिभाषा

नर और नारी समाज में समान अधिकारों के हकदार हैं। किन्तु पितृसत्तात्मक समाज लिंग(Gender) के आधार पर नारी को उनके अधिकारों से वंचित वंचित रखता है। परिणाम स्वरूप नारी हाशिए [Margin] पर रहने के लिए बाध्य हो गई। इन असमानताओं के खिलाफ तथा स्त्रियों के अधिकार–प्राप्ति हेतु किए जानेवाला संघर्ष नारी मुक्ति आंदोलन अथवा नारीवाद है। दूसरे शब्दों में, नारीवाद वह सिद्धांत है जो सभी क्षेत्रों में नारी को पुरुष के समान अधिकार और अवसर की माँग करता है। नारीवाद तथा नारीवादी के लिए अंग्रेज़ी में क्रमशः फ़ेमिनिज़म (Feminism) और फ़ेमिनिस्ट (Feminist) शब्द प्रयुक्त है।

ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में ‘ फेमिनिज़म ’ का अर्थ इसप्रकार दिया गया है

“The belief and aim that women should have the same rights and opportunities as men ; The struggle to achieve this aim .”[1]

अर्थात नारीवाद वह विश्वास या लक्ष्य है, जिसके अनुसार नारी को भी पुरुष के समान अधिकार और अवसर होनी चाहिए ; प्रस्तुत उद्देश की पूर्ती के लिए किया जानेवाला संघर्ष है। ’

केंब्रिड्ज डिक्शनरी में ‘ फेमिनिज़म ’ का अर्थ इस प्रकार दिया गया है–

---

[1] www.oup.com

`` The belief that women should be allowed the same rights, power and opportunities as men and be treated in the same way, or the set of activities intented to achieve this state:"[1]

अर्थात वह विचार, ‘ जिसके अनुसार नारी को भी वे सब अधिकार, शक्ति और अवसर प्राप्त होना चाहिए जो नर को प्राप्त है, उसके साथ पुरुष–समान सलूक होनी चाहिए ; तथा प्रस्तुत स्थिति हासिल करने के लिए किया जानेवाला क्रिया–कलाप।’

नालंदा अंग्रेज़ी–हिन्दी कोश में फेमिनिज़म का अर्थ ‘ स्त्रियों के अधिकारों और उनकी प्रगति के मार्ग पर आन्दोलन करनेवाला ’ दिया गया है।[2]

‘ लोकभारती राजभाषा शब्दकोश, हिन्दी–अंग्रेज़ी ’ में ‘ नारी अधिकारवाद ’ के अर्थ में ‘ फेमिनिज़म ’ श्ब्द का प्रयोग किया गया है।[3] ‘ मानक अंग्रेज़ी–हिन्दी कोश ’ में फेमिनिज़म का अर्थ ‘ स्त्रियों के अधिकारों का समर्थन ’, ‘ स्त्री–अधिकारवाद ’ आदि दिए गए हैं।[4]

नारी चेतना भारत में

सभ्यता की शुरुआती दौर में, चाहे वह जहाँ की भी हो, परिवार का केंद्र स्त्री थी। वह अपनी परिवार की मुखिया थी। आदिम समाजों में वंशानुक्रम और उत्तराधिकार माता या नारी के पक्ष से चलता था। दूसरे श्ब्दों में सभ्यता के प्रारंभिक दौर

---

1 www.dictionary.cambridge.org

2 Nalanda Current Dictionary, Published By K.L Bhagat

3 संपादक–सत्यप्रकाश, मानक अंग्रेज़ी–हिन्दी कोश, बलभद्रप्रसाद मिश्र, पृ–503

4 डॉ० हरदेव बाहरी, लोकभारती राजभाषा शब्दकोश हिन्दी अंग्रेज़ी, पृ–244

में समाज निश्चित रूप से मातृसत्तात्मक था। लेकिन इतिहास के किसी मोड़ पर वह पितृसत्तात्मक समाज में परिवर्तित हो गया। फलस्वरूप इसकी नारी धीरे–धीरे अपने अधिकारों से वंचित होने लगी। जैसे–जैसे पितृसत्तात्मक व्यवस्था सशक्त होने लगी वैसे–वैसे स्त्रियों के जीवन भी समस्याओं और प्रतिबंधों से युक्त होने लगी।

भारत में पितृसत्तात्मक समाज अपनी सुविधा के अनुसार नारी को या तो ' देवी ' नहीं तो ' दासी ' के रूप में देखना चाहते हैं। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि दोनों रूपों में वह शोषण का शिकार है। ' मनुस्मृति ' में जहाँ –

" यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता :।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:। "[1]

कहकर ' नारी–पूजा ' की बात कही है तो दूसरे स्थान पर उसको किसी भी अवस्था में स्वातंत्र्य न देने का प्रस्ताव है। यथा

" पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।

रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति। "[2]

भारत में नारी–जीवन या नारी–चेतना का इतिहास काफी उतार–चढावों से युक्त है। प्राचीन काल में उनका सम्मान होता था। मध्ययुग में उनकी दशा अत्यंत दीन थीं। आधुनिक युग में शिक्षा के प्रसार ने उनको फिर से जागृत किया। स्वतंत्रता–संग्राम में उनकी सक्रिय भागीदारी इसका सबूत है। समकालीन संदर्भ में अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्ष करनेवाली नारी का नया रूप दृष्टव्य है।

---

[1] मनुस्मृति, व्याख्याकार–पंडित श्री हरगोविन्द शास्त्री, श्लोक–56 , अध्याय– 3, पृ–113

[2] वही, श्लोक–3 अधाय – 9, पृ–479

प्राचीन काल

वैदिक युग में स्त्री–पुरुष की स्थिति काफी हद तक समान थी। यद्यपि उस समय का समाज पितृसत्तात्मक रहा था तथापि स्त्री–शोषण पर आधारित नहीं था। स्त्रियों के पास अपने विकास का पूर्ण अवसर था, स्त्री शिक्षा का प्रसार था। शिक्षा का अधिकार केवल प्राथमिक शिक्षा तक सीमित न होकर दर्शन, मीमांसा जैसे विषयों पर भी व्याप्त था। स्त्री को मुख्यधारा से दूर रखने की प्रवृत्ति, दूसरे शब्दों में, उन्हें हाशिए पर रखने की प्रवृत्ति, ऋग्वेद काल में नहीं थी। श्री० पी०एन० चोपड़ा लिखते हैं, “ वैदिक समाज में स्त्रियों को मुख्यधारा से दूर रखा जाता था, इसका कोई प्रमाण नहीं है। वे वेदों के अध्ययन करतीं थीं और पुरुषों के साथ शास्त्रार्थ भी करतीं थीं।”[1]

वैदिक समाज शुरुआती दौर में एकपत्नीत्व पर आधारित था। अपनी इच्छा के अनुसार उचित व्यक्ति को चुनने का अधिकार स्त्री और पुरुष दोनों को प्राप्त था। बाल–विवाह उस समय प्रचलित न था। किन्तु दहेज देने की प्रवृत्ति उस समय भी प्रचलित थी। अन्तर्जातीय विवाहों का भी प्रचलन था। ऋग्वेद में विधवा पुनर्विवाह का भी प्रस्ताव है।

लोपमुद्रा, घोषा, विश्ववरा, अपाला आदि स्त्रियों के नाम वैदिक ऋचावों की रचयित्रियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मवादिनी गार्गी, यज्ञवाल्क्य ऋषि की पत्नी मैत्रेयी, देवगुरु बृहस्पति की पुत्री रोमशा आदि भी ऋग्वेदकाल की प्रसिद्ध महिलाएँ थीं जो

---

[1] `` There are no traces, however, of seclusion of women in vedic society .They participated in debates and studied vedic literature.''

P.N.Chopra, Vedic Life and Thought, Page--41

ततकालीन् समाज में आदर के पात्र थी। क्षत्रिय कुल में उत्पन्न कुछ स्त्रियों का युद्धों में भाग लेने की तथा रथ चलाने का प्रस्ताव भी ऋग्वेद में है।

वैदिक युग में पुत्री की अपेक्षा पुत्र को प्रधानता थी। पुत्र–कामना की प्रार्थना वेदों में अनेक स्थानों पर देख सकते हैं। ' संतान–प्राप्ति का, विशेष रूप से, पुत्र–संतान की प्राप्ति का आग्रह विवाह का मुख्य उद्देश था। मवेशी और धरती के साथ–साथ पुत्रों के लिए भी निरन्तर प्रार्थनायें होतीं थीं। किन्तु पुत्री–संतान की कामना की अभिव्यक्ति (वेदों में) नहीं की गई है। पितृसत्तात्मक समाज में इस प्रकार पुत्र कामना करना स्वाभाविक है। पिता का निधन हो जाने पर अंत्येष्टि करने का तथा वंश को आगे चलाने का अधिकार मात्र पुत्र पर निक्षिप्त था।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद के समय से ही पुत्र और पुत्री के बीच भेद की भावना शुरू हुई थी। किन्तु इस बात में कोई संदेह नहीं कि, ऋग्वेद काल में नारी की स्थिति उत्तर–ऋग्वेद काल की तुलना में कई मायने में बहत्तर थी। दिनकरजी लिखते हैं,

'' वैदिक युग में नारियों का बडा ही पूजनीय स्थान था। पत्नी के बिना आज भी हिन्दुओं का कोई धार्मिक संस्करण पूर्ण नहीं होता। किन्तु, वैदिक युग में तो स्त्रियाँ कुलदेवी मानी जाती थीं। विवाह के अवसर पर वधू को आशीर्वाद देने के लिए ऋग्वेद में जो मन्त्र है, उसमें वधू से कहा गया है कि सास, ससुर, देवर और ननद की तुम

---

[1] The fulfilment of the desire for offspring, and male offspring in particular, was the chief aim of marriage. Abundance of sons is constantly prayed for along with cattle and land, but no desire for daughters is expressed. This desire for a son is natural in a patriarchal organization of society. The son alone could perform the funeral rites for the father and continue the line.

R.C. Majumdar, `` THE VEDIC AGE'', Page - 393

‘ साम्राज्ञी ’ बनो। स्त्रियाँ गृहस्वामिनी तो होती ही थीं, किन्तु उनका कर्मक्षेत्र केवल घरों तक सीमित नहीं था।[1]

मध्यकाल

वैदिक युग की तुलना में मध्यकाल में नारी की स्थिति में काफी गिरावट आई थी। मध्यकाल के प्रारंभ में भारत पर युनानियों और शकों का आक्रमण हुआ। इसके बाद हूण, गुर्जर, अहीरों आदि वंशों का आक्रमण भारत पर हुआ। इस समय तक जौहर–प्रथा, सती–प्रथा, शैशव–विवाह, विधवा–विवाह–निषेध आदि अनेक कुरीतियाँ समाज में प्रचलित हो चुकी थीं जो स्त्री–जीवन को बदत्तर बना रही थी।भारत पर मुगलों और तुर्कों के आक्रमण का सबसे बड़ा दुष्परिणाम नारी को झेलना पड़ा। इस समय तक नारी के स्वतंत्र अस्तित्व का कोई भी गुंजाईश नहीं रह चुकी थी। ‘ सुरक्षा ’ के नाम पर स्त्री को ‘ बन्दी ’ बनाकर घर में ही रखने की प्रवृत्ति इस समय तक अपनी चरमसीमा पर पहूँच चुकी थी। मध्यकालीन नारी जीवन से संबंधित कुछ पहलुओं पर संक्षेप में विचार करना उचित होगा।

विवाह

मध्यकाल के समय हिंदू तथा इस्लाम दोनों धर्मों में शैशव–विवाह प्रचलित था। राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों ने हिंदू अभिभावकों को बेटियों की शादी बचपन से ही कराने को प्रेरित किया। हिंदुओं में ऐसा एक विश्वास पनप रहा था कि छह या आठ वर्ष से अधिक उम्र वाली लड़की पिता–गृह में रहना आशुभ है। वैदिक युग में लड़की की शादी उनकी वय:संधी होने के पूर्व संपन्न नहीं होती थी। लेकिन

---

[1] रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ–52

मध्यकाल में ये सारी व्यवस्थायें लंघित हो गईं। शैशव–विवाह के साथ, बूढ़ों का बालिकाओं के साथ विवाह भी इस समय साधारण बात हो गई थी।

अन्तर्जातीय विवाह हिन्दुओं के बीच लगभग समाप्त हो चुकी थी। इस समय तक दहेज–प्रथा अपना हीनतम रूप धारण कर चुकी थी। इस मामले में हिन्दु और इस्लाम दोनों धर्म समान थे। स्वयं मुगल बादशाहों के बीच भी दहेज लेने की प्रवृत्ति पनप रही थी। सम्राट अकबर इसका विरोध अवश्य करते थे लेकिन इसे रोकने का प्रयास उनकी ओर से नहीं हुआ। राजपूतों के बीच भी दहेज–प्रथा उसकी सारी जटिलताओं सहित मौजूद थी। दहेज में अन्य संपत्तियों के साथ हज़ारों की तादाद्म्य में दासियों को भी देने की प्रवृत्ति भी इस समय विद्यमान थी। यह नारी को केवल ‘ दान की वस्तु ’ के रूप में देखने का स्पष्ट प्रमाण है। बहु–विवाह का प्रचलन भी इस समय था। प्रत्येक इस्लाम तथा हिन्दु रईसों के यहाँ तीन से लेकर चार पत्नियाँ तक उपस्थित थीं। दासियों और नृत्य–गायन करने वाली अन्य अनेक स्त्रियाँ भी इनके यहाँ थीं, जिन पर रईसों का पूर्ण अधिकार था। इन सारी भूमिकाओं में वह केवल ‘ भोग विलास की वस्तु ’ मात्र थी।

सती–प्रथा और विधवा जीवन

‘ अथर्ववेद ’ में सती प्रथा का उल्लेख तो अवश्य हुआ है, किन्तु‘ ऋग्वेद ’ में इसका कोई उल्लेख या समर्थन नहीं है। ‘ अथर्ववेद ’ में सती–प्रथा का, उल्लेख मात्र है। अतः यह निश्चित है कि वैदिक युग में सती–प्रथा का प्रचलन नहीं था। इतना ही नहीं, यह इस बात का प्रमाण है कि वेदों में विधवा–पुनर्विवाह पर चर्चा भी हुई है। ’[1] मध्यकाल के हिन्दु समाज में सती–प्रथा उसके भीषण रूप के साथ उपस्थित थी। वास्तव में सती होना पूर्णतया स्त्री की इच्छा पर निर्भर है। किन्तु बलपूर्वक स्त्री को

[1] THE VEDIC AGE’, R.C. Majumdar, Page- -458

चिता में डालकर सती बनाने की कोशिश भी इस समय ज़ारी थी। जो स्त्री सती हो जाने के लिए तैयार नहीं होती थी, उनके साथ अनेक अवांछनीय सुलूक होते थे। अपने ही परिवार में वह घृणा का पात्र थी। दर असल उसकी हालत दासियों से भी बदत्तर थीं। इस समय बाल–विधवाओं को काशी लाकर छोड़ने की प्रवृत्ति भी हिन्दु समाज में चल रही थी। दक्षिण भारत में विधवाओं के बाल काटकर, सिर मुंडन करके उनको कुरूप बनाने की प्रवृत्ति भी ज़ोरों पर थी। मध्यकाल के प्रारंभ से ही हिन्दु समाज से विधवा–विवाह अप्रत्यक्ष हो चुकी थी। किन्तु इस्लाम समाज में विधवा–विवाह की व्यवस्था थी।

पर्दा–प्रथा

मध्यकालीन समाज की मुख्यधारा से नारी के बहिष्कृत होने का एक अन्य कारण था पर्दा–प्रथा। इस्लाम धर्म की स्त्रियों को बेपर्दा किसी भी सार्वजनिक जगहों में जाने की इज़ाज़त नहीं दी जाती थी। ' अकबर जैसे उदार राजा भी इस संबंध में इतना कठोर था कि उन्होंने आदेश दिया था ' अगर एक जवान लड़की शहर के किसी मुहल्ले या बाज़ार में बेपर्दा नज़र आई तो उसे वेश्याओं के वासस्थान में जाकर वेश्यावृत्ति स्वीकार करनी चाहिए। '[1] यद्यपि पर्दा–प्रथा शुरुआत में मात्र इस्लाम धर्म की स्त्रियों तक ही सीमित रही किन्तु कालक्रम में हिन्दुओं के बीच भी ' सुरक्षा ' के नाम पर पर्दा–प्रथा प्रचलित हो गई। धीरे–धीरे समाज से नारी का तिरस्कार दोनों समाजों में गौरव के प्रतीक के रूप में स्वीकृत हो गया। किन्तु निम्न वर्ग की स्त्रियों के लिए पर्दा

---

[1] `` Even a liberal king like Akbar had to issue strict orders that if a young woman was found running about the streets and bazars of the town and while so doing did not veil herself or allow herself to be unveiled she was to go to the qarters of the prostitutes and take up the profession''.
Medieval india, Editor-p.n. Chopra, Page no-42

डालना अनिवार्य नहीं था। वे खेती, कारीगरी जैसे क्षेत्रों में अपने पति की मदद भी करतीं थीं।

शिशु–हत्या

मध्यकाल के प्रारंभ में लड़की को जन्म देनेवाली माताओं की निन्दा होती थी। इस कारण पत्नी के स्थान से उसका तलाक भी साधारण बात थी। किन्तु बाद में लड़की–शिशुओं की हत्या करने की कुप्रथा समाज में बुरी तरह फैल गई। कभी वंश की ‘ पवित्रता ’ तथा कभी ‘ दहेज की ख्याल ’ के नाम पर जन्म के तुरंत बाद ही लड़कियों की हत्या की जाती थीं। यह कुप्रथा समाज के उच्चवर्गों के बीच ही अधिक प्रचलित थी। बनारस, कच और कत्तियवार, इलाहाबाद, पंजाब और मणिपूर के कुछ इलाके, जलंधर आदि स्थानों के कुछ नस्लों में यह प्रथा प्रचलित थी।

देवदासी–प्रथा

मध्यकाल में नारी शोषण से जुड़ी एक अन्य प्रथा थी देवदासी–प्रथा। मध्यकाल में सभ्यता के पतन के कारण देव–नर्तकियाँ देवदासियों में परिवर्तित हो गईं। कालक्रम में ‘ देवदासी ’ शब्द ‘ वेश्या ’ का पर्यायवाची शब्द बन गया। धर्म और ईश्वर के नाम पर इस कुल की लड़कियों को बचपन से ही वेश्या बनायी जाती थी।।

अधिकांश मुगल शासक अपनी विलास लोलुपता के लिए कुप्रसिद्ध हैं। उनके दरबारों में नृत्य–गायन करनेवाली अनेक स्त्रियाँ थीं जिनके कारण स्वच्छंद कामवासनाओं को बढ़ावा मिला। मुगल शासन के पतन के बाद इन दरबारी नर्तकियों को अपनी सुरक्षा हेतु धनी नवाबों का शरण लेना पड़ा। कहना न होगा कि वहाँ भी उनका जीवन केवल भोगविलास की वस्तु के रूप में ही था।

उत्तर भारत की तुलना में दक्षिण भारत में नारी की स्थिति कुछ हद तक बहत्तर थी। नारी–शिक्षा की व्यवस्था पूर्णतया विलुप्त नहीं हुआ था। किन्तु वहाँ भी नारी के जीवन को कष्टतर बनानेवली अनेक कुरीतियाँ प्रचलित थीं।

संक्षेप में, भारत के इतिहास का मध्यकाल नारी के लिए शोभाजनक समय नहीं था। प्रस्तुत समय में समाज और धर्म द्वारा नारी के ऊपर इतने सारे प्रतिबंध लगाए गए कि नारी के व्यक्तित्व का विकास और उसकी स्वतंत्रता के लिए कोई गुंजाईश नहीं रही। किन्तु इन तमाम तिरस्कारों और प्रतिबंधों के बावजूद कुछ ऐसी स्त्रियों का अभाव नहीं रहा जिन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी क्षमता और चेतना का परिचय दिया था। ‘ हुमयूँ नामा ’ की लेखिका गुलबदन बेगम, जहाँनरा, हिन्दी की विख्यात कवयित्री मीरा बाई, देवल राणी, रूपमति, सलिमा सुलताना, नूरजहाँ, औरंगज़ेब की बेटी ज़ेब–उन–नीज़ा जैसी नारियों के नाम उल्लेखनीय हैं जिनकी गणना मध्यकाल की लेखिकाओं में होती हैं।

कुछ नारियाँ ऐसी भी थीं जिन्होंने शासन के क्षेत्र में अपनी क्षमता का परिचय दिया था। रज़िया सुलताना, अहमद नगर की चन्दबीबी, महाराष्ट्र की तारा बाई, कित्तूर की राणी चेन्नम्मा, अहल्या बाई होलकर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्नीस्वीं शति के पूर्वार्द्ध में जीवित राणी लक्ष्मी बाई का नाम इस वक्त विशेष स्मरणीय है।

नारी जागरण और स्वतंत्रता संग्राम

भारत के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध नारी जागरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उन्नीस्वीं शति विश्वभर में नारी चेतना के उदय के लिए प्रसिद्ध है। इसका असर भारत में भी पड़ा। ‘ उन्नीसवीं सदी को स्त्रियों की शताब्दी कहना बेहतर होगा क्योंकि इस सदी में सारी दुनिया में उनकी अच्छाई–बुराई, प्रकृति, क्षमताएँ एवं उर्वरा गर्मागर्म बहस का विषय थे। यूरोप में फ्रांसीसी क्रांति

के दौरान और उसके बाद भी स्त्री जागरूकता का विस्तार होना शुरू हुआ और शताब्दी के अंत तक इंग्लैंड, फ्रांस, तथा जर्मनी के बुद्धिजीवियों ने नारीवादी विचारों को अभिव्यक्ति दी। उन्नीस्वीं सदी के मध्य तक रूसी सुधारकों के लिए ' महिला प्रश्न ' एक केन्द्रीय मुद्दा बन गया था जबकि भारत में–खासतौर से बंगाल और महाराष्ट्र में समाज सुधारकों ने स्त्रियों में फैली बुराईयों पर आवाज़ उठाना शुरू किया। '[1] वस्तुत: भारत के नवजागरण और राजनीतिक चेतना अभिन्न रूप से जुड़ी है। भारत में नवजागरण का अभियान सर्वप्रथम महाराष्ट्र और बंगाल में प्रारंभ हुआ। शिक्षा प्रणाली के विकास ने शिक्षित नवयुवकों को जात–पाँत, पर्दा, बाल–विवाह, सती जैसी कुरीतियों के विरुद्ध आवाज़ उठाने की प्रेरणा दी। नवजागारण में कुछ व्यक्तियों और संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। राजाराम मोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, राष्ट्रपिता गाँधीजी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

राजा राम मोहन राय भारतीय नवजागरण के जनक थे। वे प्रथम भारतीय थे जिन्होंने सती प्रथा के विरुद्ध आंदोलन चलाया था। उन्होंने 1815 में ' आत्मीय सभा ' की स्थापना की। स्त्री –शिक्षा का प्रसार इस सभा के मुख्य उद्देशों में से एक था। श्री राधा कुमार लिखते हैं, " जैसा कि हमें मालूम है, स्त्रियों को शिक्षित करने के महत्व पर सबसे पहली सार्वजनिक बहस राम मोहन राय द्वारा 1815 में स्थापित आत्मीय सभा द्वारा बंगाल में छेड़ी गई। उसी वर्ष उन्होंने एक भारतीय भाषा (बंगाली) में सती पर हमला बोलते हुए पहला लेख लिखा। "[2]

भारत में सती प्रथा समाप्त करने का श्रेय पूर्णत: राम मोहन राय को ही जाता है। उहोंने अपने लेखों में इस बात को स्थापित करने का प्रयास किया कि किसी

---

[1] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, (अनुवादक–रमा शंकर सिंह ' दिव्यदृष्टि ') पृ–23

[2] वही, पृ–26

भी प्राचीन हिंदू पौराणिक ग्रंथों में यह नहीं कहा गया है कि विधवा को सती अवश्य होना चाहिए।

हिन्दू विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार दिलानेवाला महान हस्ती था ईश्वरचंद्र विद्यासागर। बालविवाह, बहुविवाह, जैसी सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ उन्होंने सख्त विद्रोह प्रकट किया। स्त्री–शिक्षा के प्रचार में उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। इनके अलावा ज्योतिबा फूले, दयानंद सरस्वती आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। आलोच्य समय के महिला सुधारकों में पंडिता रमाबाई, स्वर्णकुमारी देवी, उसकी पुत्री सरला देवी घोषाल आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

रमाबाई पर्दा प्रथा, बालविवाह, सती प्रथा जैसी कुरीतियों के विरुद्ध किए गए भाषणों के लिए प्रसिद्ध है। उन्होंने स्त्रियों के सुधार हेतु ‘ आर्य महिला समाज ’ की स्थापना की। विधवाओं के सुधार के लिए उन्होंने ‘ शारदा सदन ’ नामक एक गृह खुला जिसने 1900 के भीषण अकाल के समय हज़ारों औरतों को शरण दिया था।

स्वर्णकुमारी देवी रवीन्द्रनाथ टैगोर की पुत्री थी। भारत के प्रारंभिक महिला उपन्यास लेखिकाओं में इनका प्रमुख स्थान है। इसने महिला सुधार के उद्देश्य में ‘ महिला ब्रह्मवाद समिति ’(Theosophicall society) ‘ साखी समिति जैसी संस्थाओं की स्थापना की। स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए उन्होंने महत्वपूर्ण कदम उठाया था।

सरला देवी घोषाल स्वर्णकुमारी की पुत्री थी। इन्होंने लाहौर में ‘ भारत स्त्री महामंडल ’ की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश स्त्री–शिक्षा का प्रसार था। विवेकानंद की शिक्ष्या भगिनी निवेदिता ने स्त्रियों को सूत कातने की सलाह दी। इनके आह्वान से प्रभावित होकर पर्दे में रहनेवाली अनेक स्त्रियाँ चर्खे खरीदकर उन्हें चलाना शुरू कर दिया।

एनी बेसेंट सहिष्णुता पर आधारित स्त्री–पुरुष समानता में विश्वास करती थी। वह काँग्रेस की प्रथम महिला अध्यक्ष थी। उन्होंने स्त्रियों के मताधिकार के लिए आवाज़ उठाई। उन्होंने श्रीमती मार्गरेट कूंजिस के साथ मिलकर 1917 में भारत के प्रथम महिला संघ, ‘ अखिल भारतीय महिला संघ ’ । (Women's Indian Association) की स्थापना की।

‘ भारत कोकिला ’ उपाधी से विभूषित सरोजिनी नायडू स्वतंत्रता संग्रम में भाग लेने के साथ–साथ महिला पुनरुत्थान अभियानों में भी सक्रिय थी। 1918 में काँग्रेस के बंबई अधिवेशन में इनके अथक प्रयास के कारण स्त्रियों को वोट देने के अधिकार संबंधी प्रस्ताव पारित हो गया। स्वतंत्रता संग्राम से जुड़ी नमक सत्याग्रह और असहयोग आंदोलनों में इनकी प्रेरणा से हज़ारों की तदाद में औरतों ने भाग लिया था। 1925 में वह काँग्रेस का प्रथम भारतीय महिला अध्यक्ष चुनी गई।

स्वतंत्रता संग्राम तथा महिला पुनरुत्थान में सक्रिय योगदान देनेवाली अन्य महिलाओं में कमला देवी चट्टोपाध्याय, दुर्गाबाई देशमुख, वसंती देवी, अरुणा असफ अली, गाँधीजी की पत्नी कस्तूर्बा, कमला नेहरू, विजयलक्ष्मी पण्डित, सुचेता कृपलानी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा नमक सत्याग्रह, असहयोग आंदोलन, भारत छोड़ो आंदोलन, विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार आदि आंदोलनों में भी लाखों की तदाद में स्त्रियों की भागीदारी हुई थीं।

भारत के स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा था। उनकी लड़ाई पुरुषों के विरुद्ध अपनी अस्मिता के लिए नहीं थी, उनकी लड़ाई देश की आज़ादी के लिए थी। इसलिए प्रस्तुत समय की स्त्री–चेतना विशेष महत्वपूर्ण है। क्योंकि इस चेतना में सामजिकता और राष्ट्रीयता की भावना निहित थी।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में नारी

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारतीय नारी–जीवन विकास की ओर ही अग्रसर हो रहा है। आज ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा है जिसमें महिलाओं की सक्रिय भागीदारी न हो। भारत के संविधान में नारी–पुरुष भेदभाव समाप्त करने के उद्देश्य से अनेक व्यवस्थाएँ लाई गईं। नारी शोषण से जुड़ी विभिन्न समस्याओं को कनून द्वारा रोकने का परिश्रम भी हुआ। कई क्षेत्रों में स्त्रियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था भी की गई। स्त्री–शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। जिससे कामकाजी स्त्रियों की संख्या में वृद्धि हुई। इससे नारी आत्मनिर्भर होने लगी। किन्तु तिरस्कार और भेदभावना आज भी कई क्षेत्रों में विद्यमान है। नारी शोषण की नई–नई स्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं। नारी के संवैधानिक अधिकारों को व्यवहार के पक्ष तक पहूँचने का काम अब भी बाकी है। भारत में स्वातंत्र्योत्तर समय के नारी चिंतन पर पाश्चात्य नारीवाद का भी प्रभाव है। हिन्दी के नारीवादी उपन्यास लेखिकाओं में भी प्रस्तुत प्रभाव दृष्टव्य है। इसको समझने के लिए पाश्चात्य नारीवाद के स्वरूप और इतिहास का सामान्य परिचय आवश्यक है।

नारीवाद पाश्चात्य देशों में

नारी के अधिकारों के प्रति नवीन चेतना सर्वप्रथम पश्चिम में दिखाई देती है। आज जो स्वतंत्रता और अधिकार पश्चिमी नारी के पक्ष में है, उनके लिए उसे लंबा संघर्ष करना पड़ा था। वस्तुतः पश्चिमी देशों के नारीवाद का इतिहास इन संघर्षों का इतिहास है। विश्व के अन्य देशों की तुलना में पाश्चात्य देशों में भी नारी की स्थिति कुछ भिन्न नहीं थी। वह स्वतंत्रता और समानता की स्थिति से पूर्णतः वंचित थी। वह वंशानुक्रम चलाने की वस्तु मात्र थी। किसी सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का अधिकार उसको नहीं दिया गया था। उसकी शिक्षा के लिए उचित व्यवस्था का अभाव था। मतदान का अधिकार उनके पास नहीं था। उन्नीसवीं शती तक आते–आते स्त्रियाँ

इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करने लगी। विरोध का स्वर तो पहले से भी मौजूद था। किन्तु इसका कोई व्यवस्थित रूप नहीं था।

पितृसत्तात्मक समाज के विरुद्ध विद्रोह का पहला स्वर 17 वीं शती में सुनाई पड़ा। ताज्जुब की बात है, विद्रोह का पहला स्वर एक ईसाई संन्यासिनी (Nun) ने उठाया था। सिस्टर जुआना का जन्म 1651 में मेक्सिको में हुआ था। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से स्त्रियों के अधिकार के लिए आवाज़ उठाई। उनका विचार था कि एक व्यक्ति के रूप में, पुरुष के समान मानवोचित जीवन जीने का अधिकार स्त्री को भी है। साथ ही उन्होंने पुरुष की कपट नैतिकता पर भी आक्रमण किया। उनके इन आचरणों से क्रूद्ध होकर कैथलिक चर्च (CATHOLIC CHURCH) के स्थानीय बिशप ने पत्र द्वारा उनसे लेखिका के काम से निवृत्त होने का आदेश दिया। जवाब में सिस्टर जुआना ने स्त्रियों की शिक्षा के अधिकार के संबंध में अपने तर्कों को प्रस्तुत किया। किन्तु 17 वीं शती में रोमन कैथलिक धर्म से लोहा लेना आसान काम नहीं था। जल्दी ही उसे छुप होना पड़ा। किन्तु उनका नाम इसलिए महत्वपूर्ण रहेगा क्योंकि व्यवस्थित पितृसत्तात्मक समाज के खिलाफ बुलंद हुई पहली आवाज़ उनकी थी।

फ़ेमिनिज़म के बुनियादी सिद्धांतों की स्थापना करने में मेरी वुलस्टण क्राफ़्ट(1759-1797) का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। इंग्लैंड़ में वह ' फेमिनिज़म की जनयित्री ' की उपाधि से विख्यात है। उनकी पुस्तक " ए विन्डिकेशन ऑफ द रैट्स ऑफ वुमण "(A Vindication Of The Rights of Woman) फेमिनिज़म के आधार ग्रंथों में से एक है। उनका विचार था कि दर असल व्यक्ति के रूप में स्त्री–पुरुष में कोई अंतर नहीं है। अतः दोनों को समान अधिकार भी देना चाहिए। नारी की बदहालत का मुख्य कारण शिक्षा का अभाव है। इसलिए उन्होंने स्त्री–शिक्षा के लिए आवाज़ उठाई। इनके अलावा पुरुष की कपट नैतिकता पर भी उन्होंने आक्रमण किया।

इंग्लैंड़ की औरतों को मतदान का अधिकार, शिक्षा और नौकरी के क्षेत्र में समान अधिकार आदि के लिए संघर्ष करना पड़ा। इन संघर्षों के नेतृत्व में थी– बारबरा ले स्मिथ, बेस्सी रैनर पार्क्स, एमिली डेविड, एलिज़बथ गास्केल, एलिज़बथ बारट ब्रौनिंग आदि। स्त्रियों के मतदान अधिकार (Suffrage) के लिए आवाज़ उठानेवाला प्रथम संगठन था 1850 में स्थापित ' लंघं प्लेज़ सर्कल '। स्त्रियों की इस माँग को कतिपय पुरुषों की ओर से भी समर्थन मिला था। इनमें प्रमुख था जाँण स्टुअर्ट मिल। उसका विचार था कि नौकरी, शिक्षा, संपत्ति जैसे सभी क्षेत्रों में स्त्री भी पुरुष के समान अधिकारों का हकदार है। 1869 में प्रकाशित उनकी किताब ' द सबजक्शन आँफ वुमण '(The Subjection of Women) को नारीवाद के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है।

इंग्लैंड की नारिवादियों में जोसफैन बटलर(1828-1906) का नाम भी महत्वपूर्ण है। उन्होंने सोशियल प्यूरिटि फ़ेमिनिज़म नामक नयी शाखा को जन्म दिया। नारियों को मतदान का अधिकार दिलाने में पाँकहस्टेर्स परिवार का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा था। एमेलिन तथा उनकी बेटियाँ सिलविया और क्रिस्टबेल ने नारियों के मतदान अधिकार के लिए आंदोलन चलाया। इस आंदोलन से जुड़ी हुई अन्य महिलायें थीं इवागोर बूथ, आनी केन्नी, फ्लोरा ड्रम्मंड़ आदि। कभी–कभी इस संघर्ष ने आक्रामक रूप भी धारण किया था। अंत में सन् 1918 में तीस या तीस वर्ष से ज़्यादा उम्रवाली नारियों को मतदान का अधिकार मिल गया। सन् 1928 में आयु–सीमा तीस वर्ष से अठारह वर्ष घटाई गई। इसप्रकार इंग्लैंड़ की नारियों को अपने अधिकारों के लिए काफी अरस्से तक संघर्ष करना पड़ा। मतदान अधिकार प्राप्त करने के बाद भी राजनीति, परिवार, समाज, सेक्स आदि के क्षेत्र में जो असमानतायें थीं उनके विरुद्ध नारिवादियों का संघर्ष ज़ारी रहा। वर्तमान संदर्भ में भी इंग्लैंड के नारीवादी अभियान नारी जीवन से जुड़े विभिन्न मुद्दों को लेकर संघर्षरत हैं।

सन् 1789 में फ्रेंच क्रांति के शुरुआती दौर में ही फ्राँस में विभिन्न तरह के नारी आंदोलन सक्रिय थे। 1789 में ही नारियों ने राष्ट्रीय विधान सभा को संबोधित कर अपनी मांगों के संबंध में एक अर्जी समर्पित की थी। पर उस पर ध्यान ही नहीं दिया गया। फ्राँस के इतिहास में सबसे अधिक विसंगति की बात यह थी कि, स्वतंत्रता, समानता, भाईचारा, आदि नारों से प्रभावित फ्रेंच क्रांति के प्रसंग में भी ‘ समानता ’ की बात मात्र पुरुष वर्ग के अंतर्गत सीमित थी। रूसो जैसे महान चिन्तकों की नज़र में भी स्त्री पुरुष के समान अधिकार मिलने का हकदार नहीं था। शिक्षा पर अधारित अपनी पुस्तक “ एमिली ”(Emile) में स्त्री शिक्षा संबंधी अपने विचारों को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है कि स्त्री को मात्र अच्छी पत्नी और माँ बने रहने की शिक्षा ही पर्याप्त है।

फ्राँस के नारीवादी इतिहास में ओलिंपे दि गौज का नाम खास महत्व रखता है। 1791 में जब फ्राँस का संविधान लागू किया गया तब उसमें स्त्रियों के लिए कोई अधिकार नहीं था। मतदान जैसे सामान्य अधिकारों से भी वह वंचित थी। ओलिंपे ने सन 1791 में प्रकाशित अपनी पुस्तक “ डिक्लरेशन आँफ द रैट्स आँफ वुमण ”(Declaration of The Rights of Woman) में स्त्री को भी पुरुष के समान संपूर्ण अधिकार देने की मांग उठाई। उन्होंने तलाक, जायदाद, आदि मामलों में स्त्रियों के लिए विशेष अधिकारों की मांग की।

थिरोईन दि मेरिकोट भी स्त्री–जागरण हेतु किए गए भाषणों के लिए प्रसिद्ध है। किन्तु फ्राँस में नारीवाद की प्रारंभिक दशा में स्त्रियों के बीच एकता का अभाव था। इसलिए नारीवादी आंदोलन एक गति पकड़ने में असफल रही।

1848 में दूसरे गणतंत्र की घोषणा के समय भी फ्राँस में बहुत सारे नारी–आंदोलन सक्रिय थे। 1871 में ‘ पारिस कम्यूण ’ के समय कार्यरत आंदोलनकारियों में

प्रमुख थीं, लूसी मैकल, एलिज़बथ दिमित्रीफ, नथालिया लेमल, रिनी विवियान आदि। एलिज़बथ दिमित्रीफ ने 1871 में '' वुमण्स यूणियन फाँर द डिफनस आँफ पैरिस आँड इनजुएर्ड '' की स्थापना की। इस संगठन ने स्त्री–पुरुष समानता, तलाक संबंधी अधिकार, समान–वेतन, तथा नारी के लिए व्यावसायिक शिक्षा आदि की मांग की।

बीसवीं शती में भी बहुत सारे आंदोलन कार्यरत थे। किन्तु फ्राँस की नारियों को मतदान का अधिकार प्राप्त करने के लिए 1944 तक इंतज़ार करना पड़ा। अलजीरिया की मुस्लीम स्त्रियों को यह अधिकार तो सिर्फ 1958 में मिला।

अमरीका के नारीवादी आंदोलन तथा गुलामी–प्रथा उन्मूलन का इतिहास गहरी तरह से जुड़ा हुआ है। अमरीका के प्रारंभिक नारिवादियों में प्रमुख लुक्रीषिया मोट्ट(1793-1880), एलिज़बथ केड़ी स्टाँटण(1815-1902)आदि तो गुलामी–प्रथा–उन्मूलन कार्यों में भी सक्रिय थीं। बाद में वे नारियों के अधिकारों के लिए लड़ने लगीं।

अन्य देशों की भाँति अमरीका में भी नारियों को सबसे अधिक संघर्ष मतधिकार के लिए ही करना पड़ी। 1848 में एलिज़बथ केड़ी स्टाँटण ने सेनेका फाँल्स काँणवेन्शन (Seneca Falls Convention)में ' डिक्लरेशन आँफ सेन्टिमेन्ट्स ' (Declaration of Sentiments) प्रस्तुत किया। वस्तुतः यह अमरीका में नारियों के अधिकारों के लिए आयोजित की गई सर्वप्रथम काँणवेन्शन थी। इसमें ऐलान हुआ कि मताधिकार, जायदाद, शिक्षा, नौकरी, आदि क्षेत्रों में नारी भी बराबरी के हकदार है।

मताधिकारों के लिए लड़नेवाली नारियों में लूसी स्टाँण, सूसन बी आँटणी (1820-1906) आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। सूसन ने एलिज़बथ के साथ मिलकर नारियों के मताधिकार की स्थापना के लिए एन. डब्ल्यू.एस.ए (N.W.S.A)की स्थापना की। अमरीकी नारीवादी आंदोलन से जुड़ा हुआ एक अन्य आंदोलन था

शराब–वर्जन आंदोलन। शराबी पति नारी की मुख्य समस्या थी। इसलिए नारियों ने शराब–वर्जन की माँग उठाई।

1857 मार्च 8 के दिन न्यूयोर्क में कपड़ा मिलों की महिला कामगारों ने समान वेतन, काम के घण्टे घटाना, मताधिकार आदि की माँग उठाकर एक जुलूस निकाला। विश्वभर में नारियों के अधिकारों के लिए आयोजित किया गया सर्वप्रथम प्रयास था यह। यद्यपि यह प्रयास कुचल दिया गया तथापि इसी दिन की याद में मार्च 8 को अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के रूप में मनाया जाता है। 1920 में नारीवादियों के अथक प्रयासों के परिणामस्वरूप अमरीका में नारियों को मताधिकार मिला। अमरीकी नारीवादी इतिहास में विक्टोरिया वुड्हुल, एम्मा गोल्डमान, फ्लोरन्स केल्ली आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

विश्व महायुद्ध के उपरांत सम्पूर्ण विश्व में नारीवादी आंदोलनों की गति तीव्र हो गई। 1945 में पेरिस में ' विमेन्स इन्टरनेशनल डेमोक्राटिक फेडरेशन '(Women's International Federation) की स्थापना कर सभी देशों की स्त्रियों द्वारा आन्दोलन को विश्व स्तर पर संगठित रूप में चलाने का निश्चय किया गया। सन 1946 में संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N) ने नारी की स्थिति पर विचार करने के लिए एक आयोग की स्थापना की। 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ की यूनिवेर्सल डिक्लरेशन आँफ ह्युमण रैट्स (Universal Declaration of Human Rights)ने नारी के समान अधिकारों की व्यवस्था की। 1975 से लेकर नारियों से संबंधित विभिन्न मुद्दों को लेकर कई सारे विश्व–सम्मेलन(World Conferences) संपन्न हो चुके हैं। 1975-85 को ' नारी–दशक'(Decade for Women) और 1975 को ' नारी–वर्ष ' (women's Year) घोषित किया गया। नारी–शिक्षा का प्रसार इस समय की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। शिक्षा प्राप्त नारी अपनी हैसियत को पहचानकर अपने अधिकारों के प्रति सजग होने लगी और इसने नारीवाद को एक नई दिशा प्रदान की। आज नारीवाद का क्षेत्र काफ़ी

विस्तृत हो गया है। नारी के जीवन स्तर को ऊपर उठाने का तथा लिंग पर आधारित विभेद को समाप्त करने के कार्य में आज के नारीवादी सक्रिय हैं।

नारीवाद के प्रकार

नारीवाद के लिए कोई सर्वसम्मत परिभाषा देना कठिन है। क्योंकि प्रत्येक नारी का जीवन भिन्न–भिन्न प्रकार की जटिलताओं से युक्त हैं। प्रत्येक स्त्री के रहन–सहन और परिवेश में गहरा अंतर है। इस कारण नारीवाद के कई प्रकारों का आविर्भाव हुआ। यद्यपि सभी नारिवादियों का मकसद नारी–मुक्ति ही है तथापि उनके सैद्धांतिक विचारों एवं नारों में बुनियादी फरक है। नारीवाद के मुख्य प्रकारों तथा उनके विचारों पर आगे विचार करेंगे।

लिबरल फेमिनिज़म (Liberal Feminism)

विश्व के अधिकांश देशों में सबसे अधिक प्रचलित नारीवाद लिबरल फेमिनिज़म है। इसलिए यह ' मुख्यधारा फेमिनिज़म ' (Main Stream Feminism) के नाम से भी जाना जाता है। प्रस्तुत सिद्धांत के अनुसार स्त्री–पुरुष समानता की स्थिति राजनीतिक एवं संविधान के सुधार द्वारा अर्जित की जा सकती है। इसलिए लिबरल फेमिनिज़म के समर्थक कानून में स्त्रियों के सुधार हेतु नई व्यवस्थाओं की माँग करते हैं। समाज का आमूलपरिवर्तन उनका लक्ष्य नहीं है। इनका विश्वास है कि अगर स्त्रियों को भी पुरुष के समान अवसर दिया जाए तो ' समानता ' की स्थिति स्वयं हासिल करने की क्षमता स्त्रियों में आ जाएगी। प्रस्तुत सिद्धांत पुरुषों को शत्रु के बजाय सहयोगी के रूप में देखता है। कई पुरुषों द्वारा इस सिद्धांत का समर्थन भी हुआ है।

संविधान में सुधार करके समानता प्राप्त करना, गर्भपात का अधिकार, नारी के खिलाफ होनेवाले शारीरिक आक्रमणों की समाप्ति, जातिवाद खतम करना, समलैंगिक संबंधों का अधिकार, आर्थिक क्षेत्रों में सुधार, जैसे ' समान नौकरी के लिए समान

वेतन ', मतदान और शिक्षा का अधिकार आदि कुछ ऐसे विषय हैं, जिन पर लिबरल फ़ेमिनिस्टों का ध्यान मुख्यतः केन्द्रित है।

इस सिद्धांत के समर्थकों में, मेरी वुलस्टण क्राफ्ट, जॉण स्टुअर्ट मिल, बेट्ट्री फ्राइडन, ग्लोरिया स्टेनिम, रेबेका वाकर, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

राडिकल फेमिनिज़म (Radical Feminism)

राडिकल फेमिनिज़म का उदय 1960 में हुआ था। राडिकल नारीवाद उग्र नारीवाद के नाम से भी जाने जाते हैं। राडिकल नारीवाद के अनुसार स्त्रियों की असमानता और उत्पीडन का मूल कारण पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था है। समाज का संपूर्ण अधिकार पितृसत्तात्मक समाज पर केन्द्रित है। हमारी सामाजिक व्यवस्था इस कारण ही पुरुष–प्रधान बन गया है। विवाह, परिवार जैसी सामाजिक संस्थाएँ भी स्त्री को काबू में रखने का पुरुष–प्रधान समाज का दाँव–पेंच मात्र है। इसप्रकार राडिकल नारीवाद के समर्थक असमानता के कारणों की जड़ें खोजकर इसका विश्लेषण करते हैं और नारी–मुक्ति के लिए सामाजिक व्यवस्थाओं के आमूलपरिवर्तन की माँग उठाते हैं। वस्तुतः राडिकल नारीवाद उग्र परिवर्तनवाद ही है। चूँकि, आज की सामाजिक व्यवस्था पुरुष द्वारा निर्मित है, उसका निराकरण राडिकल नारिवादियों का मुख्य कार्यक्रम है। नारी–मुक्ति या नारी के व्यक्तित्व के विकास के बाधक तत्वों का, चाहे वह परिवार, विवाह, राजनीति, धर्म जैसी संस्थाएँ भी क्यों न हो, राडिकल नारीवादी तिरस्कार करते हैं। सेक्स के क्षेत्र में पुरुष वर्चस्व का विरोध करके वे स्त्री–समलैंगिकता का समर्थन करते हैं।

मार्क्सिस्ट फ़ेमिनिज़म (Marxist feminism)

मार्क्सवाद का मूल लक्ष्य स्वतंत्रता और समानता की स्थापना तथा शोषण रहित समाज का निर्माण है। अतः स्त्री की स्वतंत्रता, समानता, और शोषण का विषय मार्क्सवाद की कार्यसूची में स्वाभाविक रूप से ही आ जाता है।

मार्क्सिस्ट फ़ेमिनिज़म के अनुसार पूँजीवाद के उन्मूलन से ही नारी–मुक्ति संभव है। क्योंकि पूँजीवाद ही आर्थिक असमानता का मुख्य कारण है। आर्थिक असमानता रूढिग्रस्त समाज का निर्माण करता है जिसका असर स्त्री–पुरुष संबंधों पर भी पड़ता है। इसप्रकार मार्क्सिस्ट फ़ेमिनिज़म लिंग(Gender) पर आधारित भेदभाव का कारण वर्ग(class) पर आधारित शोषण में ढूँढता है। इस सिद्धांत के अनुसार जब वर्ग पर आधारित शोषण का अंत होगा तब लिंग पर आधारित शोषण का भी अंत होगा।

मार्क्सिस्ट फ़ेमिनिज़म में पहले मात्र उत्पादन क्षेत्र से जुडी महिलाओं की समस्याओं का ही विश्लेषण होता था। किन्तु बाद में गार्हिक क्षेत्र में काम करनेवाली औरतों की समस्याओं का विश्लेषण भी इसके अंतर्गत होने लगा। किन्तु लिंग पर आधारित भेदभाव और शोषण जैसे विषयों की ओर मार्क्सिस्ट फ़ेमिनिज़म का ध्यान कम ही गया है, जो इस सिद्धांत का दुर्बल पक्ष है। यह इस सिद्धांत स्त्री को केवल एक वर्ग(Class) के रूप में देखता है।

सोश्यलिस्ट फ़ेमिनिज़म (Socialist Feminism)

सोश्यलिस्ट फ़ेमिनिज़म का सैद्धांतिक पक्ष अन्य सिद्धांतों की तुलना में व्यापक एवं सुदृढ है। मार्क्सवादी एवं राडिकल फ़ेमिनिज़म के कुछ सिद्धांतों को सोश्यलिस्ट फ़ेमिनिज़म के अंतर्गत शामिल किया गया है। मार्क्सवाद के इस सिद्धांत से कि पूँजीवाद के उन्मूलन से स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार संभव है, सोश्यलिस्ट फ़ेमिनिश्ट अंशतः सहमत है। किन्तु मात्र पूँजीवाद के उन्मूलन से स्त्री–

मुक्ति संभव नहीं है, इस तत्व से भी वे वाकिफ हैं। दूसरे शब्दों में सोश्यलिस्ट फ़ेमिनिज़म स्त्री को केवल वर्ग (Class) के रूप में देखने को तैयार नहीं है। क्योंकि प्रत्येक स्त्री की व्यक्तिगत समस्या एक दूसरे से भिन्न हो सकती है। अतः स्त्री के व्यक्तिगत जीवन की ओर भी सोश्यलिश्ट फ़ेमिनिस्टों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। राडिकल फेमिनिज़म के इस सिद्धांत से भी सोश्यलिस्ट फ़ेमिनिज़म के समर्थक अवगत है कि स्त्री–शोषण का कारण पितृसत्तात्मक समाज और उनके द्वारा निर्मित सामाजिक व्यवस्थायें हैं।

इसप्रकार स्त्री–मुक्ति के विषय को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने और विश्लेषित करने का श्रम सोश्यलिश्ट फ़ेमिनिस्टों की ओर से हुआ है। नौकरी के क्षेत्र में उपस्थित भेदभाव, लिंग पर आधारित भेदभाव, लैंगिक शोषण, स्त्री शरीर की राजनीति आदि विषयों की ओर सोश्यलिस्ट फ़ेमिनिस्टों का ध्यान गया है।

वुमणिसम (Womanism)

फेमिनिज़म और उसके सिद्धांतों से असहमत होकर काले रंग की औरतों ने वुमणिसम (Womanism) अथवा ब्लाक फेमिनिज़म (Black Feminism) नामक आंदोलन चलाया। गोरे रंग की औरतों के नेतृत्व से वे नाखुश थे। उनका आरोप था कि गोरे रंग की औरतों की तुलना में काले रंग की औरतें ज़्यादा उत्पीड़ित हैं। क्योंकि वे वर्गवाद (Classism) और जातिवाद (Racism) के अधार पर भी भेदभाव की शिकार थी। चूँकि जातिवाद और वर्गवाद की समस्याओं का सामना काले रंग के पुरुष को भी करना पड़ा था, किन्तु वुमणिश्टों (Womanist) का दावा है कि काले रंग के पुरुषों की तुलना में काले रंग की स्त्रियाँ अधिक उत्पीडित और शोषित हैं। शाक्युलिन ग्राँट, विख्यात लेखिका आलीस वाकर, आंजला डेविस आदि इस आंदोलन से जुड़ी हुई हस्तियाँ हैं।

आज नारीवाद अथवा फेमिनिज़म को किन्हीं सिद्धांतों के सीमित दायरे में रखना संभव नहीं है। क्योंकि आज नारीवाद के कई आयाम विकसित हो चुके हैं। प्रारंभिक दशा में नारीवाद का लक्ष्य एक व्यक्ति के रूप में नारी को समाज की स्वीकृति दिलाना था। अत: उसने नारी के अस्तित्व की स्थापना पर अधिक बल दिया। आज नारीवाद का विषय–क्षेत्र भी काफी व्यापक हो गया है। समाज के प्रत्येक क्षेत्र में नारी की भूमिका उसका विषय है। दूसरे शब्दों में प्रारंभिक दशा में जहाँ नारी को अपने अस्तित्व की स्थापना के लिए संघर्ष करनी पड़ी, आज वह प्रत्येक क्षेत्र में अपनी जगह की तलाश में है। इतिहास, साहित्य, परिस्थिति, राजनीति, सेक्स, आदि सभी क्षेत्रों में नारी की भूमिका की स्थापना के लिए आज के नारीवादी संघर्षरत हैं।

नारी विमर्श

स्त्री पुरुष के अधीनस्थ है। इस अधीनस्थता का कारण पितृसत्तात्मक समाज द्वारा निर्मित व्यवस्था है। स्त्री को इस अधीनस्थता से मुक्त होने के लिए इस व्यवस्था को तोडनी चाहिए जैसे विचारों ने नारीवाद को जन्म दिया। नारीवाद और उसके सिद्धांतों को प्रश्रय देने के लिए लिखा गया साहित्य नारीवादी लेखन अथवा नारी विमर्श के नाम से जाने जाते हैं।

नारी विमर्श एक संगठित आंदोलन का रूप 1950 के आसपास ही धारण करता है। 1960 तक आते–आते समूचे विश्व साहित्य में इसका प्रभाव छा गया। स्त्री–विमर्श ने सदियों से चली आ रही साहित्यिक मान्यताओं को चुनौती दी। पितृसत्तात्मक समाज द्वारा निर्धारित नैतिक मापदण्डों को उसने तोड़ डाला। काफी अरसे से अनुसरण करने वाली नारियों ने अपनी चुप्पी को तोड़कर बिलकुल अपने निजी अनुभवों को वाणी देना शुरू कर दिया। वास्तव में स्त्री–विमर्श स्त्री के स्वत्वबोध की पहचान का उपज है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खिलाफ सख्त विद्रोह इसकी अनिवार्य शर्त है। श्री

राकेश कुमार लिखते हैं, " पितृक सत्ता ने ही दुनिया की आधी आबादी को अपना उपनिवेश बनाया है तथा उन्हें आत्महीन, स्वत्वहीन, वाणीहीन भी किया है। स्त्री विमर्श ने सदियोंसे चली आ रही स्वत्वहीनता, खामोशी को तोड़ा है तथा अपनी चुप्पी को गहरे मानवीय अर्थ दिये हैं। हाशियों की दुनिया को तोड़ा है। यही स्त्री विमर्श की भूमिका है। "[1]

नारी विमर्श अथवा नारी लेखन एक सामाजिक प्राणी की हैसियत से स्त्री के मानवीय अधिकारों की माँग करनेवाला साहित्य है। वह नारी को अपने स्वत्वबोध को पहचानने के लिए प्रेरणा देनेवाला साहित्य है। विश्व भर में नारीवादी आंदोलन की गति को तीव्र बनाने में, उसको सही दिशानिर्देश करने में कतिपय रचनाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

नारीवाद के प्रेरक साहित्य

1928 में प्रकाशित वर्जीनिया वुल्फ (Virginia Woolf) की रचना ' अपना कमरा ' (A room Of One's Own) फेमिनिस्ट ईंजिल (Feminist Bible) के नाम से विख्यात है।[2] वर्जीनिया वुल्फ ने व्यक्ति स्वातंत्र्य को अधिक महत्व दिया। ' औरत और कथा साहित्य ' पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा कि नारी की मुक्ति की कुंजी उस कमरे में ही मिलेगी जिसे वह अपना कह सके। उन्होंने यह भी कहा कि " अगर औरत को कथा–कहानी लिखनी है तो उसके पास पैसा होना चाहिए और अपना कमरा होना चाहिए ; "[3]

---

[1] राकेश कुमार, नारीवादी विमर्श – पृ–9

[2] डॉ ० जाँसी जेम्स –फेमिनिज़म, पृ–4

[3] वर्जीनिया वुल्फ, अपना कमरा, अनुवादक–गोपाल प्रधान, पृ–16

सिमोन द बुआर (Simone De Beauvoir) की रचना ' द सेकण्ड सेक्स '(The Second Sex) नारीवादी लेखन के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। सिमोन द बुआर का मत है कि हमारे मानव मूल्य मानव मूल्य न होकर पितृसत्तात्मक मूल्य ही हैं क्योंकि उनका चरित्र स्त्री विरोधी है। इन मूल्यों में स्त्रियों के हितों के लिए कोई स्थान नहीं है। इसलिए उन्होंने सामाजिक व्यवस्था में आमूलपरिवर्तन की माँग की।

सन् 1963 में प्रकाशित बेट्टी फ्राइडन की रचना ' द फ़ेमिनिन मिस्टिक '(The Feminine Mystique) ने इस धारणा के विरुद्ध सख्त विद्रोह प्रकट किया कि नारी की सफलता का आधार बच्चों के पालन पोषण और गृहस्थी तक ही सीमित है। बेट्टी फ्राइडन अमरीकी मध्यवर्गीय महिलाओं से पूछी गई प्रश्नावली और उसके उत्तर प्रस्तुत करके अमरीकी नारियों की ' नाम रहित समस्या ' को समाज के सामने प्रस्तुत किया। उन्हें पूरा विश्वास था कि नारी का अस्तित्व मात्र पति और बच्चे पर आश्रित नहीं है। बेट्टी फ्राइडन की इस पुस्तक ने साहित्य के क्षेत्र में " नारी–मुक्ति आंदोलन " को जन्म दिया।[1]

नारीवाद के प्रेरक साहित्य के रूप में केट मिल्लट द्वारा रचित ' सेक्सुअल पोलिटिक्स '(Sexual Politics-1970)भी उल्लेखनीय है। उनका आरोप था कि यौन–संबंधों के मामलों में भी पितृसत्तात्मक समाज के नियम ही लागू है, जो सर्वथा स्त्री विरोधी है। उन्होंने इन नियमों को तोड़ने का आह्वान किया और समलैंगिकता का समर्थन भी।

बीसवीं शती के अंतिम चरण की नारीवादी लेखिकाओं में जर्मन ग्रियर का प्रमुख स्थान है। उन्होंने 1970 में प्रकाशित अपनी किताब " द फ़ीमेल यूनक " (The

---

[1] डॉ० अमर ज्योति, महिला उपन्यासकारों में नारीवादी दृष्टि, पृ–12

Female Eunuch) का प्रारंभ नारी के शारीरिक सर्वेक्षण से करके नारी अवयव संबंधी मिथकों को तोडने का प्रयास किया। उन्होंने नारियों से ब्रह्मचर्य और एकपत्नीवाद छोड़ने का आह्वान किया। नारी की दशा का सुधार उसके अनुसार मात्र क्रांति से ही संभव है।

सन 1975 में प्रकाशित किताब ' एगेन्स्ट आउर विल : मेन, वुमेण आन्ड रेप '(Against Our Will: Men, Women and Rape) में सूसन ब्राऊण मिल्लर ने बलात्कार (Rape) की राजनीति और समाजशास्त्र को अध्ययन का विषय बनाया। उसने इस बात को प्रमाणित किया कि वास्तव में पुरुष बलात्कार को नारी के मन में भय जगाने के हथियार के रूप में इस्तेमाल करता है और भय जगाकर वह नारी को अपने अधीनस्त रखता है।

उपरिलिखित रचनाओं के अतिरिक्त नारीवाद के प्रचार के लिए विश्व की सभी भाषाओं में काफी मात्रा में साहित्य लिखे गए। प्रत्येक देश के नारीवादी साहित्य में उस देश की राजनीति, संस्कृति, धर्म, समाज आदि के अनुरूप नारीवाद के सिद्धांतों का निर्धारण और प्रचार प्रसार हुआ। विगत दो दशक के हिन्दी साहित्य भी इस दृष्टि से काफी संपन्न है। उसके पूर्व से ही नारीवादी लेखन की परंपरा हिन्दी साहित्य और उपन्यासों में शुरू हो चुकी थी। किन्तु विगत दो दशक का साहित्य, खासकर उपन्यास साहित्य पूर्ववर्ती उपन्यासों से संबंध रखते हुए भी कई दृष्टि से उससे भिन्न भी है। इसके बारे में विचार करने से पूर्व हिन्दी साहित्य में नारी के स्थान और उसकी भूमिका के बारे में विचार करना संगत होगा।

हिन्दी साहित्य और नारी

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की सामाजिक स्थिति की समीक्षा करते हुए डॉ ०रामगोपाल शर्मा ' दिनेश ' लिखते हैं, '' नारी भी भोग्या मात्र रह गयी थी। वह क्रय–

विक्रय एवं अपहरण की वस्तु बनती जा रही थी। . . . . सती–प्रथा भी इस समय के समाज का एक भयंकर अभिशाप थी। फलतः सामान्य जाति की नारी के लिए पुरुष का जीवन और मृत्यु दोनों ही भयंकर घटना बन जाते थे॥''[1] इस तरह की सामाजिक स्थिति के कारण आदिकालीन साहित्य में नारी का भोग्या रूप ही अधिक चित्रित होती थीं। वज्रयान धर्म में तो मोक्ष–प्राप्ति के लिए स्त्री–सेवन अवश्य अंग था। रासो काव्यों में और विद्यापति की रचनाओं में नारी का प्रेयसी रूप ही अधिक वर्णित है।

भक्तिकाल में तुलसीदास जैसे कवियों का नारी संबंधी दृष्टिकोण बिलकुल पितृसत्तात्मक समाज के अनुरूप ही था। '' श्रीरामचरित मानस '' में कहा गया है कि नारी निश्चय ही दण्ड के अधिकारिणी है।

'' ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी।
सकल ताड़ना के अधिकारी॥ ''[2]

' अरण्यकांड ' में अनसूया सीता को उपदेश देने के बहाने संपूर्ण स्री वर्ग को उपदेश देती है कि पति की सेवा न करनेवाली पत्नि अधम है। पति चाहे वृद्ध, रोगी, धनहीन, अंध, बधिर, आदि भी क्यों न हो उसकी सेवा करना ही स्त्री का एकमात्र धर्म है। नहीं तो उसे नरक में नाना प्रकार का दुख सहना पड़ेगा।

'' मातु पिता भ्राता हितकारी। मित प्रद सबु सुनु राजकुमारी॥
अमित दानी भर्ता बैदेही। अधम सो नारि जो सेवन ते ही॥

---

[1] डॉ . रामगोपाल शर्मा' दिनेश ', हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपादक डॉ ० नगेन्द्र, पृ–56

[2] गोस्वामि तुलसीदास, श्रीरामचरितमानस, सुंदरकांड, पृ– 718

. . . .

बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी, अति दीना

ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना नारी पाव जमपुर दुख नाना॥

एकई धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥ ”[1]

कबीर की रचनाओं में भी स्त्री–निंदा के अनेक निदर्शन उपल्ब्ध हैं। जैसे––

“ गाय भैंस घोडी गधी, नारी नाम है तास

जा मंदिर में ये बसें, तहाँ न कीजै बास॥ ”[2]

तथा–

“ सर्व सेना की सुन्दरी, आवै बास सुबास

जो जननी ह्वै आपनी, तौहु न बैठे पास॥ ”[3]

हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों में मीरा का स्थान महत्वपूर्ण है ही किन्तु हिन्दी स्त्री–विमर्श के संदर्भ में भी मीरा का महत्वपूर्ण स्थान है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था को ठुकरने का प्रयास मीरा के क्रिया–कलापों में देख सकते हैं। पति की मृत्यु के बाद सती होने के लिए वह तैयार नहीं हुई, विधवा–वेश पहनने को भी वह तैयार नहीं हुई, श्रीकृष्ण की मूर्ती के सामने नाचती–गाती रही। राजमहल छोडने का उसका इरादा भी उसके विद्रोही व्यक्तित्व का परिचायक है। मीरा के इस प्रतिरोध और विद्रोह के कारण

---

1 गोस्वामि तुलसीदास, श्रीरामचरितमानस, अरण्यकांड़, पृ– 595

2 कबीर, कबीर समग्र, संपादक डॉ० युगेश्वर, पृ–438

3 वही, पृ– 437

शिवकुमार मिश्रजी उसे समकालीन स्त्री–विमर्श का भागीदार मानता है। “ वस्तुतः मीरा हमारी समकालीन है और चल रहे स्त्री–विमर्श की भागीदार हैं – अपने उस प्रतिरोध तथा विद्रोह के नाते जो उन्होंने अपने ऊपर लगाई गई पाबंदियों के खिलाफ किया। वे स्त्री–विमर्श में इसलिए हमारे साथ हैं कि सामंती जकड़बंदी के बीच आपकी प्रेम–पिपासा की उन्होंने निष्कुंठ अभिव्यक्ति की। उनके विद्रोह का संबंध है लोक, राज परिवार तथा संबंधियों द्वारा उन्हें दी गई यातना से उन पर थोपी गई पाबंदियों से जिन्हें मीरा ने अमान्य किया। यहाँ तक कि राजभवन को लात मारकर वे उससे बाहर आ गई। ”[1]

अपने नारी–व्यक्तित्व को अपनी रचनावों में प्रकट करने का मीरा का प्रयास भी उल्लेखनीय है। हिन्दी साहित्य में एक औरत द्वारा अपनी आत्माभिव्यक्ति का प्रयास निश्चित रूप से सर्वप्रथम था। इस संबंध में शिवकुमार मिश्र लिखता है,

“ निश्चय ही, संत और भक्त तो वे हैं, परन्तु इनके साथ–साथ एक औरत होने का एहसास भी उनमें बराबर रहा है। उनके पदों में संत और भक्त होने के साथ उनके औरत होने–लाचार और निरीह औरत होने की पहचान भी जुड़ी हुई है। वस्तुतः औरत होने का यह एहसास ही मीरा को हमारे समय के स्त्री–विमर्श से जोड़ता है। यह औरत मीरा में बराबर ज़िन्दा रही है। मीरा ने उसे विचार के स्तर पर और संस्कार के स्तर पर अपने में, शिद्दत से जिलाए रखा है। जितना सच मीरा का संत या भक्त होना है? उनका औरत होना भी उतना ही बड़ा सच है। ”[2]

---

[1] शिव कुमार मिश्र, स्त्री–विमर्श में मीरा, वाङ्मय, जुलाई–दिसंबर 2007 पृ– 30

[2] वही, पृ– 31

यह बात निर्विवाद की है कि रीतिकाल में काव्य का मुख्य रस श्रृंगार था। राजाश्रित कवि अपने आश्रयदाताओं को तृप्त करने के लिए ही काव्य सृजन करते थे। इस प्रकार के साहित्य में स्त्री का स्वरूप भोग्या के अलावा और कुछ होने की गुंजाईश नहीं थी। रीतिकाल के कवियों की नारी संबंधी दृष्टिकोण के बारे में डॉ० महेन्द्रकुमार लिखते हैं, " वास्तव में नारी के प्रति इन कवियों की दृष्टि सामन्तीय ही रही है। ये उसे पुरुष के समकक्ष समाज की चेतन इकाई अथवा पुरुष का अर्द्धांग न समझकर भोग्य सम्पत्ति के समान उसे भोग का मात्र उपकरण समझते हैं। इनके लिए उसकी समस्त चेष्टाएं चेतन प्राणी की काम–भावना की अभिव्यक्ति न होकर पुरुष की उपभोग्य वस्तु की श्री–वृद्धि मात्र हैं। इतना ही नहीं, यह मानते हुए भी कि नारी में पुरुष की अपेक्षा काम की मात्रा अधिक होती है, काम की अतृप्ति के कारण हुए उसके विरह तथा तज्जन्य व्याधियों के प्रति मानव–सुलभ सहानुभूति के स्थान पर इनमें उपेक्षा अथवा कौतूहल का भाव ही अधिक रहा है। "[1]

आधुनिक काल में स्त्री–जीवन से संबंधित सबसे उल्लेखनीय बात स्त्री–शिक्षा का प्रसार था। भारतेन्दु–युग में नारी–शिक्षा, बाल–विवाह, विधवावों की दुर्दशा आदि विषयों को लेकर कविताएँ लिखी गयीं और नारियों की स्थिति पर सहानुभूति प्रकट की गयीं।

द्विवेदी युग में भी कवियों का दृष्टिकोण सहानुभूति पर ही अधारित रहा। विधवाओं के कष्टमय जीवन और शिक्षा–विहीन नारी की दुर्दशा आदि विषयों को लेकर कवितायें लिखी गयीं। मैथिली शरण गुप्त ने ' यशोधरा ', ' साकेत ', ' विष्णुप्रिया ', ' जयद्रथ वध ' आदि रचनाओं में नारी–जीवन की दयनीय जीवन का अंकन किया और सहानुभूति प्रकट की। उनकी ' यशोधरा ' की पंक्तियाँ प्रसिद्ध है,

---

[1] डॉ० महेन्द्रकुमार, हिन्दी साहित्य का इतिहास (संपादक–डॉ. नगेन्द्र) पृ– 306

" अबला–जीवन हाय!

तुम्हारी यही कहानी

आँचल में है दूध और

आँखों में पानी! "[1]

सुभद्रा कुमारी चौहान अपने राष्ट्र–प्रेम संबंधी कविताओं के लिए प्रसिद्ध है। उसके परे उन्होंने स्वतंत्रता संग्रम में भाग लेकर नारी के सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व का परिचय भी दिया था।

हिन्दी साहित्य में स्त्री–जीवन को पहली बार उसकी समग्रता के साथ विमर्श का विषय बनाने का श्रेय महादेवी वर्मा को जाता है। विभिन्न विषयों की चर्चा करते समय उन्होंने ' हमारी श्रृंखला की कड़ियाँ ' नामक शीर्षक के अन्तर्गत नारी–जीवन से जुड़ी समस्याओं को बडे गौर से लिया। एक नारी द्वारा नारी–जीवन का विमर्श हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम था। घर और बाहर नारी की भूमिका, आर्थिक स्वतंत्रता और नारी, वेश्या–जीवन, नए दशक में महिलाओं का स्थान, युद्ध और नारी जैसे विषयों के बारे में उन्होंने अपना विचार प्रकट किया।

भारतीय नारी की स्वतंत्रता के बारे में महादेवी वर्मा का कथन उल्लेखनीय है। उसके अनुसार पुरुष, स्त्री का शत्रु नहीं है। पुरुष से जय प्रप्त करना भारतीय स्त्री का लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य मात्र अपने अस्तित्व की स्थापना है। वे लिखती हैं, " हमें न किसी पर जय चाहिए, न किसी से पराजय ; न किसी पर प्रभुता चाहिए, न किसी का प्रभुत्व। केवल अपना वह स्थान, वे स्वत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई

---

[1] मैथिली शरण गुप्त, यशोधरा, पृ– 12

उपयोग नहीं है, परंतु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगी। हमारी जाग्रत और साधन–संपन्न बहिनें इस दिशा में विशेष महत्वपूर्ण कार्य कर सकेंगी, इसमें संदेह नहीं। ''[1]

हिन्दी उपन्यास और नारी

हिन्दी उपन्यासों में नारी का चित्रण हमेशा युग के अनुरूप ही हुआ है। हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यास नवजागरण से प्रभावित है। इसलिए नवजागरण के आदर्शों का स्पष्ट प्रभाव प्रारंभिक उपन्यासों में देख सकते हैं। प्रेमचंद के समय नारी–जीवन के अनेक पहलुओं का यथार्थ चित्रण हिन्दी उपन्यासों में हुआ। नारी–जीवन को कष्टमय बनानेवाले तथ्यों के विरुद्ध इस समय के उपन्यासकारों ने आवाज़ उठाई। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में अस्तित्ववाद का स्पष्ट प्रभाव दृष्टव्य है। नारी–जीवन की कुंठा, पीड़ा, निराशा, अकेलापन आदि का चित्रण इस समय के उपन्यासों में हुआ है। अस्सी के बाद के उपन्यासों में नारीवादी आंदोलन की गूँज सुनाई पड़ती है। इस समय स्त्री–उपन्यास लेखिकाओं की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई थीं।

प्रत्येक युग के हिन्दी उपन्यासों में नारी–जीवन का चित्रण, नारी के प्रति दृष्टिकोण आदि के बारे में संक्षेप में विचार करना संगत होगा।

प्रेमचंद पूर्व युग

आलोच्य युग के उपन्यास नवजागरण के विचारों से प्रभावित है। स्त्री–शिक्षा और विधवा विवाह का समर्थन तथा बाल और वृद्ध–विवाह का विरोध इस समय के नारी–केंद्रित उपन्यासों का मुख्य विषय रहा। किन्तु इस समय के उपन्यासकार नारी की समस्याओं का परिचय देकर, उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करके अपने काम से

---

[1] महादेवी वर्मा, महदेवी साहित्य समग्र–3(लेख का नाम–हमारी श्रृंखला की कड़ियाँ) पृ–304

निवृत्त होते थे। समस्याओं के लिए कोई उचित समाधान वे प्रस्तुत नहीं कर पाए। स्वतंत्र नारी का चित्रण इस समय के किसी भी उपन्यास में उपलब्ध नहीं है। भारतीय परंपरा के अनुसार आदर्श पतिव्रता, सती–साध्वी नारी रूप ही इस समय के उपन्यासों में अधिक चित्रित हुआ। व्यवस्था के विरुद्ध नारी के संघर्ष या विद्रोह का चित्रण इस समय के उपन्यासों में न के बराबर है। आज़ादी के पूर्व के स्त्री–विमर्श संबंधी उपन्यासों की समीक्षा करते हुए प्रो. गोपाल राय लिखते हैं,

" यह एक रोचक तथ्य है कि हिन्दी उपन्यास का आरंभ ' स्त्री–विमर्श ' से हुआ तथा आज़ादी–पूर्व के उपन्यासों में किसानों के बाद स्त्री की समस्याओं को ही प्रमुख स्थान मिला। इसका कारण उपन्यासकारों का नवजागरण की चेतना से प्रभावित होना था। पर उस समय के पुरुष उपन्यासकारों ने परंपरागत नारी संहिता के चौखटे में ही स्त्री के ' उद्धार ' की बात की। स्त्री के लिए उस घेरे के बाहर निकलने का कोई द्वार नहीं था। "[1]

नारी की समस्याओं को गौर से लेनेवाले उपन्यासकार संख्या में तो कम थे। किन्तु नारी की समस्याओं को प्रस्तुत करने में वे सफल रहे। ज़ाहिर है कि इस समय ऐसे उपन्यासकारों का भी अभाव नहीं था जो बाल–विवाह का समर्थन तथा विधवा–विवाह और स्त्री–शिक्षा का विरोध करते थे। विधवा–विवाह का पहली बार खुलकर समर्थन श्रद्धाराम फिलौरी कृत ' भाग्यवती ' (1877) में हुआ था। कुँवर हनुमंत सिंह रखुवंशी ने ' चन्द्रकला ' (1893) नामक उपन्यास में बालविवाह के कुपरिणामों का चित्रण किया। इनके एक अन्य उपन्यास ' गृहस्थ चरित्र ' (1909) में स्त्री–अशिक्षा के दोषों का चित्रण किया गया।

---

[1] प्रो. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ– 418

1890 में प्रकाशित ‘ सुहासिनी ’ किसी नारी द्वारा लिखित हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास है। किन्तु इस उपन्यास की लेखिका का वास्तविक नाम उपलब्ध नहीं है। इस समय के महिला उपन्यासकारों के अन्य उपन्यासों में श्रीमति हरदेवी का ‘ हुकुम देवी ’(1893), प्रियंवदा देवी का ‘ लक्ष्मी ’(1908), कुन्ती देवी का ‘ पार्वति ’(1909), यशोदा देवी का ‘ सच्चा पतिप्रेम ’(1911), हेमन्त कुमारी चौधरी का ‘ आदर्श माता ’(1912), ब्रह्मकुमारी भगवन देवी दूबे का ‘ सौन्दर्यकुमरी ’ (1914), कुमुदबाला देवी का ‘ सदाचारिणी ’ आदि उल्लेखनीय हैं। जहाँ तक इन उपन्यासों में नारी–चित्रण का सवाल है, तत्कालीन पुरुष उपन्यासकारों की दृष्टि से, कोई विशेष अन्तर इनमें दिखाई नहीं देता। परंपरागत मूल्यों के अनुसार ही नारी का चित्रण किया गया है। पातिव्रत्य का पालन, आदर्श पत्नी और आदर्श माता का रूप, विनय, सदाचार, शिष्टाचार आदि विषयों को लेकर उपदेश देना ही इन उपन्यासों की मुख्य प्रवृत्ति रही थी।

प्रेमचंद युग

“ प्रेमचंद के समय में भी नारी विशेषकर मध्य और उच्च वर्ग की नारी, दोहरी दासता की शिकार थी। उसे न तो पारिवारिक संपत्ति में कोई हक था और न वह स्वतंत्र रूप से अपनी जीविका अर्जित करने में समर्थ थी। प्राय: लड़कियाँ शिक्षा से वंचित थीं। स्त्री की जगह केवल गृहिणी के रूप में घर में थी या घर के बाहर वेश्या की कोठे पर। लड़कियों के विवाह के लिए तिलक–दहेज जुटाना अनिवार्य था और उनका विवाह होना भी ज़रूरी था। विवाह के पश्चात समाज स्त्रियों के प्रति अत्यंत कठोर रूप अपना लेता था। सामाजिक बन्धनों और स्वीकृत प्रथाओं के कारण स्त्री की ज़िन्दगी गुलामी का पर्याय थी। माता–पिता अपनी कन्याओं का विवाह, तिलक–दहेज देने में असमर्थ होने के कारण, अयोग्य, निर्धन, या बूढ़े व्यक्तियों से कर देते थे और

लड़कियों की ज़िन्दगी नरक बन जाती थी। ”[1] प्रस्तुत कथन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद के समय में नारी की सामाजिक हैसियत क्या थी। स्वाभाविक रूप से इस समय के नारी–केंद्रित उपन्यासों के मुख्य विषय वेश्या–समस्या, दहेज और अनमेल विवाह तथा विधवाओं की समस्या आदि थे।

प्रेमचंद के प्रथम उपन्यास ‘ सेवासदन ’(1918) में वेश्या–समस्या का चित्रण हुआ। इसमें वेश्यावृत्ति स्त्री क्यों अपनाती है, इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया। पातिव्रत्य को, नारी–चरित्र को परखने के एकमात्र कसौटी के रूप में स्वीकारने को प्रेमचंद तैयार नहीं था। उनका अन्य उपन्यास ‘ निर्मला ’ का मुख्य विषय अनमेल–विवाह था। ‘ गबन ’ में विधवा–जीवन की दुर्दशा का अंकन है। प्रेमचंद के उपन्यासों में निश्चय ही नारी–जीवन की समस्याओं का चित्रण हुआ है और उन्होंने नारी पर सहानुभूति भी प्रकट की है। कहीं–कहीं नारी द्वारा विद्रोह–प्रदर्शन भी चित्रित किया गया है। किन्तु प्रस्तुत विद्रोह की एक सीमा है। उसे पार करने की क्षमता किसी भी स्त्री–पात्र में दिखाई नहीं देती।

पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र का उपन्यास ‘ दिल्ली का दलाल ’ का मुख्य विषय नारी का क्रय–विक्रय है। उनका दूसरा उपन्यास वेश्या–जीवन की समस्याओं पर अधारित उपन्यास है। इस उपन्यास में पति द्वारा पत्नि को मात्र भोग की वस्तु समझनेवाली मानसिकता का चित्रण किया गया है। जयशंकर प्रसाद ने ‘ कंकाल ’ में पुरुष के परंपरावादी दृष्टिकोण की आलोचना की। 1937 में प्रकाशित सिया राम शरण गुप्त का उपन्यास ‘ नारी ’ में समकालीन भारतीय नारी की विवशता का चित्रण किया गया। जैनेन्द्र कुमार का उपन्यास ‘ परख ’ में बाल विधवा कट्टो का प्रेम चित्रित करके उपन्यासकार ने ततकालीन प्रचलित सामाजिक मान्यता को चुनौती दी। क्योंकि दाम्पत्य जीवन से बाहर स्त्री–पुरुष संबंध का कोई अस्तित्व उस समय बिलकुल नहीं

[1] प्रो. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ– 135

था। जैनेन्द्र के बहुचर्चित उपन्यास ‘ सुनीता ’ में उसने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि विवाहित स्त्री के जीवन में भी पति के अलावा दूसरे पुरुष के साथ प्रेम संबंध की गुंजाइश है। उपन्यास की नायिका सुनीता विवाहिता होकर भी अपने प्रेमी के सामने नग्न हो जाती है। इसप्रकार जैनेन्द्र ने नैतिकता के प्रचलित मान्यता को ललकारने की कोशिश की।

इस युग की महिला उपन्यास लेखिका रुक्मिणी देवी कृत ‘मेम और साहब ’(1919), कुन्ती कृत ‘ सुन्दरी ’(1922), विमला देवी चौधरानी का ‘ कामिनी ’(1923), रत्नवती देवी शर्मा का ‘ सुमति ’(1923), प्रभावती भटनागर का ‘ पराजय ’(1934), उषादेवी मित्रा का ‘ वचन का मोल ’(1936), कुटुम प्यारी देवी सक्सेना का ‘ हृदय की ताप ’ (1936) आदि उल्लेखनीय हैं। किन्तु ये लेखिकाएँ परंपरागत नारी–संहिता के अनुरूप ही नारी का चित्रण किया है जो पुरुष उपन्यासकारों की दृष्टि से कोई विशेष अंतर नहीं रखता। प्रो. गोपाल राय इस संबंध में लिखता है,

“ ये उपन्यास लेखिकाएँ हिन्दू समाज में स्त्री की विषम और दयनीय स्थिति का प्रामाणिक चित्रण करने में सफल हैं, पर उनका दृष्टिकोण रूढ़ ही है। वे परंपरागत नारी संहिता के विरोध में जाने का साहस नहीं कर सकी हैं, यद्यपि स्त्री शिक्षा का वे खुलकर समर्थन करती हैं। इन लेखिकाओं का नारी सबंधी दृष्टिकोण पुरुष लेखकों से भिन्न नहीं है। ”[1]

प्रेमचंद युगीन उपन्यासों में नारी की समस्याओं का चित्रण तो हुआ है किन्तु इसके लिए कोई समाधान प्रस्तुत नहीं हुआ है। यत्र–तत्र, विद्रोह की कोशिश करने वाली नारी का भी, परंपरागत भारतीय नारी का रूप ग्रहण करने में देर नहीं लगती। फ़िर

---

[1] प्रो. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ–164

भी समस्याओं को चित्रित करके नारी को और समाज को जगाने का प्रयास इस समय ज़ारी रहा।

प्रेमचन्दोत्तर युग

आलोच्य युग के हिन्दी उपन्यासों में नये प्रयोग और परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। फ्राईड़ के सिद्धांतों का स्पष्ट प्रभाव इस समय के उपन्यासों में देखा जा सकता है। इस सिद्धांत से प्रभावित अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचंद जोशी, भगवती चरण वर्मा आदि उपन्यासकारों ने मनोविश्लेषण प्रधान उपन्यासों की रचना की। इन उपन्यासों में स्त्री–पुरुष संबंधों की नई व्याख्या हुई और नैतिकता के नए मापदण्डों का निर्धारण हुआ। प्रेम, काम, दांपत्य संबंधों में तनाव, विवाहेतर काम संबंध आदि विषयों का विश्लेषण इस समय के उपन्यासों में हुआ। नारी पात्रों की अवधारणा में गंभीर परिवर्तन इस समय में हुआ। " प्रेमचन्दोत्तर–काल के हिन्दी उपन्यासों में नारी चित्रण के मानदण्ड निश्चित रूप से बदले हैं। नारी पात्रों की परिकल्पना में लेखक–लेखिकाएँ अपेक्षाकृत अधिक जागरूक और प्रगतिशील दिखाई देते हैं। इस युग की औपन्यासिक प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक रही है। उपन्यासों के सभी पात्रों की संकल्पना उनकी मानसिक स्थितियों के अनुरूप ही की गई। नारी पात्रों की अवधारणा भी स्वतंत्र एवं स्वेच्छाचारिणी स्वैरविहारिणी मुक्तकामिनी के रूप में इसी युग से दिखाई देती है। "[1]

जैनेन्द्र ने ' त्यागपत्र '(1937), ' कल्याणी ' (1939) आदि उपन्यासों में परंपरागत नारी संहिता की आलोचना करके उस पर प्रश्नचिह्न लगा दिया। ' त्यागपत्र ' की मृणाल प्रचलित मान्यता को चुनैती देती है, उनके विरुद्ध विद्रोह करती है। किन्तु उसका मार्ग आत्मपीड़न का है।

---

[1] डॉ० अमर ज्योति, महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारीवादी दृष्टि, पृ– 31

‘ कल्याणी ’ में जैनेन्द्र ने यह स्थापित किया कि केवल आर्थिक स्वतंत्रता नारी को शोषण से बचाने के लिए पर्याप्त नहीं है, पढ़ी–लिखी औरत भी पुरुष प्रधान व्यवस्था में शोषित ही है। कल्याणी, जो पेशे से डॉक्टर है, शादी के बाद पति द्वारा आर्थिक, और शारीरिक शोषण की शिकार हो जाती है। वह भी विद्रोह करती है। किन्तु उसका मार्ग भी आत्मदान और आत्मपीड़ा का ही है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी का उपन्यास ‘ पिपासा ’ (1937) में विवाहित स्त्री का दूसरे पुरुष से प्रेम करने के अधिकार की बात उठाई है। उसका अन्य उपन्यास ‘ निमंत्रण ’ (1942) में विवाह के औचित्य पर ही प्रश्नचिह्न लगाया गया है।

प्रेमचंदोत्तर काल में मार्क्सवाद का प्रभाव भी हिन्दी उपन्यासों में देखा जा सकता है। हिन्दी के मार्क्सवादी उपन्यासकारों में यशपाल का स्थान अद्वितीय है। उन्होंने अपने उपन्यासों में परंपरागत स्त्री–पुरुष संबंधों की आलोचना करके मुक्त प्रेम और काम को बढ़ावा दिया। उसके उपन्यास के पात्र प्रेम और काम के क्षेत्र में किसी भी परम्परागत नैतिक मूल्यों को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उसके उपन्यास ‘ दादा कामरेड ’ की शैल एक ही समय अनेक व्यक्तियों से प्रेम संबंध रखती है। ‘ दिव्या ’ में ई. पूर्व नारी–जीवन को चित्रित किया गया है। इस उपन्यास द्वारा यशपाल ने यह स्थापित किया कि नारी शोषण का इतिहास काफी पुराना है। इस उपन्यास में उन्होंने इस महत्वपूर्ण प्रश्न को उठाया है कि नारी का स्वातंत्र्य मात्र वेश्या रूप में ही संभव है? यशपाल के अन्य उपन्यास ‘ देशद्रोही ’, ‘ पार्टी कामरेड ’ आदि उपन्यासों में भी नारी–संबंधी दृष्टिकोण में विद्रोह का स्वर ही मुखरित है।

आलोच्य समय की महिला उपन्यास लेखिकाओं में उषादेवी मित्रा का नाम उल्लेखनीय है। ‘ पिया ’(1937), ‘ जीवन की मुस्कान ’ (1939), ‘ पथचारी ’ (1940) ‘नष्टनीड ’, ‘ सोहिनी ’, ‘ आवाज़ ’ आदि उसके उपन्यास हैं। उसके उपन्यासों

का केन्द्रीय विषय नारी जीवन ही है। उन्होंने स्त्री को मात्र भोग की वस्तु समझनेवाली पुरुष मानसिकता की कटु आलोचना की। ‘ नष्टनीड ’ उपन्यास में बलात्कार की शिकार हुई स्त्री की मानसिकता का चित्रण किया गया। शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाने का परिश्रम भी उनके नारी–पात्रों की ओर से हुआ है। अन्य महिला लेखिकाओं में कंचनलता सब्बरवाल का नाम उल्लेखनीय है। ‘ मूकप्रश्न ’, ‘ भोली भूल ’, ‘संकल्प ’, आदि उसके उपन्यास हैं। अन्य लेखिकाओं और उपन्यासों में वासन्ती राणी सेन का ‘ दिलारा ’, प्रभावती भटनागर का ‘ पराजय ’ आदि उल्लेखनीय है। इस काल में भी महिला उपन्यासकारों में परंपरागत नारी संहिता की सीमा को पार करने की कोई विशेष रुचि दिखाई नहीं देती। किन्तु इस समय के अधिकांश लेखकों ने प्रचलित नारी संहिता को अपने–अपने तरीके से आलोचना का विषय बनाया और नारी के शोषक तत्वों के विरुद्ध विद्रोह भी प्रकट किया।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और नारी

आज़ादी के बाद नारी से संबंधित राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक स्थितियों में परिवर्तन हुआ। नारी–शिक्षा का प्रचार नारी जीवन में नवीन चेतना लाया। इस दौर के नारी–केंद्रित उपन्यासों में नारी की आर्थिक, सामाजिक, एवं पारिवारिक स्थितियों का विश्लेषण हुआ। कामकाजी नारी की समस्या इस समय के उपन्यासों में चित्रित होने लगी। रूढ़ियों के विरुद्ध नारी का संघर्ष भी इस समय की प्रमुख प्रवृत्ति रही थी।

इस समय के कतिपय पुरुष उपन्यासकार भी नारी–जीवन के चित्रण में गहरी संवेदनशीलता का परिचय दिया। यशपाल के ‘ मनुष्य के रूप, ‘ झूठा सच ’ आदि उपन्यासों में नारी जीवन का यथार्थ चित्रित है। नागार्जुन के ‘ रतिनाथ की चाची ’, ‘ बलचनमा ’,‘नयी पौध ’ आदि उपन्यासों में विधवावों की दुर्दशा, छोटी लड़कियों को

बलपूर्वक बूढ़ों के साथ विवाह कराने की प्रवृत्ति आदि के चित्रण हुए। मठों में महन्तों द्वारा स्त्री के देह शोषण का चित्रण रेणु ने ‘ मैला आँचल ’ में किया। अमृतलाल नागर के ‘ बूँद और समुद्र ’, ‘ अमृत और विष ’ आदि उपन्यासों में नारी की विवशता, कुंठा, उत्पीड़न और इनसे मुक्ति के लिए उनके संघर्ष की अभिव्यक्ति हुई। नववधुओं के यातनापूर्ण जीवन का अंकन राजेन्द्र यादव ने ‘ सारा आकाश ’ उपन्यास में किया।

प्रमुख महिला उपन्यासकार और उनके उपन्यास

स्वातंत्र्योत्तर काल के महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में समकालीन नारीवादी उपन्यासों की प्रवृत्तियों का बीज देखा जा सकता है। कतिपय लेखिकाओं की औपन्यासिक यात्रा इस दौर में शुरू होकर समकालीन संदर्भ में भी सहज गति के साथ प्रवाहित होती दिखाई देती है।

साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में पश्चिम की नारी मुक्ति आंदोलन का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। भारतीय नारी में नवीन चेतना जगाने में पश्चिम की नारी–मुक्ति आंदोलन का महत्वपूर्ण योगदान रहा। इस आंदोलन के प्रभाव के कारण महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारी संघर्षों के विविध रूपों का चित्रण होने लगा। परिवार, विवाह, आदि के संबंध में नई परिकल्पना, कामकाजी महिला की समस्यायें, नैतिकता के मापदण्डों का पुन:निर्धारण आदि इस समय के महिला लेखिकाओं के उपन्यासों के मुख्य विषय रहे।

कृष्णा सोबती का प्रथम उपन्यास ‘ डार से बिछुड़ी ’ सन 1958 में प्रकाशित हुआ। ‘ ‘ मित्रो मरजानी ’, ‘ सूरजमुखी अँधेरे के ’, ‘ ज़िन्दगीनामा ’आदि उसके अन्य उपन्यास हैं। समकालीन महिला लेखिकाओं में भी इनका महत्वपूर्ण स्थान है। ‘ ऐ लड़की ’(1991), ‘ दिलो दानिश ’(1993), ‘ समय सरगम ’(2000) आदि उपन्यास समकालीन संदर्भ में भी उसकी सक्रियता का परिचय देते हैं। पुरुष समाज

द्वारा निर्धारित नैतिकता के मापदण्डों के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाली प्रथम महिला उपन्यासकार थी कृष्णा सोबती। ' मित्रो मरजानी ', ' सूरजमुखी अँधेरे के ' आदि उपन्यासों में काम व्यापार का खुला चित्रण प्रस्तुत करके उन्होंने प्रचलित साहित्यिक मान्यताओं को चुनौती दी। उनके उपन्यासों में परंपरागत नारी संहिता के विरुद्ध विद्रोह करने वाली नारियों का चित्रण हुआ जो एक महिला उपन्यास लेखिका के उपन्यासों में सर्वप्रथम था। कृष्णा सोबती का लक्ष्य स्त्री–स्वाधीनता और नारी मुक्ति है। इस संबंध में मधुरेश का कथन उल्लेखनीय है। " स्त्री–स्वाधीनता और नारी मुक्ति के सवाल को वे अपनी धरती और मिट्टी से जोडकर देखती हैं और समूचे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उसकी अनिवार्यता को रेखांकित करती हैं। "[1]

1961 में उषा प्रियंवदा का पहला उपन्यास ' पचपन खंभे लाल दीवारें ' प्रकाशित हुआ। भारतीय आधुनिक नारी के नये जीवन संदर्भ इस उपन्यास में चित्रित हुआ है। पढ़ी–लिखी, कामकाजी महिला का जीवन ही इस उपन्यास के केन्द्र में है। ' रुकोगी नहीं राधिका ' में आधुनिक नारी की जटिल मानसिकता का चित्रण हुआ है। राधिका परंपरागत नारी–संहिता को स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है। राधिका का विश्वास मुक्त–काम में है। एक से अधिक पुरुषों के साथ देह–संबंध स्थापित करने में वह संकोच का अनुभव नहीं करती। पुराने मूल्यों को नकारकर नये मूल्यों को आत्मसात करने की राधिका की यात्रा ही इस उपन्यास का कथ्य है। उच्च तथा मध्यवर्गीय परिवारों में नारी के शोषित जीवन के विविध आयामों की अभिव्यक्ति इसके उपन्यासों में हुई है।

मन्नू भंडारी का उपन्यास ' आपका बंटी ' सन 1971 में प्रकाशित हुआ जिसमें असंतृप्त वैवाहिक जीवन, पारिवारिक विघटन, तलाक आदि समस्याओं का चित्रण हुआ है। शशिप्रभा शास्त्री के उपन्यासों में नारी के बदलते रूपों का चित्रण

---

[1] मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, पृ–198

उपलब्ध है। उसका उपन्यास ' अमलतास ' में वैवाहिक जीवन की समस्यायें और परित्यक्ता नारी का जीवन चित्रित है। ' परछाइयों के पीछे ' में एक पढ़ी–लिखी नौकरी पेशा नारी का जीवन चित्रित है। ' नावें ' उपन्यास में विवाह–पूर्व माँ बनने की स्थिति और अवैध संतान की समस्या का अंकन हुआ है। ' कर्करेखा ' पति और पुत्र के होते हुए भी अकेलापन की शिकार होनेवाली नारी की कथा है। नारी की इच्छाओं और आकांक्षाओं का सूक्ष्म चित्रण इसके उपन्यासों में हुआ है।

मेहरुन्निसा परवेज़ के उपन्यास ' आँखों की दहलीज ' और ' कोरजा ' का परिवेश मुस्लिम परिवार है। ' उसका घर ' उपन्यास में ईसाई परिवार की कहानी है। दोनों समाजों में पुरुष द्वारा स्त्री का शोषण ही इन उपन्यासों के मुख्य विषय हैं। ' उसका घर ' उपन्यास की नायिका ऐलमा को अपने भाई की पदोन्नति के लिए उसके बाँस के साथ यौन–व्यापार करना पड़ता है। ' कोरजा ' में एक विलासी बाप का चित्रण है जो अपनी बेटी पर भी वासना भरी दृष्टि रखता है। मेहरुन्निज़ा के उपन्यास इस बात को प्रमणित करता है कि नारी–शोषण के मामले में विभिन्न धर्मों के बीच कोई विशेष अंतर है ही नहीं।

ममता कालिया का प्रथम उपन्यास ' बेघर ' में स्त्री की यौनशुचिता मुख्य विषय है। स्त्री के लिए विवाह–पूर्व यौन संबंध निषिद्ध है जबकि पुरुष के लिए ऐसा नहीं है। नैतिकता के इस दोहरे मापदण्ड का चित्रण ही इस उपन्यास का मकसद है। पारिवारिक जीवन में नारी की निराशा, कुंठा, अंतर्विरोध आदि का चित्रण इसके उपन्यासों में हुआ है।

आधुनिक नारी के संघर्षपूर्ण जीवन का चित्रण मृदुला गर्ग के सभी उपन्यासों में हुआ है। ' उसके हिस्से की धूप ' का मुख्य विषय त्रिकोणीय प्रेम–संबंध है। जितेन और मनीषा पति–पत्नी हैं। बाद में मनीषा का आकर्षण मधुकर से हो जाता है । नारी

की यौनावेगों का सहज चित्रण इस उपन्यास में उपलब्ध है। ' चित्तकोबरा ' उपन्यास का भी केन्द्रीय विषय पति–पत्नी के बीच तीसरे की उपस्थिती ही है। इस उपन्यास में उनमुक्त देह संबंध के चित्रण कई जगहों पर हुए हैं। शादीशुदा और दो बच्चों की माँ अनु पति के अलावा प्रेमी से भी देह संबंध रखती है। नारी द्वारा अपने शरीर पर अपने अधिकार की घोषणा इस उपन्यास में हुई है। समकालीन नारीवादी उपन्यास लेखिकाओं में भी मृदुला गर्ग का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके बहुचर्चित उपन्यास ' कठगुलाब ' में समकालीन नारीवाद की प्रवृत्तियाँ चित्रित हुई हैं।

मंजुल भगत का उपन्यास ' अनारो ' में निम्न वर्ग का नारी–जीवन चित्रित है। नायिका अनारो दूसरों के घर में काम करके अपनी आत्मनिर्भरता का परिचय देती है। ' टूटा हुआ इन्द्रधनुष ' में शादी के बाद भी प्रेमी से यौन–संबंध रखनेवाली नारी का चित्रण हुआ है। पारिवारिक विघटन और तनाव इस उपन्यास का मुख्य विषय है। ' तिरछी बौछार ' में नारी के अकेलापन और आत्मनिर्भरता की समस्या उठाई गई है।

नारीवादी लेखन और पुरुष

नारीवादी साहित्य में पुरुष की भूमिका क्या है? पुरुष द्वारा लिखित साहित्य को क्या नारीवादी साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है? आदि विषयों को लेकर समकालीन संदर्भ में काफी चर्चाएँ हो चुकी हैं। केवल नारी द्वारा लिखे गए साहित्य को नारीवादी साहित्य माननेवालों का प्रमुख तर्क यह है कि पुरुष लेखक के पास स्त्री की परिस्थितियों और जटिल मानसिकता को समझने की क्षमता नहीं है। पुरुष द्वारा लिखित नारीवादी साहित्य में क्रमशः ' देखा ' और ' भोगा ' यथार्थ ही चित्रित होता है। उस में आत्मानुभव की कमी है। सुप्रसिद्ध महिला लेखिका मेहरुन्निसा परवेस मानती है कि नारी के मौन को नारी ही शब्द दे सकती है, और नारी के दुख को नारी ही समझ सकती है। '' महिला लेखन से महिलाओं को पूर्ण रूप से ' फ़ीडबैक ' मिलता है। नारी

लेखन नारी मन की ही अभिव्यक्ति है। नारी ने नारी की गूँगी पीड़ा को लिखा, उजगार किया, उसके मौन को शब्द दिए। पुरुष लेखक के लिए नारी रूमानी ख़्याल, यादों की मूरत थी। बेशक नारी लेखन ने पुरुष लेखकों के हाथ से उसकी सुन्दर, बेजबान, गुड़िया छीन ली है और रोती, चीखती, बिलखती, कलपती नारी को सामने ला खड़ा किया है। ''[1]

इस संबंध में सुप्रसिद्ध लेखिका मृदुला गर्ग का कथन भी ध्यान देने योग्य है। '' हर वह स्त्री पुरुष फेमिनिस्ट माना जाना चाहिए जो नारी चेतना या दृष्टि से संपन्न हो। चूँकि हम दृष्टि या चेतना की बात कर रहे हैं, लिंग की नहीं इसलिए हमें यह मानने से कतई एतराज नहीं है कि नारी चेतना से संपन्न साहित्य स्त्री पुरुष दोनों रच सकते हैं। ''[2]

पुरुष लेखन का समर्थन करनेवालों का तर्क यह है कि अगर पुरुष द्वारा लिखित साहित्य स्त्री के अधिकार और स्वतंत्रता की हिमायत करता है तो उसे स्वीकारने में कोई हर्ज नहीं है। डॉं शशिप्रभा पाण्डेय कहती है '' नारी लेखन एक सामाजिक प्राणी की हैसियत से स्त्री के मानवीय अधिकारों की संघर्षपूर्ण मांग करने वाला साहित्य है। लेखक कोई भी हो सकता है स्त्री अथवा पुरुष। महिला केन्द्रित कर रचना ' नारी–लेखन ' हो यह आवश्यक नहीं है। ''[3]

---

[1] मेहरुन्निसा परवेस, साहित्य वार्षिकी, पृ– 27
[2] मृदुला गर्ग, आधुनिक हिन्दी कहानी : नारी चेतना, मर्द आलोचना, हंस मई–1993, पृ–34

[3] डॉ० शशिप्रभा पाण्डेय, नारीवादी लेखन दशा और दिशा, वाड्मय, जुलाई–दिसंबर 2007, पृ–66

समकालीन नारीवादी उपन्यास

नारीवादी उपन्यास समकालीन हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। विगत दो दशकों में नारीवादी उपन्यास और महिला उपन्यासकारों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई हैं। स्वतंत्रता–पूर्व के महिला लेखिकाओं के उपन्यासों में नारी का उदात्त चरित्र ही अधिक चित्रित था। इन उपन्यासों के पात्र सतीत्व, पत्नीत्व और मातृत्व को ही अपना अस्तित्वबोध मानती थी।

आज़ादी के बाद स्त्री शिक्षा का प्रचार स्त्री की मानसिकता में पर्याप्त बदलाव लाया। सत्तर के बाद के महिला उपन्यासकारों ने स्त्री जीवन की समस्याओं को अपने उपन्यासों का विषय बनाया। इस दौर में स्त्री जीवन को गौर से देखने का प्रयास महिला उपन्यासकारों द्वारा हुआ। 1970 के बाद महिलाओं का जीवन क्षेत्र और विस्तृत हो गया। " सन् 1970 ई ० के बाद समाज में नारी की साक्षरता, शिक्षा व चेतना में फैलाव की वजह से सामाजिक दृष्टिकोण में भी बदलाव आया है। महिलाएँ पहले से अधिक निर्भीक, स्वावलंबी, अधिकार–चेता, अस्मिता व अस्तित्व के प्रति सजग व संवेदनशील दिखाई देती हैं। एक ओर शिक्षा, नौकरी, जीवन मूल्यों में बदलाव की स्थिति है, तो दूसरी ओर परंपरागत संस्कार हैं। संक्रमण की स्थिति में महिलाएँ अधिक दुविधाग्रस्त व असुरक्षित हो गयी हैं। फिर भी तेजी से तथाकथित पुरुष–क्षेत्रों में उनकी हिस्सेदारी बढ़ रही है। गंभीर–दुरूह व कष्टसाध्य कार्यों में इनकी दिलचस्पी बढी है। पत्रकारिता और साहित्य में भी महिला–उत्थान के प्रति नयी–नयी सोच प्रकट हुई है। "[1]

साठोत्तरी महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों के संबंध में यह आरोप था कि इनके लेखन का दायरा सीमित, संकीर्ण, और काफी हद तक घरेलू है। किन्तु

---

[1] डॉ० ओम प्रकाश शर्मा, समकालीन महिला लेखन, पृ–30

समकालीन महिला उपन्यास लेखिकाओं के उपन्यास इस आरोप से मुक्त है। नारी जीवन को उसकी समग्रता के साथ चित्रित करने में वे सफल निकली हैं। अनुभव का क्षेत्र बढने के कारण इनके लेखन का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया। प्रस्तुत उपन्यासों का मुख्य लक्ष्य नारी–मुक्ति संघर्ष को प्रश्रय देना था। स्वयं नारी द्वारा अपने शोषक तत्वों को पहचानकर उसके विरुद्ध संघर्ष करने की बात निश्चित ही महत्वपूर्ण है। अपने शोषक तत्वों से भली–भाँति परिचय नारी को ही हो सकती है। अपनी समस्याओं के प्रति नारी ही अधिक अवगत हो सकती है। अपनी अस्मिता और स्वतंत्रता के प्रति नारी ही अधिक सचेत हो सकती है। अतः बेशक कहा जा सकता है कि नारी द्वारा लिखित उपन्यासों का निश्चय ही अपना अलग महत्व हैं। डॉ ओम प्रकाश शर्मा के शब्दों में,

“ वैसे तो जहाँ तक साहित्य के प्रतिमानों का सवाल है वहाँ महिला लेखन और पुरुष लेखन के लिए अलग–अलग मानदंड निर्धारित नहीं किए जा सकते, फिर भी यह मानना पडेगा कि वैयक्तिक–सामाजिक यथार्थ के अनेक पहलू ऐसे हैं जो केवल नारी संवेदना के ही दायरे में आते हैं। इस बात को सभी बड़ी लेखिकाओं ने विनम्रता से स्वीकार किया है। महिला लेखन महिलापन के विशिष्ट अनुभव की साहित्यिक परिणति है। अतः महिला लेखन पर स्वतंत्र रूप से विचार–विमर्श विषय की गहराई तक जाकर उसे उभारने में मददगार होगा . . . ”[1]

समकालीन नारीवादी उपन्यास–मुख्य प्रवृत्तियाँ

साहित्य में प्रत्येक समय की प्रवृत्तियों को रूपायित करने में सामाजिक तत्वों की अहम भूमिका है। काल के अनुसार इन प्रवृत्तियों में कभी बदलाव आ जाता है तो कभी नये तत्व शामिल हो जाते हैं। कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो नई सामाजिक स्थितियों

---

[1] डॉ० ओम प्रकाश शर्मा, समकालीन महिला लेखन, पृ– 46-47

के कारण जन्म लेती है। हिन्दी के समकालीन नारीवादी उपन्यासों की प्रवृत्तियों के रूपांकन में भी उपरिलिखित बातें लागू होती है। इन प्रवृत्तियों का सामान्य परिचय नीचे दिया जा रहा है।

पारिवारिक एवं वैवाहिक जीवन

‘ सुरक्षा ’ के नाम पर स्त्री को घर के अन्तर ही रखने की व्यवस्था सदियों पूर्व से ही भारतीय समाज में विद्यमान थी। किन्तु पढी–लिखी नारी घर के चारदीवारी में रहने के लिए तैयार नहीं है। समकालीन संदर्भ में परिवार संबंधी परिकल्पना में काफी बदलाव आया है जिसका विश्लेषण इस समय के उपन्यासों का प्रमुख अंग है।

भारतीय परंपरा के अनुसार विवाह एक महत्वपूर्ण संस्था है। विवाहिता स्त्री, पुरुष के अधीन है। भारत में स्त्री–पुरुष संबंधों के निर्धारण में विवाह की भूमिका अवितर्कित है। इस कारण विवाह और उससे जुड़ी हुई समस्याओं का चित्रण प्रारंभ से ही नारीवादी उपन्यासों के केन्द्र में रहा है। शिक्षा प्राप्त नारी आज पुरुष के अधीन में रहने के लिए तैयार नहीं है। इस कारण पारिवारिक विघटन और तलाक आज साधारण हो गए हैं। तलाकशुदा और विधवा स्त्री का जीवन भी इस समय के उपन्यासों में चित्रित हुआ है जो प्रारंभ से ही नारी केंद्रित उपन्यासों के विषय रहे थे।

नैतिकता और सेक्स संबंधी परिकल्पना

समकालीन नारीवादी उपन्यास लेखिकाओं का विश्वास ऐसा है कि आज हमारे समाज में प्रचलित नैतिकता के मापदण्ड पुरुष द्वारा निर्मित और सर्वदा स्त्री विरुद्ध है। इसलिए उसे मानने की ज़रूरत नहीं है। नैतिकता के मापदण्ड स्त्री–पुरुष के लिए भिन्न–भिन्न है। इस दोहरे मापदण्ड का विरोध नारीवादी उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्ति है। समकालीन संदर्भ में काम संबंधों के मामले में नारीवादी उपन्यास लेखिकाओं के दृष्टिकोण काफी चर्चित हैं। विवाहेतर संबंध और उनमुक्त काम संबंधों का चित्रण भी

इन लेखिकाओं के उपन्यासों में हुए हैं। इस तरह नैतिकता की अवधारणा की नई व्याख्या इस समय की मुख्य प्रवृत्ति बन गई है।

कामकाजी महिला

कामकाजी महिलाओं के जीवन का चित्रण समकालीन नारीवादी उपन्यासों की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। शिक्षा का प्रचार नारी को आत्मनिर्भर बनाने में सहायक सिद्ध हुआ। घर के बाहर भी स्त्री का एक अस्तित्व हो सकता है, स्त्री भी अपने पैरों पर खड़ी हो सकती है, इन बातों को समकालीन नारीवादी उपन्यास लेखिकाओं ने प्रमाणित किया। नए कर्म क्षेत्र में प्रवेश करने के साथ–साथ नारी के जीवन में उभरी नई समस्याओं का चित्रण भी इस समय के उपन्यासों में हुए हैं। कामकाजी महिला के परिवार, उसके साथ पति का व्यवहार, समाज का दृष्टिकोण, सहकर्मियों का आचरण, आर्थिक शोषण आदि मुद्दों को भी समकालीन महिला लेखिकाओं ने उठाया है।

विद्रोही और रूढ़िमुक्त नारी

नारी द्वारा अपने शोषक तत्वों के विरुद्ध विद्रोह की प्रवृत्ति साठोत्तरी नारीवादी उपन्यासों के समय से ही दृष्टिगोचर होती है। समकालीन संदर्भ में प्रस्तुत प्रवृत्ति और प्रखर हो गई है। इस समय के नारी पात्र सामाजिक रूढियों और मान्यताओं को चुनौती देती है। नारी मुक्ति क्या है? नारी–मुक्ति के बाधक तत्व क्या है? इस मुक्ति संघर्ष में पुरुष की क्या भूमिका है? पुरुष और नारी के बीच स्वतंत्रता की परिकल्पना में क्या अंतर है? आदि बातों का विश्लेषण भी समकालीन नारीवादी उपन्यासों में हुआ है। धार्मिक एवं सामाजिक रूढियों को तोडने की प्रवृत्ति प्राय: इस समय के सभी उपन्यासों में हुई हैं।

भूमण्डलीकरण और पारिस्थितिक सजगता

विगत दो दशक भूमण्डलीकरण का समय रहा है। मानव जीवन की सहज गति भूमण्डलीकरण से बहुत अधिक प्रभावित हो गई है। हमारी संस्कृति में भूमण्डलीकरण ज़बरदस्त बदलाव लाया है। इस नई सभ्यता के कारण नारी जीवन में भी पर्याप्त बदलाव आ गया है। परिणामस्वरूप नारी को केवल उपयोगिता की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति हमारे समाज में उभरी है। नारी भी इस मानसिकता के आगे कभी–कभी दिशाहीन अथवा दिगभ्रमित है। नारी जीवन की इन स्थितियों का अंकन भी समकालीन नारीवादी उपन्यासों में हुआ है।

प्रगति के नाम पर होनेवाला प्रकृति शोषण और पर्यावरण प्रदूषण समकालीन संदर्भ की सच्चाई है। प्रकृति की रक्षा का संदेश देने का प्रयास भी समकालीन नारीवादी उपन्यास लेखिकाओं की ओर से हुअ है। इनके अलावा राजनीति, धर्म, और समाज के अन्य क्षेत्रों के भी–नारी जीवन इन उपन्यासों में चित्रित हुए हैं। नारी जीवन को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने और समग्रता के साथ उसकी व्याख्या करने का प्रयास भी इस दौर के उपन्यासों में हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नारी मुक्ति संघर्ष का एक लंबा इतिहास है। इस लंबे संघर्ष से गुज़रते हुए नारी आज की स्थिति में पहूँच गई है। वर्तमान समय में भी उसका संघर्ष ज़ारी है क्योंकि आज भी नारी उतना स्वतंत्र नहीं जितना स्वतंत्र होना चाहिए। समकालीन नारीवादी उपन्यास नारी के इस मुक्ति संघर्ष में साथ देता ही रहता है। उन उपन्यासों का प्रवृत्तिगत विश्लेषण आगे के अध्यायों में किया गया है।

अध्याय–2

नारीवादी उपन्यासों में परिवार

अध्याय–2

नारीवादी उपन्यासों में परिवार

परिवार

समाज की आधारभूत इकाइयों में परिवार का स्थान सबसे अहम है। सभ्यता की शुरुआती दौर में भोजन और खेती की सुविधा के लिए लोग एकजुट होकर रहने लगे। वस्तुतः इससे ही परिवार नामक संस्था का निर्माण हुआ। दरअसल परिवार का निर्माण स्त्री और पुरुष के सह–अस्तित्व और समानता से होता है। सभ्यता के आरंभिक दौर में परिवार मातृसत्तात्मक थे। किन्तु धीरे–धीरे वह पितृसत्तात्मक में परिवर्तित हो गए। फलस्वरूप इसके स्त्री की स्वतंत्रता और अस्तित्व संकट में पड़ गए। परिवारों में स्त्री पुरुष के अधीनस्थ हो गयी। सुरक्षा के नाम पर नारियाँ घरों के अंदर बंदी बनायीं गयीं। राहिला रईस के शब्दों में, " स्त्री और पुरुष के विकास के लिए निर्मित यह संस्था अंततः स्त्री के लिए पिंजरे में ही परिवर्तित हो गयी। परिवार की चारदीवारी के भीतर स्त्री की स्वतंत्रता, उसके सपने, उसकी आकांक्षाएँ सब कैद हो गयीं। स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व ही समाप्त हो गया, यहाँ तक कि उसका अपना नाम तक नहीं बचा। "[1]

समकालीन नारीवादी उपन्यास और परिवार

हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों में स्त्री का रूप परिवार के प्रसंग में ही अधिक चित्रित है। पुरुष उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारी के परंपरागत रूप का ही चित्रण होता था। इस दौर की महिला लेखिकाओं के उपन्यासों में भी नारी का चित्रण

---

[1] राहिला रईस, वर्तमान साहित्य, आगस्त, 2008, पृ–59

पितृसत्तात्मक मूल्यों के अनुरूप ही होता था। किन्तु समकालीन महिला उपन्यासकारों के नारी संबंधी दृष्टिकोण में पर्याप्त अंतर है। उन्होंने पहचान लिया कि नारी के शोषण का आरंभ परिवार से ही होता है।

औरत का गढन

" स्त्री पैदा नहीं होती,बल्कि उसे बना दिया जाता है। " सिमोन द बुआर का प्रस्तुत कथन काफी चर्चित है। पितृसत्तात्मक समाज नारी के ऊपर उसका जो अधिकार और नियंत्रण है, उसे कायम रखने के लिए बचपन से ही उसको पितृसत्तात्मक साँचे में ढालना आरंभ कर देता है। सिमोन द बुआर के शब्दों में, " औरत को औरत होना सिखाया जाता है। औरत बनी रहने के लिए उसे अनुकूल किया जाता है। तथ्यों के विश्लेषण से यह समझ में आयेगा कि प्रत्येक मादा मानव–जीव अनिवार्यतः एक औरत नहीं। यदि वह औरत होना चाहती है, तो उसे और तपने की रहस्यमय वास्तविकता से परिचित होना पडेगा। "[1] इस प्रकार औरत को एक पूर्वनिर्धारित साँचे में ही बडी होनी है। बचपन से ही लड़की की सीमायें निर्धारित की जाती है। उसके लिए अलग शिक्षा दी जाती है और उस पर हमेशा अनुशासन की कडी निगाह बनी रहती है। हिन्दी के समकालीन नारीवादी उपन्यासों में इस प्रकार ' औरत को ढालने ' की प्रवृत्ति का चित्रण कई जगहों पर हुआ है।

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास ' बेतवा बहती रही ' की उर्वशी यह जानते हुए भी चुप है कि उसका भाई ही उसके साथ अन्याय कर रहा है। क्योंकि बचपन से ही उसको जबान काबू में रखने की शिक्षा दी गई है। " लेकिन बड़े भाई से क्या तर्क–वितर्क करे। कभी मुँह नहीं खोला उनके सामने। डर–दबकर ही रही। अम्मा–दादा ने भी

---

[1] सिमोन द बुआर, The Second Sex, स्त्री उपेक्षिता, अनुवादक– प्रभा खेतान, पृ–21

हमेशा चुप रहने की सीख दी थी –" बेटी की जात . . . जुबान काबू में रखें चाहिए। "[1] लड़की के लिए ज़िद अच्छी नहीं है। मैत्रेयी के अन्य उपन्यास

' इदन्नमम ' की मन्दा जानना चाहती है कि उसके पिता कैसे मारा गया? किन्तु बऊ उससे कहती है, " तो बिना जाने सोयेगी नहीं मन्दा। हम जानते हैं इसके सुभाय को , जौन हठ पकरी, फिर नहीं डिग सकता कोई। कितेक समझाई है कि बिन्नू, ऐसा जिद्दी सुभाय न राखो। आगे–आगे क्या जाने किन–किनकी बात माननी परें। और तुम बिटिया की जात, घर– गृहस्थ कैसे चलाओगी ऐसे ज़िद्दियाकें। "[2]

लड़की की चाल–चलन और वेष–भूषा के मामले में भी उसे विशेष शिक्षा दी जाती है। ' माई ' की सुनैना के शब्दों में " शायद तब भी फ्रॉक पहनती तो वे मना नहीं करते! बशर्ते कि पूरी लम्बाई की फ्रॉक हो। बदन ज़रा भी झलकाया न जाए इस पर सभी एकमत थे। लड़की का बदन। औरत का बदन। "[3] ' ठीकरे की मंगनी ' में पैर फेंक–फेंककर चलती हुई महरूख को देखकर उनके छोटे चाचा दादी से कहते हैं, " यह महरूख चलती कैसे है, अम्मां! आप टोकती नहीं इसे क्या?"[4]

' छिन्नमस्ता ' उपन्यास की प्रिया को उसकी माँ हमेशा यूँ डाँटती है–" ठीक से चलो, क्या पैरों की धम आवाज़ करती चलती हो? शऊर से बैठ . . . कूबड़ क्यों निकाल लेती हो? क्या खो–खो लगा रखी है? खाँस रही हो तो खाँसे ही जा रही हो .

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, बेतवा बहती रही, पृ–83

[2] मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ– 23

[3] गीतांजली श्री, माई, पृ– 70

[4] नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, पृ–14

. .?'' और यदि मैं खाँसी दबाने की कोशिश करती तो, '' क्या गाय की तरह गरगरा रही है . . .? ''[1]

' माई ' उपन्यास की सुनैना को लगती है कि आज हमारा समाज खिलौनों में भी लिंग–भेद चढ़ा रहे हैं। लड़का और लड़की को आज अलग–अलग खिलौने देकर उसके चरित्र को निर्धारित करना चाहता है समाज। '' हम दो के अपने खेल थे। हमारे ज़माने में खिलौनों ने बाज़ार को हडप नहीं रखा था। तब ढेर से खिलौने कि ये सुबोध के लिए, ये मेरे लिए, नहीं आते थे। न यह कि उसके लिए बन्दूक और मोटरकार और मेरे लिए गुड़िया और ' किचन सेट '। थे, खिलौने, लड़कों के, लड़कियों के, पर इस कदर लिंग–भेद का रंग उन पर नहीं चढ़ा था। ''[2] यहाँ लड़की के हाथ में गुड़िया और ' किचन सेट ' पकड़ाकर उसे लड़की से नारी में तब्दील करने का पितृसत्तात्मक समाज की साजिश स्पष्ट है।

लड़की को बचपन से ही प्रशिक्षण देकर कैसे एक योग्य पत्नी बना दी जाती है, इसका चित्रण उषा प्रियंवदा का उपन्यास ' शेषयात्रा ' में हुआ है। '' जिंदगी की यह पटकथा अनु को बचपन से ही मिली थी। वह किसी चीज़ के लिए ज़िम्मेदार नहीं है, उसकी सारी ज़िंदगी दूसरों ने निर्धारित की थी, साल में एक बार जब सारे घर के कपडे सिलते थे, अनु के कपडे भी बन जाते थे– पसंद–नापसंद का सवाल ही नहीं उठता था। जो महाराजिन परस देती थी, वह खा लेती थी। स्कूल जाती थी, काँलेज जाने लगी, वह क्या पढ़े, क्या विषय ले ; अनु के लिए कभी प्रश्न नहीं उठा। अनु ने कभी इस बारे में सोचा भी नहीं, जो सब लड़कियों ने लिए, उसने भी ले लिए। . . .

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–44

[2] गीतांजली श्री, माई, पृ–40

. . . .

. . . .

. . . . दृश्य बदल गया था, पटकथा का रवैया वही था। जो ज़िम्मेदारी प्रणव ने पकड़ाई थी, जो भूमिका दी गई थी, वही निभा रही थी। खाना बनाना, घर साफ–सुथरा रखना, प्रणव की पोजीशन के अनुसार कपडे पहनना, पार्टियों में चुपचाप मुस्कुराते रहना। ''[1]

बेटा–बेटी – भेदभाव की दृष्टि

मनुस्मृति में कहा गया है कि –

'' पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुत :।

तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा।। ''

अर्थात, '' जिस कारण पुत्र ' पुं ' नामक नरक से पिता की रक्षा करता है, उस कारण से स्वयं ब्रह्मा ने उसे ' पुत्र ' कहा है। ''[2]

' पुं ' नरक से पिता की रक्षा करनेवाला पुत्र भारतीय परिवारों में विशेष अधिकारों के हकदार है। वह पुत्री की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। पुत्र ही परिवार का नाम और वंश चलाता है। विश्वास ऐसा है कि वृद्धावस्था में पुत्र ही माता–पिता का संरक्षण करने की योग्यता रखता है। इन्हीं कारणों से पुत्र और पुत्री के साथ परिवारवालों के सलूक में गहरा अन्तर है। इस संबंध में श्रीनिवास गुप्त का कथन उल्लेखनीय है –

---

[1] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, पृ–25

[2] मनुस्मृति, व्याख्याकार–पंडित श्री हरगोविन्द शास्त्री,श्लोक–138, अध्याय–9, पृ–513-14

" पुत्री को तो बचपन के पूरे अधिकार भी नहीं दिए जाते हैं। लड़कियों को मौलिक स्वास्थ्य सेवा, पोषण और शिक्षा की पर्याप्त सुलभता से वंचित रखा जाता है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ अधिक संख्या में कुपोषण की शिकार होती हैं। इसी प्रकार परिवारों में लडकों की शिक्षा पर जितना ध्यान दिया जाता है उतना लडकियों पर नहीं दिया जाता। उनके विवाह की बात से उन्हें सदा जोडे रखा जाता है। "[1]

हिन्दी के समकालीन नारीवादी उपन्यासों में बेटा–बेटी पर परिवारवालों के विभेद भरी दृष्टिकोण का चित्रण कई स्थानों पर हुआ है। इन उपन्यासों में चित्रित अधिकांश माता–पिताओं की मानसिकता कुछ ऐसी है कि लड़का और लड़की को समान शिक्षा देने की ज़रूरत नहीं है। मैत्रेयी पुष्पा का ' बेतवा बहती रही ' उपन्यास के बरजोरसिंह का कथन प्रस्तुत मानसिकता का परिचायक है, " हओ, का होत मोंडियन को पढ़ा कें। कौन–सी नौकरी–चाकरी करानें हैं। पराये घर जाने हैं, सो काम–धन्धौ सीखें, गिरिस्ती सम्भारें। "[2]

कृष्णा सोबती का उपन्यास ' ऐ लड़की ' में बेटे को कालेज भेजता है और लड़की को पंडित और मौलवी के पास । अम्मू कहती है, " हाँ, हमारे भाई को भेजा गया कालेज और हम बहनों की पढ़ाई पंडित, ग्रंथी और मौलवी के पास। ज़रा सोचो, मैं अपने भाई की तरह पढ़ती तो क्या बनती! क्या होती मैं और क्या होते मेरे बच्चे! सच तो यह है कि लड़कियों को तैयार ही जानमारी के लिए किया जाता है– भाई पढ़ रहा है, जाओ दूध दे आओ। भाई सो रहा है, जाओ कंबल ओढ़ा दो। जल्दी से भाई को थाली परस दो। उसे भूख लगी है। भाई खा चुका है। लो, अब तुम भी खा

---

[1] श्रीनिवास गुप्त, वसुधा–विशेषांक, 59-60, अक्टूबर 2003-04, पृ–221-22

[2] मैत्रेयी पुष्पा, बेतवा बहती रही, पृ–53

लो। ''[1] चित्रा मुद्‌गल के ' आवाँ ' उपन्यास में फीस में बढोतरी हो जाने के कारण मात्र लडकी को अंग्रेज़ी स्कूल से निकालकर हिन्दी स्कूल में भर्ती करा लेती है माँ। क्योंकि उसका विश्वास ऐसा है कि बेटा ही बूढापे की लाठी है।

वह कहती है, '' छुन्नू (बेटा) ही बूढापे की लाठी है, कुंती। उसी लाठी को तेल–घी चुपड़ पालना–पोसना होगा . . . ''[2]

समकालीन संदर्भ में लड़कियों ने शिक्षा के महत्व को पहचान लिया है। इसलिए प्राथमिक शिक्षा के बाद वह उच्च शिक्षा हासिल करना चाहती है। लेकिन उसके लिए उसे कभी–कभी घर से दूर जाना पड़ता है। लेकिन लडकियों को इस प्रकार दूर भेजना अधिकांश लोगों को अच्छा नहीं लगता। ' ठीकरे की मंगनी ' में महरूख दिल्ली जाकर पढना चाहती है। किन्तु उसका अब्बा जानते हैं कि–'' लाख वह गैर नहीं मगर कुंवारी लड़की को दूसरे शहर यू पढ़ने बेचना . . . . खानदान में कोई इस बात को हज़म नहीं कर पाएगा। एतराज की बौछार से हम बच नहीं पाएँगे। ''[3] और जब वह यह प्रस्ताव घरवालों के सामने रखता है तो ताया का कथन इस प्रकार है, '' मियां, होश के नाखून लो! महरूख लड़की है, शाहिद और राशिद की तरह लड़का नहीं। ''[4]

' माई ' उपन्यास की सुनैना भी शहर के किसी अच्छे स्कूल में पढ़ना चाहती है। किन्तु उसके प्रस्तुत निर्णय से घरवाले भौंचक्के रह जाते हैं। '' नवीं–दसवीं

---

[1] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, पृ–91

[2] चित्रा मुद्‌गल, आवाँ, पृ–404

[3] नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, पृ–21

[4] वही, पृ–23

तक पहूँचते–पहूँचते सुबोध और मैं दोनों ही अड़ गये कि मैं भी किसी अच्छे शहर के अच्छे स्कूल में पढ़ूँगी। दादा–दादी ने ‘ नहीं ’ का फरमाना सुना दिया, बाबू भौंचक्के रह गये और माई ने पूछा, “ क्या ज़रूरत है, क्या कमी है यहाँ? ”[1] और देश के बाहर जाकर पढ़ने की इच्छा पर दादा की प्रतिक्रिया इसप्रकार है , “ दादा चीका करते थे कि इनका भाई स्टेट में फर्स्ट आया है, इन्हें क्या मिला है जो इस तरह उछल रही हैं बाहर जाके पढ़ूँगी? हमें नहीं बिगाड़ना है अपने बच्चों का भविष्य जो ऐरी–गैरी जगह भेजें। सबकी बेटियाँ यहीं पढ़ रही हैं, उनके दिमाग खराब है क्या? ”[2]

लड़का ही वंश को चलाता है, इस विश्वास के कारण अधिकांश पिता अपने ज़ायदाद पुत्रों को ही देना चाहते हैं, चाहे वह जितना भी नालायक क्यों न हो?

‘ कठगुलाब ’ की नीरजा कहती है, “ अपना तमाम कारोबार, फ़ैक्टरी, जायदाद वे मेरे नहीं प्रदीप के नाम कर गए हैं। पता नहीं क्यों मुझे उसका मालाल नहीं है। होना चाहिए। असीमाजी ठीक कहती हैं, कानून बेटे–बेटी को समान अधिकार देता है, देने चहिए। हर जागरूक स्त्री का कर्तव्य है कि वह अपने समानाधिकारों की रक्षा करे। पर मैं देखती हूं, कानून कुछ भी कहे, चारों तरफ़ यही हो रहा है। नालायक–से–नालायक बेटे को जायदाद देने के लालच में, तरह–तरह के प्रपंच करके, बेटी को बेदखल किया जाता है।"[3]

बेटा और बेटी में पितृसत्तात्मक समाज ने इतना अंतर स्थापित कर रखा है कि बेटी को जन्म देनेवाली माँ से सुख की नींद सोई नहीं जाती। ‘ चाक ’ उपन्यास में इस स्थिति का ज़िक्र है, “ उनका (खेरापतिन दादी) मानना है कि जो माता बेटी जनती

---

[1] गीतांजली श्री, माई, पृ– 62

[2] वही, पृ– 88

[3] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–215

है, उसकी साँसें मरते दम तक काँटों में उलझी रहती हैं। आत्मा शूलों से बिंधी घिसटती रहती है। ज़िंदगी सूली पर टाँगी रहती है। लोकाचार और जगत–व्यवहार में आनेवाली परंपराएँ सारे अपयश की गठरी बेटी के सिर धरकर न जाने उसे कब संगीन सज़ा देने की हिमायती हो उठें? दादी के आखरों का सार यही है– बेटी की मइया सुख की नींद सोई है कभी? ''[1]

पुत्र का मोह, अथवा विभेद की भावना परिवारों में इतना सुदृढ हो चुका है कि मरते वक्त भी उसे छोड़ने को लोग तैयार नहीं होते। ' ऐ लड़की ' की अम्मू कहती है , '' लड़की, तुम्हारे नाना के यहाँ लाड़–प्यार–चाव की कमी नहीं थी। खाने–पीने, खेलने–पहनने को बहुत कुछ, पर कहीं एक गहरी लकीर खिंची पडी थी लड़के और लड़की में। तुम्हारे नाना की आखिरी बीमारी में हम सभी बहनें बारी–बारी उनके पास पहूँचती रहीं, पर वह जब आवाज़ दें तो बेटे को ही। मैं बड़ी उचाट हुई। दिल में वितृष्णा–सी हो गई कि ऐसा भी क्या पुत्र–मोह। ''[2] किन्तु प्रस्तुत पुत्र–मोह हमारे सामाजिक व्यवस्था में इतना सुदृढ हो गया है कि स्वयं अम्मू भी इससे मुक्त नहीं है। अपने अंतिम समय में वह भी पुत्र को ही पुकारती है।

'' मुझमें दरारें पड़ रही हैं। अलग–अलग हो रहे हैं मेरे अंग।
यह झमझमाते नीले चेहरेवाला कौन है? क्या मुझे लेने आया है?
जल्दी से मेरे बेटे को बुलाओ . . .

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–10-11

[2] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, पृ–90-91

मेरे पास आओ बेटा . . . मुझे विदा करो! "[1]

हमारी सामाजिक व्यवस्था कुछ ऐसी होगयी है कि लड़की के जन्म को लेकर समाज डॉक्टर को भी दोषी ठहराता है। डॉ . अमृता को इस बात का डर है। इसलिए वह दाई माँ से कहती है , " तुम्हीं जाकर सेठजी से कहो कि लड़की हुआ है। हम बोलेगा तो हमारा प्रेक्टिस खराब हो जाएगा। सब कहेंगे कि डॉ . अमृता से जापा करवाने से लड़की ही होती है। "[2]

कन्याभ्रूण–हत्या

भारत में मध्यकाल के प्रारंभ से ही ' दहेज की ख्याल ' के नाम पर जन्म के साथ ही लड़कियों की हत्या करने की कुप्रथा प्रचलित थी। आधुनिक युग में जन्म से पूर्व गर्भावस्था में ही कन्या शिशुओं की हत्या होती हैं। फलतः इसके, नारी–पुरुष अनुपात का संतुलन आज खतरे में है जो वास्तव में प्रकृति के संतुलन के लिए भी खतरनाक है। नारी–पुरुष अनुपात के इस असंतुलन को श्रीनिवास गुप्त ने एक लेख में यों व्यक्त किया है, " सन 2001 की जनगणना के अनुसार राष्ट्रीय स्तर पर प्रति 1000 पुरुषों पर 933 महिलाओं का अनुपात आता है परंतु 0-6 संवर्ग में यह अनुपात केवल 1000 : 927 ही आता है जबकि 1991 में यह 1000 : 945 था। पंजाब में यह अनुपात 1000 : 793 पाया गया है जबकि 1991 में प्रति 1000 लडकों पर 878 कन्याओं का अनुपात था। इसी प्रकार, गुजरात में 1991 में यह अनुपात 1000 :928 था जो कि अब 1000 : 878 रह गया है। इसके अतिरिक्त, संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की एक ताज़ा रिपोर्ट में बताया गया है कि केवल मुम्बई में वर्ष 1984 में कन्या भ्रूण हत्या के 40,000 मामले प्रकाश में आए तथा तमिलनाडु में छः जनपदों में

---

[1] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, पृ–118

[2] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–26

प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों से प्राप्त आँकडों के अनुसार 1995 में 3178 मामलों में कन्या भ्रूण को नष्ट कर दिया गया। तमिलनाडु में मदुरै की उसिलमपट्टी तहसील में कल्लार जाति में कन्याओं को पैदा होते ही मार देने की प्रथा काफी पुरानी है। ''[1]

भारतीय दण्ड संहिता के अनुसार भ्रूण हत्या के मामलों में दण्ड देने की व्यवस्था है। गर्भस्थ शिशु के लिंग–निर्धारण पर भी कानून द्वारा प्रतिबंध लगाए गए हैं। किन्तु इन तमाम नियंत्रणों के बावजूद कन्या भ्रूण हत्या आज भी समाज में बरकरार है। मध्य युग में अंधविश्वास के कारण लड़कियों की हत्या होती थी और वर्तमान समय गर्भ में ही स्त्री शिशुओं की हत्या होती हैं, जिसका पूरा समर्थन देता है विज्ञान और प्रौद्योगिकी। जाहिर है कि मध्ययुग और प्रौद्योगिकी युग में कन्या भ्रूण हत्या या कन्या शिशुओं की हत्या के मामले में कोई विशेष अंतर है ही नहीं। ' समय सरगम ' उपन्यास में प्रस्तुत विषय की चर्चा की गई है। '' पुरानी व्यवस्था अब भी कायम है नए बदलाओं के साथ। लड़के और लड़की में भेद! परिवार में पुत्री और पुत्र का अबोला द्वंद ज़ारी है। गर्भ में ही पुत्रियों की हत्या और पुत्रों के संरक्षण–साधन! भाई–बहनों में झगडे चलते रहते हैं! कानून बन चुके हैं, मगर उन्हें लागू कौन करेगा! ''[2]

सारे चिकित्सक जानते हैं कि भ्रूण की हत्या करना कानून और मानवीयता दोनों के मुताबिक ठीक नहीं है। किन्तु अतिरिक्त धन के मोह में वे गर्भ गिराने की सहायता करते हैं। 'आवाँ ' की गौतमी का विचार इसप्रकार है कि गर्भ गिराना मामूली सी बात है। '' डाँक्टर पर भरोसा करो। अधिक से अधिक वह हैदराबाद आकर उसकी

---

[1] श्रीनिवास गुप्त, वसुधा–विशेषांक, 59-60, अक्टूबर 2003-04, पृ–222

[2] कृष्णा सोबती, समय सरगम, पृ–92

सफाई करवा देगी। मामूली सी बात है। घंटे–भर का काम है। "[1] प्रस्तुत उपन्यास के ही सोनोग्राफिस्ट के शब्द इस समस्या की गंभीरता का सूचक है। नमिता के गर्भ में लड़का है। किन्तु यह ' खुशखबरी ' सुनकर भी नमिता रो रही है जिससे सोनोग्राफिस्ट हैरान है। वह कहता है , " कमाल है . . . लड़के की खुशखबरी सुनकर रो रहीं आप? यहाँ तो मुश्किल यह है कि गर्भ में लड़की की सूचना पाते ही औरतें बुझ जाती हैं। कई मामलों में तो मैं उनके बार–बार टटोलने के बावजूद झूठ बोल देती हूँ कि बच्चा कमज़ोर है। बताना मुश्किल है कि लड़का है या लड़की। बेहतर होगा वे गर्भ गिराने का खयाल मन से निकाल दें। बेटी जन्मने पर कई सास–ससुर ने आकर नर्सिंग होम में हंगामा मचाया। सोनोग्राफिस्ट ठग है। एक के घर तो पहली ही बेटी जन्मी थी . . . उसे भी नहीं चाहते थे वे। मुझसे बहुत झगड़ा हुआ। झूठ क्यों बोला मैंने? धमकाकर गए, दंड भुगताना होगा मुझे।"[2] और यह धमकी सच निकलती है। स्कूटर पर चलते समय उस पर चाकू फेंका जाता है।

परिवार संबंधी परिकल्पना

एक औसत भारतीय नारी के जीवन का अधिकांश समय परिवार के अंदर ही बीत जाता है। परिवार में नारी के स्थान या भूमिका की चर्चा नारीवादी लेखिकाओं का ध्यान हमेशा आकर्षित करती है। हिन्दी के प्रारंभिक महिला लेखिकाओं के उपन्यासों में नारी का चित्रण पितृसत्तात्मक मूल्यों के अनुरूप ही होता था। ' आदर्श गृहिणी ' की परिभाषा पुरुष द्वारा ही दिया जाता था, जिसका अनुसरण उस समय के महिला उपन्यास लेखिकाओं ने भी किया। पातिव्रत्य का पालन, आदर्श पत्नी और आदर्श

---

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–492

[2] वही, पृ–502

माता का रूप, विनय, सदाचार, शिष्टाचार, आदि विषयों को लेकर उपदेश देना ही इनके उपन्यासों की मुख्य प्रवृत्ति रही थी। किन्तु समकालीन नारीवादी उपन्यासों में नारी जीवन का यथार्थ ही चित्रित हुआ है। समकालीन नारीवादी लेखिकाओं ने इस सत्य को सबके सामने प्रकट किया कि सदियों से परिवार के अंतर्गत नारी एक व्यक्तित्वहीन इकाई मात्र थी।

भारतीय परिवारों की संरचना के संबंध में राकेश कुमार का कथन उल्लेखनीय है। " हमारा पितृसत्तात्मक समाज निश्चित रूप से ऐसी ही साँचों में ढली हुई कर्तव्यनिष्ठ, समर्पणशील, अस्तित्वहीन, आत्महीन, वाणीहीन, स्त्रियों पर गर्व और गौरव अनुभव करता है। वह उन पर गर्व कैसे न करे! उसे एक साथ जीवन संगिनी, दासी, सेविका, वाणीहीन प्रतिक्रियाहीन सुंदर मूर्ति जो प्राप्त हुई है। अतः वह कैसे गर्व न करे! यही उसकी परम आवश्यकता है। यही भारतीय परिवारों की संरचना का अनुशासन है। "[1] परंपरा से चली आ रही इस संरचना को समकालीन नारीवादी लेखिकाओं ने ध्वस्त किया। राकेश कुमार के ही शब्दों में " स्त्री विमर्श में पारिवारिक मूल्यों तथा उसके अनुशासन को लेकर बहस छिड़ी है, क्योंकि स्त्रीवादी लेखिकाओं का स्वीकारना है कि भारतीय परिवारों की संरचना उत्पीड़नकारी, दमनकारी एवं पितृक है। वह स्त्री को उपनिवेश बनाती है। यही कारण है कि परिवारों, पारिवारिक संरचनाओं में पितृसत्ता का वर्चस्व है। परिवार के नियम, कानून, मान्यताएँ स्त्री को अनुकूलित करती हैं। पितृक सत्ता का एक मात्र लक्ष्य है स्त्रियों को पारिवारिक मूल्यों के नाम पर उत्पीडन के शिकंजों में जकड़ना। स्त्री विमर्श ने ऐसे मूल्यों को दमनकारी, खतरनाक

---

[1] राकेश कुमार, नारीवादी विमर्श ' पृ– 17

माना है। उनका विरोध किया है। परिवारों की संरचना सामंतीय है जिनमें स्त्री कैद है। ”[1]

भारतीय परिवारों में नारी को दोयम दर्जा ही हमेशा हासिल है। घर पर उसका कोई अधिकार नहीं है । सभी पुरुष अपने को घर का स्वामी या कर्ताधर्ता मानता है। औरत के लिए वास्तव में कोई घर है ही नहीं। पिता या पति के घर में ही उसे रहना पड़ता है। दोनों जगहों पर उसकी हैसियत में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई देता। ‘ बेतवा बहती रही ’ की उर्वशी के शब्दों में, “ आज फिर . . . क्या हुआ घर? उसका कोई घर नहीं। वह घर तो उसके पिता का है। घर उसके पति का था और घर है उसका भाई का। शायद हर औरत झूठे व्यामोह के सपने देखती है . . . मरीचिका के पीछे भागती रहती है। ”[2] ‘ अपने–अपने चेहरे ’ की रमा के शब्दों में भी यही बात प्रकट हुई है कि वास्तव में औरत के लिए कोई घर नहीं है। “ घर? औरत का कब कौन–सा घर हुआ है? वह रीतू के पति का घर है , यह पिता का, फिर भाइयों का। ”[3] ‘ चाक ’ के सारंग को भी लगती है कि उसका कोई घर नहीं है। वह सोचती है, “ मेरा घर है कहाँ? रंजीत का हुक्म याद है। कुछ भी हो, घर उनका है। मुझे उसमें रहने के मोहलत है तो रंजीत के हिसाब से। ”[4]

भारतीय समाज में शादी के बाद औरत का घर ससुराल ही है। विदा के वक्त उसको ‘ छिन्नमस्ता ’ की प्रिया की तरह कुछ इस प्रकर का उपदेश मिलता है। “

---

[1] राकेश कुमार, नारीवादी विमर्श ’ पृ– 11

[2] मैत्रेयी पुष्पा, बेतवा बहती रही, पृ–109

[3] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ–102

[4] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–310

विदा के वक्त अम्मा ने कहा था – बेटी की डोली पीहर से उठती है और अर्थी ससुराल से ''[1] इसी कारण जब एक बार प्रिया पति से रूढकर घर आ जाती है तो माँ कहती है, '' देखा, मैंने तो तुझे इस घर से विदा कर दिया। अब मेरे घर में तेरी जगह नहीं है। ''[2] ' अपने–अपने चेहरे ' की मिसेज गोयनका तो अपनी बेटी के सामने दो विकल्प रखती है। उसके बारे में वह कहती है–

'' मैंने तो कह दिया मेरे घर में जगह नहीं है। रहना है तो यहीं रह(ससुराल में), नहीं तो कुएँ में पड़। ''[3]

भारतीय नारी हमेशा पुरुष के अधीन में रहने के लिए विवश है। घर का रक्षक या स्वामी या कर्ताधर्ता सभी पुरुष है। ' चाक ' के रंजीत हो, ' छिन्नमस्ता ' के नरेन्द्र हो, ' एक ज़मीन अपनी ' के सुधांशु हो, ' शाल्मली ' के नरेश हो, सभी के स्वरों में इसी बात का संकेत है कि वे ही घर के स्वामी हैं। इन पुरुषों के शब्दों में अतिशय समानता है।

रंजीत का कथन, '' इस घर का मालिक मैं हूँ। यहाँ वही होगा, जो मैं चाहूँगा। मैं इस घर का कर्ताधर्ता। ''[4] ' छिन्नमस्ता ' के नरेन्द्र का स्वर भी इससे कुछ भिन्न नहीं है। '' हाँ, यह घर मेरा है, और सुनो, संजू भी मेरा है। कानून की नज़र में बेटे की कश्टडी बाप को मिलती है। '' .... '' यह मत भूलो प्रिया कि मैं पुरुष

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–160

[2] वही, पृ–148

[3] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ–91

[4] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–(156)

हूँ, इस घर का कर्ता। यहाँ मेरी मर्ज़ी चलेगी ; हाँ सिर्फ मेरी। ''[1] ' शाल्मली ' के नरेन्द्र के स्वर में यह गर्व का भार भी निहित है कि घर का सारा भार उठानेवाला अकेला वह है। वह कहता है , '' मैं ठहरा इस घर का रक्षक। भले ही तुम मुझे स्वामी न समझो, मगर सारी बोझ कोल्हू के बैल की तरह मेरे कन्धों पर डाल देती हो, . . . ''[2]

' एक ज़मीन अपनी ' की अंकिता के मन में घर के बारे में जो उम्मीदें हैं उसको तहस–नहस करता है उसका पति सुधांशु। वह दोस्तों को घर बुलाकर उनके साथ देर रात तक ताश खेलते हैं, शराब पीते हैं जो अंकिता से सहा नहीं जाता। इस संबंध में सुधांशु और उसके बीच कलह होता है। उनके संवाद से–

'' मैं घर को जीना चाहती हूँ, बरदाश्त करना नहीं . . .और . . .।''

'' और क्या?''

'' और . . . धर्मशाला की तख्ती आज से मेरे घर के दरवाज़े पर नहीं टंगेगी . . . मैं सिर्फ गृहिणी ही नहीं हूँ . . . एक स्त्री भी हूँ . . . आखिर सुबह से रात के बीच कोई एक क्षण ऐसा नहीं हो सकता जिसे मैं नितांत अपने लिए जी सकूँ . . . कागज़–कलम लेकर बैठ सकूँ। जो पढ़ना चाहती हूँ पढ़ सकूँ . . . लिखना चाहती हूँ लिख सकूँ?' '' यह मेरा घर है . . . और यहाँ तख्ती वही लटकेगी जैसी मैं चाहूँगा . . . इसका फ़ैसला तुम कैसे कर सकती हो?''[3] यहाँ भी यह बात स्पष्ट है कि घर के बारे

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–13

[2] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–13

[3] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–18-19

में या अपने व्यक्तिगत मामलों में, स्वतंत्र निर्णय लेने के अधिकार से नारी हमेशा वंचित है।

‘ शेषयात्रा ’ की अनु तो बिलकुल एक व्यक्तित्वहीन इकाई है। उसके सारे कार्य पति प्रणव के मूड़ के मुताबिक ही संपन्न होता है। “ प्रणव से मशविरा किए बिना वह कोई निर्णय नहीं ले पाती, ‘ आज क्या खाओगे ’ से लेकर ‘ मैं शाम को क्या पहनूँ ’ सभी प्रणव की मर्ज़ी से होता है। अनु प्रणव के मूड से चलती है। वैसे ही हँसती है, वैसे ही चुप हो जाती है। ”[1] ‘ माई ’ में इस बात का चित्रण किया गया है कि पुरुष कैसे पूरे घर को अपने ईशारों से नचाता है। “ दादा को, घर में क्या हो रहा है, उसमें न दिलचस्पी थी, न उसका ज्ञान, यों लगता। पर सरगना वही थे और जब चाहें दिलचस्पी ले लेते, न–बोली बात भी सुन लेते। क्या मजाल कि उनकी मंशा के खिलाफ कुछ हो। या उनकी चाह टाली जाये। चींटें को कहें शेर तो वही सही, लातों को कहें प्रेम तो वह भी। आदेश दें तो पूरे घर को सिर पर खड़ा होना पडेगा। दादा किसी सोच में डूबे, भूल से कह जायें, “ आज मटर का निमोना और चावल खायेंगे ” तो बना–बनाया खाना एक तरफ सरकाके माई दोबारा जुट जाती। ”[2]

औरत तो घर के अंदर हमेशा पुरुष के ज़ेर–साया में रहने के लिए मजबूर है। पुरुष के लिए घर में भी अनेक भूमिकाएँ हैं। ‘ दिलो–दानिश ’ की कुटुंब प्यारी अपने पति के बारे में सोचती है– “ आखिर यह शख्स है तो कौन है! हमारे खाविंद, बऊआजी के बेटे, किसी के बाप, किसी के चाचा–भाई–भतीजे और किसी के मेहबूब! एक ही आदमी जाने शतरंज की कितनी चालें चला करता है। पूरी गृहस्थी को अलग–अलग गोटों से खेलता है। किसी को रिझाता है। पटाता है। सताता है। ज़ेर–साया में तो

---

[1] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, पृ–25

[2] गीतांजली श्री, माई, पृ– 33

हम पड़े हैं। इनके लिए तो कसोरा हैं। पिया, जी भर गया तो दूसरा उठा लिया। और हम? हम? ''[1]

'ऐ लड़की' की अम्मू के अनुसार गृहस्थी में सारी शोभा नामों की है। लड़की के लिए घर में स्वयं कोई अस्तित्व है ही नहीं। घर के किसी पुरुष के साथ के रिश्ते के अनुसार ही उसकी पहचान है। अम्मू कहती है, '' लड़की, अपने आप में आप होना परम है, श्रेष्ठ है! चलाई होती न परिवार की गाड़ी तुमने भी, तो अब तक समझ गई होती कि गृहस्थी में सारी शोभा नामों की है। यह इसकी पत्नी है, बहू है, माँ है, नानी है, दादी है! फिर वही खाना, पहनना, और गहना! लड़की, वह नाम की ही महारानी है। सब कुछ पोंछ–पाँछ के उसे बिठा दिया जाता है अपनी जगह पर! ''[2]

पुरुष जब पूरे घर और पत्नी को अपने नियंत्रण में रखना चाहता है तब नारी समझौते के लिए विवश हो जाती है। पढ़ी–लिखी और नौकरी पेशा होते हुए भी शाल्मली को घर की शांती बनाए रखने के लिए इसप्रकार का समझौता करना पड़ता है, '' उनके जीवन की सभी समस्याओं के समाधान और महत्वपूर्ण मुद्दों पर फैसला लेने का अधिकार केवल नरेश को था। यह बात दिन की तरह साफ–साफ शालम्ली को कुछ दिन बाद समझ में आ गई थी। अधिकार जैसा तंत्र उसके पास नहीं था। परिवार की शांती बनी रहे, सो उसने हर तरह की हठ को मनवाने की कुंठा से परे बड़ी खामोशी से अपना अधिकार और इस घर का साम्राज्य नरेश के हवाले कर दिया। ''[3]

---

[1] कृष्णा सोबती, दिलो–दानिश, पृ–125

[2] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, पृ–76-77

[3] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–62

नारी के मन में परिवार के संबंध में जो अवधारणाएँ हैं वह ‘ कठगुलाब ’ की नर्मदा के शब्दों में व्यक्त होती है। नर्मदा के मन में एक ऐसे घर की परिकल्पना है, जहां सब लोग खुश है। नर्मदा मानसिक रूप से असंतुलित अपने भाई को भी अपने साथ रखना चाहती है, “ मेरा अपना घर है, सिलाई मशीन है, काम है, कमाई है, मरद है। वो जीजा जैसा बिलकुल ना है। बावला मेरे साथ रहवे है। मेरे सिलाई के काम में मदद करे है। मैं कोट–पेंट सिऊं हूं, बढिया, बिल्कुल वैसे जैसा मां जी सिएं हैं। अपने मरद के लिए.....एक कमीज–पैंट। बावले के लिए भी.......बावला हंस रहा है......मेरा मरद हंस रहा है........हम सब हंस रहे हैं...... ”[1]

परिवार नामक संस्था का निर्माण किस उद्देश की पूर्ती के लिए किया गया था और सामाजिक संरचना में इसका क्या महत्व है, आदि को लेकर ‘ समय सरगम ’ की ईशान का विचार उल्लेखनीय है, “ मानवीय मन के आवेग और आवेश को परिवार ही नियंत्रित करता है। असंख्य डेरों से वह समाज से जुड़ा है। इसी में रहकर स्त्री–पुरुष दोनों अपनी–अपनी अंत:शक्तियों को विकसित कर सकते हैं। ”[2]

समकालीन महिला लेखिकाओं के उपन्यासों में वर्तमान पारिवारिक व्यवस्था के प्रति असंतोष प्रकट किए गए हैं। घरों के अंदर, औरत की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको चित्रित करने का प्रयास इन लेखिकाओं ने किया है। अभी तक स्वस्थ, और सुखी समझे जाने वाले परिवारों में नारी किस तरह अस्मिता–विहीन जीवन जी रही हैं इसका अंकन भी इनके उपन्यासों में हुए हैं।

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–140

[2] कृष्णा सोबती, समय सरगम, पृ–66

विवाह की अवधारणा

“ मनुष्य के सामाजिक जीवन को संतुलन व स्थायित्व देने में जिस संस्था या प्रथा की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका रही है, वह है विवाह। विवाह मानव जाति को स्वस्थ एवं संतुलित ढंग से आगे बढ़ाने की व्यवस्था है और साथ–साथ वह यौन संबंधी अराजकता एवं अव्यवस्था पर अंकुश लगाता है। वास्तव में परिवार की अवधारणा का पूरा ढाँचा विवाह की ही नींव पर खड़ा है। ”[1] प्रस्तुत कथन से स्पष्ट है कि विवाह प्रत्येक मानव प्राणी के लिए कितना महत्वपूर्ण संस्था है। किन्तु पितृसत्तात्मक समाज के लिए विवाह भी स्त्री को अपने अधीनस्थ बनाये रखने का हथियार मात्र है। वे स्त्री–जीवन के अंतिम लक्ष्य को विवाह तक सीमित रखते हैं। किन्तु विवाह के मामले में भी स्त्री के चयन करने के अधिकार से वे उसे वंचित रखते हैं। स्त्री पर यह आरोप लगाया जाता है कि कोई निर्णय लेने की क्षमता उसमें है ही नहीं। किन्तु यहाँ स्मरणीय है कि वह इस प्रकार क्षमता विहीन पितृसत्तात्मक ढाँचे में ढलने के कारण ही हुई है। श्रीमती रेखा कस्तवार लिखती है, “ बचपन से मनोवैज्ञानिक रूप से अधीनस्थ की भूमिका के लिए तैयार करना स्त्री के अपने निर्णय दूसरों को सौंपने पर विवश करता है और विवाह जैसे महत्वपूर्ण निर्णय स्त्री के हिस्से में ही नहीं आते। ”[2]

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में विवाह संबंधी अवधारणाओं में काफी परिवर्तन आया है। पत्नी, पतिव्रता जैसे शब्दों की अवधारणाओं में भी काफी परिवर्तन द्रष्टव्य है। यह परिवर्तन साठ के बाद ही आरंभ हुआ था, “ हमारे उपन्यासों में भी पतिव्रता नारी का अर्थ बिल्कुल बदला हुआ है, वह भी विशेष कर साठोत्तरी उपन्यासों में, जहाँ प्राचीन काल की पतिव्रता नारी की कल्पना की गुंजाइश नाम–मात्र के लिए भी नहीं

---

[1] सुभाष सेतिया, स्त्री अस्मिता के प्रश्न, पृ–54

[2] रेखा कस्तवार, स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, पृ–137

रहती। प्रेमचन्द पूर्व या प्रेमचन्द–युग में भले ही कुछ ऐसी नारियों का वर्णन किया गया हो जो समर्पित भाव से पतिव्रता धर्म का पालन करती हो पर साठोत्तरी युग में कुछ अपवादों को छोड़कर पतिव्रता स्त्री के आदर्श की परिभाषा ही बदल गई है। ''[1]

विवाह की अवधारणा और समाज

हमारी सामाजिक व्यवस्था में अविवाहित लड़की आज भी माँ–बाप के लिए सोच और बोझ दोनों हैं। अविवाहित लड़की को समाज आज भी शक की दृष्टि से ही देखते हैं। '' मनुस्मृति '' में कह गया है कि–

'' कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः।

मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्या मातुररक्षिता।। ''[2]

इस श्लोक के अनुसार समय पर याने कि, ऋतुमती होने से पूर्व लड़की के विवाह नहीं कराने वाला पिता निन्दनीय है। इस ' निन्दा ' से बचने के मोह से पिता लड़की की शादी किसी न किसी प्रकार किसी से भी कराने को तैयार हो जाते हैं। किन्तु हमारे समाज में प्रचलित दहेज–प्रथा लड़की के विवाह को पिता के लिए एक बोझ सिद्ध हो चुकी है। बेटी के जन्म से लेकर ही दहेज की चिन्ता माँ–बाप को परेशान करने लगती है। ' बेतवा बहती रही ' की उर्वशी की माँ की स्थिति ठीक इसी प्रकार है। '' उर्वशी की अम्मा अब दिन–रात उसके ब्याह की फिकर में पड़ी रहतीं। शादी के प्रश्न में उलझी उसके पिता के कान पर कुतरनी–सी लगी रहतीं, '' अब लरका देखौ मोंड़ी के लानें। अब हीं से देखोगे तब न साल–दो साल में संबंध तै हो

---

[1] डॉ० नीलम मैगज़ीन ' गर्ग ', साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास में नारी, पृ–31

[2] मनुस्मृति, व्याख्याकार–पंडित श्री हरगोविन्द शास्त्री,श्लोक–4, अध्याय–9, पृ–479

पाहै। तुम्हें कछू–सोच–फिकर नहीं है। अरे बिटिया जनमत ही से बाप ब्याही की सोचन लगत। दहेज जोरन लगत। ''[1] ' पीली आँधी ' के म्हलीरामजी भी अपनी बेटी के ब्याह को लेकर काफी चिन्तित है। '' चुरू में म्हलीरामजी को रात–दिन बेटी के ब्याह की चिंता सता रही थी। कलकत्ता से आये छह महीने हो गए थे। बेटी के संबंध का जुगाड़ कहीं हो नहीं रहा था। उनको रात–दिन चिंता लगी रहती। कहावत है ना कि बेटी के ब्याह की चिंता जितनी उसके घरवालों को नहीं होती उतनी गाँव वालों को हो जाती है। ''[2]

दहेज लेना कानूनन जुर्म है। किन्तु दहेज के बिना लड़की की शादी संपन्न होना संभव नहीं है। सुयोग्य वर को मिलने के लिए लड़की के माँ–बाप को लाखों खर्च करना पडता है। आज वर का भाव काफी बढ़ चुका है। ' स्मृति–दंश ' के चन्दन की माँ के शब्दों में, '' आजकल बेटी ब्याहना क्या आसान है रे . . .। पोच से पोच वर का रेट लाख के ऊपर है, सामान–सट्‌टा हुआ सो अलग। इतना जुटा पाना सबके बस की बात है क्या? फिर अनब्याही बेटी भी कहाँ तक अपने खूँटे बाँधे रहे कोई। ऊँच नीच . . . सौ बात उठती है। ''[3]

लड़की के विवाह का खर्च इतना बढ़ गया है कि बाप की जेब खाली हो जाती है और इतने पर भी लड़के का परिवार खुश नहीं है। '' शादी दिसंबर में हुई। नेगाचर, खातिर–तवाज़े में अगरवलजी की जेब खाली हो गई। बीस लाख के बदले

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, बेतवा बहती रही, पृ–24

[2] प्रभा खेतान, पीली आँधी, पृ–101

[3] मैत्रेयी पुष्पा,स्मृति–दंश, पृ–34-35

बाईस लाख का खर्चा हुआ। लेकिन क्या फिर भी लड़के वाले खुश हुए? अगरवालजी को लगा, शायद नहीं हुए। लेकिन क्या किया जा सकता था? ''[1]

' कठगुलाब ' में स्मिता के जीजा जी के लिए स्मिता का विवाह एक बोझ है। वह किसी न किसी तरह इस बोझ या माल से निबटना चाहता है। वर की योग्यता–अयोग्यता का कोई ख्याल उसे नहीं है। '' वह जी–जान से उसकी शादी कराने की कोशिश में लग गए। माल बचाने के लिए जी–जान का खर्चा कुछ ज़्यादा ही करना पडता है सो जीजा जी कर रहे थे। स्मिता के जी–जान की यों भी कोई कीमत नहीं थी, उनकी नज़रों में। इसलिए जो भी मोटा, अधेड या गावदी लडका बिना दहेज शादी करने को तैयार दीखता, वे उसे घर आने का न्योता दे देते . . ''[2]

लड़की की बढती उम्र परिवारवालों के लिए हमेशा चिन्ता का विषय है। ' माई ' की सुनैना को साड़ी में देखकर उसके बाबूजी को अच्छा नहीं लगता। '' लेकिन बाबू को मेरा साड़ी पहनना, बी.ए में भी, बुरा लगता। कहते, बड़ी लगने लगती हो, माँ–बाप को चिन्ता होने लगती है। ''[3]

दहेज जुटाना लड़की के माँ–बाप के लिए इतनी गंभीर समस्या होने पर भी उसके प्रति समाज की प्रतिक्रिया उतना वांछनीय नहीं है। इस अनाचार के विरुद्ध चुप्पी साधना ही अधिकांश लोग उचित समझते हैं। ' बेतवा बहती रही ' में दहेज के कारण शशिरंजन की बहिन की शादी टूट जाती है। पाँव पकडऩे पर भी ससुर राजी

---

[1] प्रभा खेतान, पीली आँधी, पृ–171

[2] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–14

[3] गीतांजली श्री, माई, पृ– 70

नहीं होते। शादी करने आए युवक भी अपने पिता के फैसले के सामने खामोश है और साथ आये बराती भी। “ और वर का लिबास पहने वह छः फुटा युवक रीढ़विहीन निकला, गूँगा साबित हुआ– पिता के समक्ष जड़ ताले लगा लिए जीभ पर। वह पालतू कुत्ते–सा बिन ब्याहा ही पिता के पीछे–पीछे लौट गया। . . . . आश्चर्य में थे कि वर और पिता तो निजी स्वार्थ में ऐसा कर गये लेकिन साथ आये बराती? केवल सुअर की नाईं खाने–भर को विवाह के साक्षी नहीं थे वे? ”[1]

अपनी ही शादी के मामले में ही सही, स्वतंत्र निर्णय लेने या वर को चयन करने के अधिकार से लड़की को हमेशा वंचित रखा जाता है। शादी का अनुबंध दर असल दामाद और ससुर के बीच होता है। लड़की की मर्ज़ी–बेमर्ज़ी की फिक्र किसी को नहीं है। लडकी को बचपन से पति के महत्व और पत्नी की फर्ज़ों की शिक्षा दिया जाता है। ‘ ठीकरे की मंगनी ’ में महरूख को भी यही सिखाया गया है कि “ शौहर

‘ मजाज़ी खुदा ’ होता है। एक खुदा ऊपर जो हकीकी होता है, आसमान पर रहता है, दूसरा इस दुनिया में। इसलिए शौहर की फ़रमाबरदारी करना हर औरत का फर्ज़ होता है। ”[2]

‘ शेषयात्रा ’ की अनु की शादी के समय पूरे घर में उल्लास और हलचल का माहौल है। किन्तु तब भी अनु की अवस्था इस प्रकार है , “ सारे तूफान, हलचल के बीच अनु छुप है। उससे कुछ पूछा नहीं जाता, उसे कोई कुछ नहीं बताता, पर घर में जो उल्लास है, उसे वह देखती है। ”[3] ‘ अन्तर्वंशी ’ की वाना को एक पशु की तरह

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, बेतवा बहती रही, पृ–74
[2] नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, पृ–31

[3] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, पृ–15

पकड़कर शिवेश से शादी करवाई गई है। उसकी मर्ज़ी–बेमर्ज़ी की ख्याल किसी को नहीं था। वाना कहती है–“ शिवेश के बाप ने पकड़ा दिया मैं एक पशु की तरह चली आई, जो बचपन से, समाज ने शिक्षा दी, वही लीक पकड़कर चलती रही। ”[1]

लड़की के भार से जल्दी ही मुक्त होने के लिए उस पर बहुत सारे दबाव लगाया जाता है और इस दबाव में पड़कर उसे मजबूरन शादी करनी पड़ती है।

‘ सात नदियाँ एक समंदर ’ की परी के साथ यही होता है, “ परी के पिता जवान लड़की का बोझ जल्दी ही हलका करना चाहते थे। उधर परी तीसरी माँ का चेहरा देखने के भय से अधमरी हो रही थी। इसलिए जब पिता ने बेटी के विवाह का प्रश्न उठाया तो उसने अपनी खामोश रज़ामंदी दे दी। बड़ी सादगी से परी का विवाह खालिद से हो गया था। ”[2]

‘ स्मृति–दंश ’ की भुवन की शादी विजय के साथ होती है, जो वास्तव में एक पागल है। यहाँ शादी पागलपन का इलाज है। ज़ाहिर है कि इस प्रकार के इलाज में लड़की को अपने जीवन की आहुति देनी पडत़ी है। विजय की माँ भुवन से कहती है, “ बेटी अब तू कहेगी कि इसका ब्याह क्यों किया। सभी ने यही सलाह दी थी कि शादी कर दो, बहू आ जाएगी . . . अपने आप ठीक हो जाएगा। ”[3]

---

[1] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वंशी, पृ–105

[2] नासिरा शर्मा, सात नदियाँ एक समंदर, पृ–69

[3] मैत्रेयी पुष्पा, बेतवा बहती रही, पृ–48

विवाह की अवधारणा–नई दृष्टि

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में ऐसी नारियों का चित्रण उपलब्ध है जो विवाह को जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं मानती। कुछ ऐसी नारियों का भी चित्रण इन उपन्यासों में हुआ है जो विवाह को जीवन का एक अनिवार्य संस्था के रूप में स्वीकारने को तैयार नहीं है। विवाह नामक व्यवस्था से ही घृणा करनेवाली तथा आजीवन विवाह न करने का फैसला करनेवाली नारियों का चित्रण इन उपन्यासों में देखा जा सकता है। नारी की इस बदली हुई मानसिकता का चित्रण वस्तुतः इस समय के उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्ति रह गयी है।

माँ–बाप की ज़िंदगी का असर उनकी संतानों पर भी पड़ता है। ' आवाँ ' में अपनी माँ–बाप का असंतृप्त वैवाहिक जीवन देखकर शादी–प्रथा से ही नमिता का विश्वास उठ जाता है। वह माँ से कहती है, " ब्याह–शादी पर से मेरा विश्वास उठ गया है। तुम्हारे और बाबूजी के कटु संबंधों ने इसकी कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी। "[1] इसी उपन्यास की स्मिता पर भी माँ–बाप के असंतृप्त वैवाहिक जीवन का असर है। विवाह में उसकी कोई आस्था नहीं रह गई है। उसकी यह अनास्था उसके प्रेमी को लिखे गए पत्र से व्यक्त होता है। " विक्रम को उसने एक धांसू सुझाव लिख मारा है। उसे इंग्लैंड में टिकना है तो निश्चय ही किसी गोरी को पोटपाट उससे ब्याह रचा ले, या फ़िर वहीं बसे किसी हिंदुस्तानी श्वसुर की बेटी से भांवरे डाल, ब्रिटीश नागरिकता हासिल कर ले। जब तक उसकी पढ़ाई पूरी नहीं हो जाती, इतमीनान से उनका घरजमाई बना गुलछर्रें उडाए। बस उसके इंग्लैंड में पांव देते ही पत्नी से तलाक ले ले। इंग्लैंड कोई हिंदुस्तान जैसा लिजबिज देश तो है नहीं कि इस जनम का मांगा तलाक अगले जन्म

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–249-50

में हासिल हो! तलाक न मिले तो उनके परस्पर संबंधों में कोई फर्क नहीं पड़ने वाला। भांवरों की महिमा में उसकी कोई विशेष आस्था नहीं। अपने मां–बाप का गठबंधन सबक है उसके लिए। ''[1]

' कठगुलाब ' की नीरजा शादी और प्रेम को पर्याय नहीं मानती। शादी में उसका विश्वास नहीं है। बिना विवाह किए विपिन के साथ रहने को वह तैयार है। विपिन और नीरजा के बीच का संवाद–

" कितनी उम्र के पुरुष आकृष्ट करते हैं तुम्हें? "

" आपकी उम्र के। "

" मुझसे शादी करोगी? "

" नहीं "

" ओह! यानी मैं........पसंद नहीं? "

" नहीं, आप पसंद है, शादी पसंद नहीं। "

" क्या मतलब? "

" पसंद और शादी पर्याय है क्या? "

" बिल्कुल नहीं "........." शादी में मेरा भी विश्वास नहीं है। "

" आपने सोचा होगा, मेरा है। "

" हां। "

---

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–434

" नहीं है। "

" तब......बिला शादी तुम मेरे साथ रहना पसंद करोगी? "

" हां........."[1]

नीरजा ने विवाह न करने का निर्णय इसलिए लिया है कि उसके अनुसार विवाह का अर्थ है ‘ युद्धस्थल ’। “ उसने विपिन से कभी कुछ कहने से परहेज नहीं किया था। तब भी नहीं किया। विस्तार और स्पष्टता से उसे बतलाया कि वह विवाह इसलिए करना नहीं चाहती थी, क्योंकि उसके लिए विवाह का अर्थ रहा था, युद्धस्थल। ”[2] ‘ ठीकरे की मंगनी ’ की महरूख शादी की ज़रूरत को मानती है। किन्तु साथ ही नारी के चयन करने के अधिकार का समर्थन करती है। वह कहती है, “ . . . शादी हर औरत–मर्द के लिए ज़रूरी है, मगर इतनी भी ज़रूरी नहीं है कि वह बेजान दीवारों और बेज़बान पलंगों से कर ले या जो भी अंधा, लूला, लंगड़ा रास्ते में आ टकराए उसी के साथ निकाह पढ़वा लिया जाए। ”[3]

आधुनिक नारी किसी की आत्मदया नहीं चाहती। ‘ इदन्नमम ’ की मन्दाकिनी मकरंद के साथ का उसका संबंध घनिष्ठ होते हुए भी उसे शादी में तब्दील करना आवश्यक नहीं समझतीं। “ मन्दाकिनी ने भाभी के घुटने पर हाथ रख दिया, जैसे उन्हें छूकर टटोल रही हो, पूछ रही हो कि ब्याह से ही पूरा होता है जीवन? फिर मकरन्द ने

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–211

[2] वही, पृ–214

[3] नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, पृ–136

भी तो नहीं रखा किसी को उसके स्थान पर। वह क्यों आत्मदया में जिए। क्यों तरस की भागीदार बने? अपनी इच्छा से ही तो चुना है जीवन का यह रूप। ''[1]

आधुनिक नारी ने पहचान लिया है कि शादी, स्त्री का शोषण करने के हथियार के रूप में पुरुष इस्तेमाल कर रहा है। नारी के आत्मसमर्पण के बदले उसे अवज्ञा ही हासिल होती है। ' सात नदियाँ एक समंदर ' की तय्यबा इसलिए शादी को औरत के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप मानती है। वह कहती है, '' इसीलिए मैं कहती हूँ, शादी की रस्म ही एक अभिशाप है। वहीं से वास्तव में औरत का पतन और शोषण आरंभ होता है। सारी ज़िन्दगी अपना कौमार्य सहेजकर रखो कि यह पतिधन है। मगर उस तपस्या का फल क्या मिलता है? परी की भाषा में तिरस्कार–विश्वासघात, अनादर . . . वास्तव में हमारा स्थान समाज में क्या है और हमारा अस्तित्व समाज के लिए कितना ज़रूरी है, इसे हमें समझना पड़ेगा। ''[2] तय्यबा अपने आप को उस नई पीढ़ी का प्रतिनिधि मानती है, जिन्होंने शादी न करने का फैसला लिए रखे हैं। वह विवाहित होकर पुरुष को जीवन के आकर्षण का केंद्र बनाना नहीं चाहती। वह कहती है, '' मेरी कोटि इस समाज के लिए नई है। जब हम विवाह नहीं करते तो विवाहित पुरुष हमारे आकर्षण का केंद्र भी नहीं बनते हैं। ''[3]

आजीवन अविवाहित रहने की नारियों की संख्या में पिछले दो दशकों में काफी बढोत्तरी हुई हैं। डॉ . ओमप्रकाश शर्मा के शब्दों में , '' इधर विवाह या दाम्पत्य

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ– 250

[2] नासिरा शर्मा, सात नदियाँ एक समंदर, पृ–77

[3] वही, पृ–75

को कठोर बंधन मानते हुए अति आधुनिक युवतियों में अविवाहित रहने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। ''[1]

' अकेला पलाश ' की तहमीना के विचार में पुरुष एक नौकरानी की माँग को पूरा करने के लिए शादी करता है। वह कहती है, '' खाना बनाना तो अपनी किस्मत में लिखा लाये हैं, वह कहाँ छूटने वाला है! पता नहीं लोग शादी क्यों करते हैं? शादी के बाद औरत केवल घर की नौकरानी बनकर रह जाती है। क्या घर की रखवाली और खाना बनाने के लिए ही औरतें हैं? ''[2] पुरुष के लिए शादी या नारी का जीवन ऊँचे शिखर तक पहूँचने की सीढी मात्र है। ' आवाँ ' का पवार नमिता से इसलिए शादी करना चाहता है ताकि वे राजनीति के ऊँचे शिखर तक पहूँच सके। शेवाडे नमिता से कहता है, '' देखो, स्वयं पवार ने मुझसे स्वीकारा है कि वह तुम्हें . . .तुम उसके मन की कमज़ोरी हो। तुम से ब्याह करना उसका सपना है। उसका मानना है कि जीवन–साथी के रूप में ब्राह्मण और दलित का गठबंधन सुंदर, बुद्धिमती संतानें ही नहीं देगा, राजनीति में भी फलदायी समीकरण सिद्ध होगा। सवर्ण–अवर्ण दोनों के वोट झोली में होंगे। "[3] यहाँ पुरुष की उपयोगिता की मानसिकता ही व्यक्त हो रही है। किन्तु नमिता स्त्री को इसप्रकार केवल वस्तु के रूप में देखनेवाले पुरुष–मानसिकता का विरोध करती है। वह सोचती है– " जिस लड़की को चाहता है कोई, जिसे वह अपनी

---

[1] डॉ० ओमप्रकश शर्मा, समकालीन महिला लेखन, पृ–110

[2] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ–29

[3] चित्रा मुद्‌गल, आवाँ, पृ–410

जीवन–संगिनी के रूप में देख रहा, केवल वस्तु है उसके लिए? राजनीतिक महत्वाकांक्षियों के लिए संबंधों की गहनता खांचे–भर हैं चौपड़ के? "[1]

पति और पत्नी दोनों का पारिवारिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु हमारे यहाँ इसका संबंध मालिक और गुलाम के बीच का ही प्रतीत होता है। किन्तु नारी की नवीन चेतना ने इसे पहचान लिया है। ' छिन्नमस्ता ' उपन्यास में फिलिप पाश्चात्य और भारतीय वैवाहिक संबंधों की तुलना करके इसकी ओर संकेत कर रहा है। वह प्रिया से कहता है–" हम दोनों इलेना (बेटी) के घर से जाने के बाद दोस्त अधिक हैं, पति–पत्नी कम। हम लोगों को एक–दूसरे का साथ अच्छा लगता है। एक–दूसरे के काम के प्रति हमारे मन में सम्मान की भावना है, मगर हम–एक दूसरे को एक्सप्लायट नहीं कर सकते, जबकि नरेंद्र तुम्हारे प्रति मालिकाना भाव रखता था। वास्तव में विवाह की सारी व्यवस्था ही इस भाव पर आधारित है और जहाँ स्त्री की चेतना विकसित होने लगती है, वहीं यह व्यवस्था चरमराने लगती है। "[2]

पुरुष की नज़र में स्त्री

स्त्री की नज़रिए में पुरुष के तथा पुरुष की नज़रिए में स्त्री के स्वरूप का चित्रण समकालीन नारीवादी उपन्यासों में हुआ है। स्त्री को पुरुष सीमित भूमिका में ही देखना अधिक पसंद करते हैं। अधिकांश पुरुषों की नज़र में स्त्री महज शरीर है या गृहस्थी संभालने की नौकरानी। नारी को केवल वस्तु समझने की पुरुष की इस मानसिकता का चित्रण समकालीन नारी लेखिकाओं के उपन्यासों में देखा जा सकता है।

---

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–410

[2] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–203

स्त्री के स्वरूप का विश्लेषण अब तक पुरुष उपन्यासकारों द्वारा ही अधिक हुआ था। ' छिन्नमस्ता ' उपन्यास में इस पद्धति की आलोचना करती है प्रिया। वह कहती है, " वह कौन–सी नायिका है जो अभिमानिनी हो, स्वतंत्र विचारों की हो, फिर भी संयमित हो, जिसमें सुरुचि भी हो, जिसकी बातों में मौलिक चिंतन हो, जो पुरुष की हर ज़्यादती को हँसकर सह ले, फिर भी उसे हृदय से लगाकर आँखों में करुणा की बूँदें भी ले आए? होगी कोई। बहुत–से उपन्यासों की नायिकाएँ ऐसी होंगी क्योंकि पुरुष लेखक की कल्पना ऐसी ही नायिका को गढ़ने में समर्थ है . . . "[1] इसप्रकार पुरुष लेखकों की आलोचना ' कठगुलाब ' में भी हुई है। असीमा शरतचंद्र और मैथिली शरण गुप्त की आलोचना करती है। उसका विचार है कि दोनों ने नारी के चित्रण करते समय उसके साथ न्याय नहीं किया है। " फ़िर वही शरतचंद्र। उनका हर उपन्यास किसी–न–किसी बीमारी को नायिका बनाकर छोड़ता है। एक–से–एक तेजस्विनी अचला, सावित्री, राजलक्ष्मी मात खाती पाई गई है। "[2] और अपनी माँ का करुणा भाव देखकर असीमा के मन में, गुप्तजी की उन पंक्तियों को लेकर हँसी आती है। वह सोचती है–" आँचल में दूध, आँख में पानी, अब भई, मैथिलीशरण गुप्त कोई छोटे–मोटे कवि तो थे नहीं। "[3]

पुरुष के विचार में नारी के जन्म का उद्देश ही गृहस्थी चलाना है। इसलिए बहतर यह है कि वे दूसरे कार्यों में दखल न दें। ' दिलो–दानिश ' के वकील कृपानारायण अपनी पत्नी से कहता है, " आपके लिए तो इतना ही कहा जा सकता है

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–221

[2] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–216

[3] वही, पृ–168

कि आप औरत हैं और आपको गृहस्थी बनाने–चलाने को ही ऊपरवाले ने बनाया है। बताइए, भला इसमें हम आपकी क्या मदद कर सकते हैं! इसको लेकर दिल में मलाल लाने की तो कोई वजह न होनी चाहिए। ''[1]

' अन्तर्वंशी ' के शिवेश के अनुसार पत्नी हमेशा घर में उपलब्ध होनी चाहिए ताकि पति जब चाहे उसे भोग सके। '' शिवेश का मन होता है कि उसे बाँहों के घेरे में हमेशा महफ़ूज़ रक्खें ; उसे बाहर की गंदी, विषाक्त हवा लगाने भी न दें, उस पर किसी की दृष्टि भी न पडे. ; वह हमेशा एक शिशु को गोद में लिए दूध पिलाती रहे ; साथ–साथ एक शिशु कोख में पलता रहे। स्वयं जब भी चाहें उसे भोगते रहें। दिन–दिन रात–रात और वह अस्त –व्यस्त पास में पड़ी रहे, सर्वदा उपल्ब्ध। ''[2]

' मैं और मैं ' के कौशल कुमार की परिभाषा के अनुसार पत्नी पति का वह जायदाद है जिसपर वह अपना हर हुकूमत चला सके। वह कहता है, '' हाँ, पत्नी। कमज़ोर–से कमज़ोर, गरीब–से–गरीब, निकम्मे–से–निकम्मे आदमी के पास एक जायदाद होती है जिसपर वह हुकूमत कर सकता है, उसकी बीवी। ''[3] दूसरे स्थान पर उसका कथन है कि पत्नी पुरुष की मर्दानगी दिखाने का माध्यम है। '' बीवी की रोनी सूरत पर नाहक तरस खा गया। उसका तो धर्म है रोना। हम जैसे लोगों के पास एक अदद बीवी ही तो होती है अपनी मर्दानगी साबित करने के लिए। रोयेगी नहीं तो हमें मर्द कौन मानेगा। उसकी बीवी बेचारी है भली। ज़्यादती को मर्द के प्यार का इजहार

---

[1] कृष्णा सोबती, दिलो–दानिश, पृ–82

[2] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वंशी, पृ–116

[3] मृदुला गर्ग, मैं और मैं, पृ–97

समझकर स्वीकार करती है और खूब सुर में चीखती–चिल्लाती है। मज़ा आ जाता है। ”[1]

सफल से सफल व्यक्तित्व वाली स्त्री को भी दबोचकर अपने अधीन में रखना चाहता है पुरुष। पत्नी के साथ के व्यवहार में वह सदैव एक मालिकाना भाव ही रखता है। ‘ छिन्नमस्ता ’ की प्रिया के पति के बारे में फिलिप का यह कथन इसका प्रमाण है। “ देखो प्रिया! नरेंद्र जैसे पुरुष स्त्री की महत्वाकांक्षा को समझ नहीं सकते। वे एक सफल स्त्री की ओर आकर्षित ज़रूर होते हैं, मगर उनके भीतर का पुरुष बस उस व्यक्ति को दबोचना चाहता है, यानी उसके अहम को संतुष्टि मिलती है कि देखो ऐसी औरत भी मेरे वश में है। ”[2]

स्त्री का व्यक्तित्व पुरुष की नज़र में गौण है। वे स्त्री–शरीर को उपयोगिता की दृष्टि से ही देखते हैं। ‘ एक ज़मीन अपनी ’ का सुधांशु पत्नी का स्थान भी इस उपयोगिता की दृष्टि से आँकना चाहता है। वह पत्नी से कहता है–“ तुम मामूली औरत . . . क्या है तुम में? सिवा तराशी देह के? और मैं सिर्फ तराशे शरीर के साथ नहीं रह सकता . . . पुरुष को इससे आगे भी कुछ चाहिए होता है। महज शरीर पाने के लिए उसे घर में औरत पालने की ज़रूरत नहीं होती . . . ”[3]

स्त्री की नज़र में पुरुष

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में पुरुष अथवा पति के प्रति नारी की बदली हुई मानसिकता का चित्रण हुआ है। पति को परमेश्वर मानने के बजाय, उसका विचार

---

[1] मृदुला गर्ग, मैं और मैं, पृ–180

[2] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–203

[3] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–18

यथार्थ के काफी निकट और अनुभव पर आधारित अधिक है। इसी कारण ही पुरुष अथवा पति को जीवन का अंतिम लक्ष्य मानने को आज की नारी तैयार नहीं है। जीवन की सार्थकता और पुरुष को पर्यायवाची शब्द माननेवाली स्त्रियों की, पुरानी मानसिकता की आलोचना भी इन उपन्यासों में हुआ है। “ ‘ सार्थकता ’ और ‘ पुरुष ’– यह दोनों एक ही चीज़ के नाम क्यों है स्त्री के जीवन में? इतनी बड़ी जगह क्यों घेर ली है इस संबंध ने कि हर चीज़ की व्याख्या इस बिंदु से ही होने लगे। ”[1]

पुरुष को जीवन का अंतिम लक्ष्य मानने को ‘ सात नदियाँ एक समंदर ’ की तय्यबा तैयार नहीं है। उसके शब्दों में , “ हाँ, इश्क को पहचानती हूँ मैं। मुझे इश्क है। उसी इश्क को मैंने बाँटा है अपने काम में। कुछ देकर जाने की इच्छा प्रबल है। मेरी ज़िन्दगी का निशाना मर्द नहीं है, बल्कि मर्द एक ज़रूरत है। एक भोजन, जो हमारे शारीरिक भूख का इलाज है। ”[2]

‘ आवाँ ’ की गौतमी के जीवन में पति का स्थान इतना नगण्य है कि वह पति की तुलना घर की वस्तुओं से करती है। पति के साथ का उसका संबंध अविश्वसनीयता के स्तर तक याँत्रिक है। वह नमिता से कहती है, “ मां के अलावा घर में मेरा एक अदद पति है–नाम है अशोक। ठीक उसी तरह घर में अलमारी है, फ्रिज है, वाशिंग मशीन है, डिशवाशर है। जितना वो मेरे लिए काम आती हैं, बदले में मैं उनकी देखभाल करती हुं–अशोक के साथ भी मेरा यही रिश्ता है! शेष मैं क्या हूं, कहां जाती

---

[1] राजी सेठ, तत्–सम, पृ–39

[2] नासिरा शर्मा, सात नदियाँ एक समंदर, पृ–23

हूं, किसके साथ सोती हूं, सोना चाहती हूं, सोती भी हूं या नहीं सोती हूं–कोई मतलब नहीं उससे! घर मेरा है। अशोक को रहना है, रहे; न रहना हो, छोड़कर चला जए। [1]

' अन्तर्वंशी ' की सरिका के अनुसार पुरुष जन्म से ही स्वार्थी है और स्त्री उसकी नज़र में वंश चलाने का उपकरण मात्र है। " सरिका ने ठीक–ठीक कहा था– अपने शरीर पर स्त्री का पूरा–पूरा कंट्रोल होना चाहिए। पति? पुरुष जाति ही स्वार्थी होती है। अपना बीज अधिक–से अधिक बिखेरना यह पुरुष की बायोलैजिक ज़रूरत है। जन्मगत स्वभाव है। प्राकृतिक है। जिससे नस्ल चलती रहे। "[2]

' कठगुलाब ' की असीमा का पुरुष संबंधी विचार उग्र–पुरुष– विद्वेष पर आधारित है। उसका विरोध इतना तीव्र है कि वह अपने पिता और भाई से भी नफ़रत करती है। पिता उसके लिए हरामी नंबर–१ और भाई हरामी नंबर–२ है। वह कहती है, " अब आए तो कोई मर्द मेरी सीमा में, टाँग तोड़कर पूँछ बना दूँ। मुझे मर्दों से नफ़रत है। सब एक–से–एक बढक़र हरामी होते हैं। सबसे हरामी था, मेरा बाप। लंबा, तगड़ा, खूबसूरत हरामी। "[3] असीमा का विचार ऐसा है कि ठीक उसकी तरह दुनियाँ की सभी औरतों के मन में संपूर्ण पुरुष वर्ग के प्रति हिंसा की भावना है। असीमा तो हमेशा सभी क्षेत्रों में पुरुष को परास्त करना चाहती है। " मर्दों को देखते ही, उन्हें पीटने का मन करता था। ना–ना, एकदम लात–घूँसों से मारने की बात नहीं कर रही। पर उनके दिलोदिमाग पर चोट करने और निशान छोड़ने का मन ज़रूर करता था। उनकी बात का

---

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–361

[2] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वंशी, पृ–124

[3] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–155

सफ़ल विरोध करने की, बहस में उन्हें हराने की, तिरस्कृत करके उन्हें तिलमिलाने की तीव्र ललक, मन में उठती थी। ....

.............................। पर सच, प्रतिहिंसा की भावना से अभिभूत, मैं अकेली औरत नहीं थी। शारीरिक आकर्षण के बल पर सफ़लता प्राप्त करनेवाली, दुनिया की हर औरत, इसी भावना से प्रेरित होकर अपनी लड़ाई लड़ती है। नामी वेश्यायें भी। ”[1]

असंतृप्त वैवाहिक जीवन एवं पारिवारिक विघटन

प्राचीन काल से ही भारत में विवाहित स्त्री को पति के अधीनस्थ माना गया है। इस विचार को आधुनिक युग में शिक्षित नारी और उसकी स्वतंत्र चेतना ने प्रश्नचिह्न में डाल दिया। आधुनिक भारतीय नारी पुरुष के अधीन में रहने के लिए तैयार नहीं है। आज उसका विश्वास एक सम्मानयुक्त सहजीवन में है। नारी की इस बदली हुई मानसिकता को डॉ० अमरज्योति ने यों व्यक्त किया है, “ आज भारतीय नारी ने जीवन के प्रति अपनी सोच को बदला है। वह स्त्री–पुरुष संबंधों के प्रति अपने दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन को स्वीकार कर चुकी है। प्राचीन जीवन मूल्यों के प्रति उसकी दृष्टि आलोचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक हुई है। उत्तरशति के उपन्यासों ने भारतीय नारी की इस आलोचनात्मक दृष्टि को उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व से जोड़कर देखा है। भारतीय दाम्पत्य जीवन में पति के स्वामित्व और देवत्व के प्रचार पर आज की जागरूक स्त्री आपत्ति प्रकट करती है। वह पति में छिपे पुरुष की अहंवादी निरंकुशता के प्रति अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करने लगी है। ”[2]

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–179

[2] डॉ० अमर ज्योति, महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारीवादी दृष्टि, पृ– 37-38

अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व और अस्तित्व को हर हालत में बरकरार रखने की स्त्री की चाह और पत्नि को पितृसत्तात्मक मूल्यों के अनुरूप, अपने नियंत्रण में रखने का पुरुष का आग्रह, इन दो विपरीत स्थितियों ने पति–पत्नी संबंधों में विघटन की स्थिति को जन्म दिया। पति–पत्नी दो भिन्न इकाइयाँ बनकर अपने–अपने हितों के लिए संघर्षरत हैं। यह संघर्ष वैवाहिक जीवन में असंतुलन का कारण हो गया है। इन स्थितियों का विश्लेषण समकालीन नारीवादी उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्ति रही है।

“ औसत पति आज भी पत्नी को अपनी आधिकृत वस्तु के रूप में देखता है और औसत पत्नी स्वयं को पति की अनुगता और आज्ञाकारिणी बनाने की कोशिश करती है। जहाँ पत्नी पढ़ी–लिखी नहीं होती या पढ़–लिखने के बावजूद गृहिणी बनने से अधिक की योग्यता नहीं रखती वहाँ इस मानसिकता में भी दाम्पत्य का संतुलन बना रहता है। पर दिक्कत वहाँ होती है जहाँ स्त्री अपने पति की तुलना में अधिक या समान योग्य और ऊँची नौकरी वाली हो जाती है। इस स्थिति में पुरुष की परम्परागत मानसिकता दाम्पत्य संतुलन में बाधक बन जती है और पति पत्नि दोनों का जीवन दु:खद बन जाता है। ”[1] नासिरा शर्मा का उपन्यास ‘ शाल्मली ’ इस विषय पर आधारित है। शाल्मली केन्द्रीय सेवा विभाग में काम कर रही है जब कि नरेश किसी सरकारी दफ्तर में कर्मचारी है। इस बात को लेकर नरेश के मन में एक हीन भावना है जिसके कारण पूरे घर में शीतयुद्ध का माहौल है। नरेश की यह हीन भावना कभी–कभी यूँ प्रकट होती है, “ तुम धर्मात्मा . . .! महान आत्मा ठहरीं। तुमसे मेरा क्या मुकाबला? ”[2]

---

[1] गोपाल राय, समीक्षा–अक्तूबर–दिसम्बर 1987, पृ– 13

[2] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–144

शाल्मली नौकरी में प्रवेश करने से पूर्व तो नरेश पति–पत्नी के संबंध को स्वामी–दासी संबंध मानता है जो उनके वैवाहिक जीवन के शुरू से ही दोनों के बीच एक दीवार निर्मित करती है। " विवाह के कुछ दिनों बाद से ही उसे लगने लगा कि उनके बीच कुछ टूटा था, जिससे एक ही ध्वनि गूँजी थी कि नरेश पति है और वह पत्नि। स्वामी और दासी का यह संबंध एक काली छाया बन उसके और नरेश के बीच मज़बूत दीवार का रूप धरने लगी थी। "[1] और यह दीवार शाल्मली के सहज रहने की सारी कोशिशों के बावजूद रोज़ बढ़ती ही रहती है। " कुछ तो नहीं छिपाया था उसने। उसकी मर्ज़ी से उसकी खुशी से कहीं किसी मोड़ पर वह नरेश से हट कर नहीं चली, फिर यह दीवार, यह खाई क्यों रोज़–रोज़ उनके बीच बढ़ती हुई किसी मनहूस साए की तरह उनका पीछा कर रही है? "[2]

पति–पत्नी के व्यक्तिगत सोच का अंतर पारिवारिक जीवन में दरारें बनाती है। वर्तमान समय के पति–पत्नी दो स्तरों पर जीने को विवश हो गए हैं। " शाल्मली नरेश के साथ दो स्तरों पर जी रही थी। एक नरेश को अपने मन के धरातल पर आँकने का और दूसरा उनके साथ संबंध के धरातल पर सहज बने रहने का। वह कभी–कभी स्वयं सोचती कि क्या नरेश भी यूँ दो धरातलों पर जीता है? एक अन्दर–अन्दर और एक बाहर–बाहर। "[3]

' शाल्मली ' में पति की हीन भावना पारिवारिक विघटन का कारण बन जाता है तो ममता कालिया के उपन्यास ' एक पत्नी के नोट्स ' में विघटन का कारण पति

---

[1] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–10

[2] वही, पृ–119

[3] वही, पृ–60

की श्रेष्ठता मनोग्रंथी की समस्या है। संदीप कविता को अपने से हीन और तुच्छ समझता है। प्रस्तुत उपन्यास की समीक्षा करते हुए शशिकला त्रिपाठी ने लिखी है– “ ‘ व्यक्ति ’ की गरिमा को सहेजने वाली औरत समाज में भले ही मान पा ले, किंतु घर में पुरुषसत्तात्मक समाज का प्रतिनिधित्व करता पति उसे प्रति क्षण यह बोध कराता है कि उसका दर्जा उसके बराबर नहीं है। पत्नी को नीचा दिखाकर ही पति के अहं को तुष्टि मिलती है। स्वाभाविक है, आर्थिक रूप से स्वतंत्र आज की औरत के लिए यह सोच असहनीय लगे। अत: पति–पत्नी के समीकरण में असंतुलन आ जाता है। ”[1] प्रस्तुत असंतुलन के कारण होनेवाला विघटन ही ‘ एक पत्नी के नोट्स़ ’ उपन्यास का प्रतिपाद्य है। संदीप अपनी पत्नी को हर हालत में अपने से एक सीढी नीचे खड़ा देखना चाहता है जबकि कविता का विश्वास कदम से कदम मिलाकर चलने में है।

“ संदीप के अंदर प्रतिभा और संवेदनशीलता की कोई कमी नहीं थी। जब वह कुतर्क करता, उसे खूब पता रहता कि वह गलत है, लेकिन हार मानना उसे नापसंद था। हर समय अपने तूफानी व्यक्तित्व का सिक्का जमाने की उसकी ललक का कोई ओर–छोर नहीं था। कविता जिस नियम से अपनी दिनचर्या निभा लेती थी, संदीप को उस नियमितता और कूशलता पर एतराज था। उसका ख्याल था, ये कुंददिमाग लोगों के गुण होते हैं। हर हाल में कविता को अपने से एक सीढ़ी नीचे खड़ा देखना उसे पसंद था जब कि कविता कदम–से कदम मिलाकर चलने में यकीन रखती थी। ”[2]

---

[1] शशिकला त्रिपाठी, हंस, जुलाई–2000, पृ–94

[2] ममता कालिया, एक पत्नी के नोट्स़, पृ–30-31

पत्नी को अपने से तुच्छ समझनेवाला संदीप अपने और पत्नी के बीच कोई तीसरे की उपस्थिति बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसका कारण उसका 'स्वत्वबोध' (possessivenes) है। इस स्वत्वबोध के कारण पति–पत्नी संबंध का संतुलन बिगड़ जाता है। " प्रेम जब पजेसिव हो जाता है तो उसमें सहअस्तित्व का भाव लुप्त हो जाता है। संदीप अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए ही कविता की इच्छाओं के विपरीत कार्य करता है। गाहे–बगाहे पीडित करता है। चार–छः के बीच अपमानित करता है और खुद को भी ताव खाकर यंत्रणा देता है। "[1] संदीप का यह स्वत्वबोध वास्तव में कविता का दम घोट रहा है। संदीप का इस तरह का व्यवहार कविता के लिए बिलकुल असामान्य है। " क्योंकि वह चाहता था कि कविता उसके हर मूड पर मरे। कविता के लिए संदीप एक मूल्यवान साथी था लेकिन उसकी महत्वाकांक्षाएँ एक पुरुष के साथ–साथ और बहुत कुछ चाहती थीं। संदीप की माँग थी कि कविता उसके प्यार के आगे जीवन जगत की किसी भी चीज़ की कामना न करे। लेकिन कविता जीवन की सामान्यता से भी उतनी जुड़ी हुई थी जितनी इस प्यार की असामान्यता से। यह ताला–चाभी वाला प्यार उसका दम घोंटे दे रहा था। "[2] शायद संदीप के इस तरह के व्यवहारों के कारण ही कविता को लगती है कि वह एक मनोरोगी के साथ रह रही है। " कविता के अंदर बहुत कुछ टूट गया चटाख–चटाख। उसे लगा वह एक मनोरोगी के साथ रह रही है। "[3]

' छिन्नमस्ता ' के नरेंद्र और प्रिया के वैवाहिक जीवन में भी कुछ दरारें हैं। प्रिया आत्मनिर्भर बनना चाहती है और व्यापार शुरू करती है। नरेन्द्र की शिकायत यह है

---

[1] शशिकला त्रिपाठी, हंस, जुलाई–2000 पृ–93

[2] ममता कालिया, एक पत्नी के नोट्स़, पृ–38

[3] वही, पृ–34

कि प्रिया का सारा ध्यान व्यापार पर ही केंद्रित है और वह मशीन होती जा रही है। नरेन्द्र कहता है, “ संतुलन और वह भी तुममें? तुम तो सदा से वन ट्रैक माईंड़ की हो। पागलों की तरह अब दिन–रात इसी के पीछे। सुबह आठ बजे घर से निकलती हो और रात आठ बजे शक्ल दिखा जाए तो भाग्य हमारे। मैं कहीं चलने को कहूँ तो तुम ढकी हुई हो, सर में दर्द हो रहा है, और अभी कोई तुम्हारा व्यापारी आ जाए तो तुरंत उसे लेकर तुम रात बारह बजे तक बाहर। तब खूब चहकने लगती हो, कहाँ से हँसी आ जाती है चेहरे पर? . . . . यही तो मैं पूछ रहा हूँ कि तुम क्यों इतनी मशीन होती जा रही हो? व्यक्तित्व में ज़रा भी रस नहीं। ज़रा–सा शरीर पर हाथ लगाओ तो ऐसे बिदकती हो मानो बिजली का करंट छू गया। एकदम फ्रिजिड . . .होपलेस। ”[1] प्रिया को भी यह दूरी का अहसास है। वह सोचती है–

“ शादी के पाँच साल पूरे हो गए थे . . . और हम लोगों के संबंध चटकने लगे थे। खरोंच तो पहले ही लग चुकी थी। क्या सुहागरात के दिन . . . या फिर हनीमून के दौरान . . . नहीं, शायद संजू के होने के बाद। याद नहीं आता, कुछ न कुछ तो रोज़ घटता ही रहता था . . . जो हमें एक–दूसरे से दूर फेंकता चला जाता। ”[2]

पति–पत्नी के बीच की इस लड़ाई के बीच उनके संतान पिसते जा रहा है। दूसरे स्थान पर प्रिया सोचती है, “ बेचारा संजू मिया–बीवी की लड़ाई में पिसता जा रहा था। संबंधों का इतिहास होता है, पर घटनाओं की तारीखें नहीं हुआ करतीं। कब और कौन–सी घटना ने हमें अलग–अलग दिशाओं में ढकेलना शुरू कर दिया, याद नही आता। बस मुझे लगता मानो धमाक–धमाक कोई हथौड़ों से मेरे अस्तित्व को गिट्टियों

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–12

[2] वही, पृ–151

में तोड़ रहा है। उन दिनों की घुटन और तकलीफ के बारे में आज सोच भी नहीं पाती। ''[1]

' अकेला पलाश ' की तहमीना और जमशेद भी दो विपरीत छोरों पर खड़े हैं। उनके बीच हमेशा एक फासला है। कभी झगड़ा हो जाने पर हफ्तों तक दोनों के बीच बात तक नहीं होती। '' जमशेद और तहमीना के जीवन में हमेशा एक फासला रहा, एक ऐसी खाई जिसे दोनों में से कोई कभी नहीं भर पाया। तहमीना जमशेद को देखती, तो अजीब–सा लगता। कैसा पुरुष है, यहाँ इसे क्या कभी नारी की, पत्नी की आवश्यकता नहीं होती? कभी दोनों में झगड़ा हो जाता तो हफ्ते बीत जाते, पर जमशेद खुद से कभी बात नहीं करता और गृहस्थी की ज़रूरतें तहमीना को जमशेद से बात करने पर मजबूर कर देतीं। वरना ज़रूरत ही कहाँ थी। घर में कोई न कोई सामान खत्म हो जाता था या उसके पास पैसे खत्म हो जाते और उसे माँगने के लिए मजबूरन बात करनी ही पड़ती । ''[2]

पति–पत्नी के बीच जब एक खाई बन जाती है तो मिटाने की सारी कोशिशों के बावजूद वह खाई बनी रहती है। इतना ही नहीं वह और गहरी होती जाती है। तहमीना और जमशेद के जीवन में भी यही होता है, '' हमेशा वह चाहती है कि यह खाई दूर हो जाए, पर होता इससे हमेशा उल्टा ही है। दूरियाँ और बढ़ जाती हैं। ''[3]

पति–पत्नी के बीच के असंतुलन का एक प्रमुख कारण है बेमेल विवाह। बेमेल विवाह वैवहिक जीवन के शुरू से ही दोनों के बीच दूरियाँ स्थापित करता है। प्रभा खेतान के ' अपने–अपने चेहरे ' में इस स्थिति का चित्रण हुआ है। शादी के पहले

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–154

[2] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ–81

[3] वही, पृ–177

दिन से ही गोयनका पत्नी से नाखुश है, “ मिसेज गोयनका की आँखों के सामने एक अतीत खुलता जा रहा था। हाँ एक दिन वे भी बहू बनकर इस परिवार में आई थीं। पति ने घूँघट उलटा और मुँह घुमा लिया, उठकर चले गए। ”[1] दूसरे स्थान पर गोयनका स्पष्ट शब्दों में अपनी पत्नी से कहता है– “ मैंने तो सुहाग रात के दिन ही कह दिया था कि मैं तुमसे प्रेम नहीं करता हूँ। यह विवाह मेरी मर्ज़ी के खिलाफ़ हुआ है। बेमेल, बिलकुल बेमेल। ”[2]

‘ झूला नट ’ के सुमेर को पिता के वादे को कायम रखने के लिए शीलो के साथ मज़बूरन शादी करना पड़ा। पर मन ही मन उसे शीलो के प्रति ज़रा भी लगाव नहीं है। यहाँ भी वैवाहिक जीवन संकट में है। शीलो की स्थिति दिन–ब–दिन बुरी होती जा रही है, “ कहता रहे सत्ते। मानें, न मानें लोग। शीलो भाभी नहीं मानती। अब क्या हुआ? जानती तो थीं कि सुमेर भइया के आने–जाने से। उनके जीवन में कोई खास अंतर नहीं आनेवाला। एक एक छोर पर, तो दूसरा दूसरे पर। अलग–अलग ज़िंदगी के विपरीत कोने। जाने–माने साफ़ रिश्ते को अभी तक तो अपनी तकदीर मानकर रही हैं। रोई हैं, बिलबिलाई हैं। कभी अम्मा की दया चाही है, तो कभी बालकिसन की सहानुभूति टटोली है। खतम होते हुए संबंध को छटपटा–छटपटाकर ही सही, जीती तो रही हैं। ”[3]

परिवारवालों द्वारा तय की गई शादियों में लड़के–लड़की के पसंद–नापसंद को कोई विशेष स्थान नहीं दिया जाता। गोपाल राय के शब्दों में, “ माँ–बाप की मरजी से लड़के–लडकियों का विवाह हिन्दू समाज की एक परम्परागत विशेषता है। इस

---

[1] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ–14

[2] वही, पृ–49

[3] मैत्रेयी पुष्पा, झूला नट, पृ–63

प्रकार के विवाह में मुख्यतः दान–दहेज और कुल–परिवार का स्तर ही निर्धारक तत्व होता है, लड़के–लड़की की पारस्परिक पसन्द या समान रुचि, शिक्षा–दीक्षा आदि नहीं। मारवाड़ी समाज भी इस व्याधी से ग्रस्त है। ''[1] प्रभा खेतान का उपन्यास 'पीली आँधी' में इसी समस्या का चित्रण है। सोमा–गौतम का परिवेश भिन्न–भिन्न है, जो असंतृप्त वैवाहिक जीवन का कारण है। '' बीस साल की उम्र में सोमा की शादी हुई थी, फिर वह सुहागरात जिसके बारे में याद करने लायक धरोहर के नाम पर कुछ भी नहीं। हाँ, बस '' पति '' नाम का एक बच्चा सोमा को मिल गया था। बेल्हम देहरादून से पढ़ी हुई सोमा, एक खूबसूरत शोख, प्रखर दिमाग लड़की और गौतम हिन्दी हाई स्कूल, फिर सिटी कॉलेज से बी०काम० पास किया हुआ युवक। ''[2]

पति–पत्नी के बीच का संतुलन बिगड़ जाने पर भी समाज के सामने कभी–कभी वह प्रकट नहीं होता। समाज के सामने उसका रूप आदर्श पति–पत्नी का ही रहता है। किन्तु वास्तव में उनके जीवन दो विपरीत दिशाओं में है, जो एक दिन निश्चय ही दूसरों के सामने प्रकट होते ही रहते हैं। ' आवाँ ' के संजय–निर्मला का वैवाहिक जीवन कुछ इसी प्रकार का है। '' तेरह वर्षों सेअपनी बिरादरी के बीच सुखी–संतुष्ट गृहस्थ का मुखौटा ओढ़े वे अब स्वयं को संयत नहीं रख पा रहे। निर्मला स्वार्थी स्वभाव की स्त्री है। निर्मला की जो मृदुता उसने देखी है–वह निर्मला की स्वाभाविक प्रकृति नहीं, व्यावहारिकता है। उसके संपर्क में आनेवाले उसकी व्यवहार–कुशलता से प्रभावित हो यही मान बैठते हैं कि वह आदर्श पत्नी ही नहीं बुद्धिमती उद्यमी भी है। ''[3]

---

[1] गोपाल राय, समीक्षा, अक्टूबर–दिसम्बर–1997, पृ–12

[2] प्रभा खेतान, पीली आँधी, पृ–156

[3] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–273

‘ आओ पेपे घर चलें ’ की हेल्गा अपनी ही बेटी से अपने पति के बारे में कहती है, “ तुम जो अपने पिता की वकालत कर रही हो, तो सुन लो, उस आदमी ने कभी, किसी दिन मुझसे प्यार नहीं किया। प्यार किया होता, तो आज यह नौबत नहीं आती। उसने सिर्फ मुझ पर दया की है। एक अनाथ लड़की पर, . . . ”[1]

पति–पत्नी के बीच तीसरे की उपस्थिति विघटन का प्रमुख कारण है। इस कारण से जन्य विघटन का विश्लेषण समकालीन नारीवादी उपन्यासों में हुआ है। यह स्थिति पति–पत्नीऔर तीसरे व्यक्ति के जीवन में तनाव और कुंठा का कारण बन जाती है। दोनों में से एक का चयन करना असंभव हो जाता है। ‘ अपने–अपने चेहरे ’ में राजेन्द्र गोयनका पत्नी और रमा के बीच दम घुटकर जी रहा है। उसका मन दोनों को लेकर चिंतित है। वह सोचता है, “ अब आज की शाम वह अपने फ्लैट में अकेली पड़ी–पड़ी सारी रात सोएगी। अब मैं भी क्या करूँ? कितनी बार तो कह दिया चलो, कहीं मंदिर में शादी कर आएँ, पर नहीं। रमा सब कुछ ऐलान करके खुले आम करना चाहती है और इधर सेठानी तलाक तो देंगी नहीं। कहाँ उठाकर फेंकूँ इस औरत को? अकेली यह रहेगी कैसे? पढ़ी–लिखी भी नहीं कि खुद को सँभाल ले, रमा कमा सकती है, अपने पैरों पर खड़ी है, लेकिन घुटनों के बल घिसटता हुआ यह चालीस वर्षों का साथ? बच्चों का मुँह देखकर चुप रहना पड़ता है। चुप तो सच कहा जाए, रमा भी रहती है, मगर भविष्य? पता नहीं, भविष्य मुझे इतना आतंकित क्यों करता है? ”[2]

पति के दूसरे स्त्री के साथ के संबंध की खबर सुनकर परि को तो मौत जैसा अनुभव होता है। वह कहती है, “ मौतें! कितनी तरह की मौतें होती हैं? मैं भी कुछ

---

[1] प्रभा खेतान, आओ पेपे घर चलें, पृ–94

[2] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ–18

दिन पहले मरी थी, मेरी मौत की किसी को कानोंकान खबर न हुई। कुछ दिन बाद मेरे मुरदा जिस्म में भूत का प्रवेश हुआ और मैं दोबारा जीवित हो उठी। ''[1]

'चाक' की सारंग के मन में श्रीधर के प्रति लगाव है। लेकिन साथ ही साथ वह पति रंजीत से अलग भी नहीं होना चाहती। इस संबंध में रंजीत की प्रतिक्रिया इसप्रकार है–

'' इधर रंजीत ने चौके में खाना–पीना, सारंग के हाथ की छुई चीज़ों का त्याग करना और रात को बाहर सोना . . . ऐसे ही दंड चुने हैं, जो उसे उसकी औकात बताते रहते हैं। संबंध–विच्छेद भी नहीं, उपेक्षा के नोकदार भाले पर सारंग को टाँगे रहना उन्हें ज़्यादा संतोष देता है शायद। ''[2]

'पीली आँधी' की सोमा भी पति गौतम और सुजीत के बीच पड़ी है। गौतम का व्यवहार ही उसे सुजीत की ओर आकर्षित करती है। इस अवस्था के कारण भरे–पूरे घर में भी वह अकेलापन महसूस कर रही है, '' सोमा ने खिड़की के ऊपर ढंगे हुए आकाश की ओर देखा। मई की गरम रात उफन रही थी। एक पीली उजास रेखा लॉन के कोने में अटक गई थी। कोई कुछ नहीं बोलता। न कहीं कोई प्रश्न है और न ही उत्तर। न कोई सुनने वाला। आखिर मैं इतनी अकेली क्यों हूँ और वह भी इतने बड़े घर में! इतने सारे लोगों के बीच? सोमा चाँदी की झारी से गिलास में पानी डालती है। ठंडा पानी . . . . . थोड़ी राहत . . . . वह अपने ही जख्मों को टटोलती है . . . . आह! अब भी टीसता है। अकेलापन बहुत–बहुत टीसता है। ''[3]

---

[1] नासिरा शर्मा, सात नदियाँ एक समंदर, पृ–73

[2] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–414-15

[3] प्रभा खेतान, पीली आँधी, पृ–236

पति–पत्नी के बीच का विघटन कभी–कभी तलाक में परिवर्तित होता है। समकालीन नारीवादी उपन्यासों में तलाक संबंधी अवधारणाओं का विश्लेषण कई जगहों पर हुआ है।

तलाक की परिकल्पना

“ दाम्पत्य संबंधों में विषमताओं के कारण, आधुनिक समाज में पति–पत्नी के संबंधों को रद्द करने की व्यवस्था की गई जिसे कानून की भाषा में तलाक कहा गया। तलाक के माध्यम से पति –पत्नी अपने विघटनशील दाम्पत्य संबंधों को तोड़कर मुक्त हो सकते हैं। तलाक की प्रणाली विवाह को रद्द करने की कानूनी पद्धति है। ”[1]

पति–पत्नी का जब, संबंध बिगड़कर दोनों का एक ही छत के नीचे रहना असंभव हो जाता है तब तलाक एक विकल्प है। महिला–शिक्षा के प्रचार से पूर्व अधिकांश स्त्रियाँ अशिक्षित और पराश्रित थीं। इसलिए कई बार अपमानजनक समझौते करने को वे मजबूर थी। किन्तु आज के संदर्भ में सुशिक्षित एवं आत्मनिर्भर नारी इसप्रकार के समझौते में विश्वास नहीं रखती। आज अपना वजूद उसके लिए सबसे अहम है। आज वह पति के गलत व्यवहार को चुपचाप सहने को तैयार नहीं है। आर्थिक सुरक्षा अथवा आत्मनिर्भर बनने के कारण तलाक के प्रति नारी की जो नई सोच विकसित हुई, उसे एक बातचीत के दौरान सुप्रसिद्ध महिला लेखिका मन्नू भंडारी ने यों व्यक्त किया– “ हमारे यहाँ स्त्री की कोई निजी पहचान नहीं होती थी। वे रिश्तों से (अमुक की माँ, अमुक की भाभी. . .) या शहरों के नाम (बरेली वाली बहू . . .) से जानी जाती थी। रिश्तों से परे उसका कोई स्वतंत्र व्यक्तिव है, ऐसा नहीं सोचा जाता था। हमारी पीढी को सबसे पहले एक ‘ नाम ’ मिला, एक पहचान मिली और इस पहचान

---

[1] डॉ० अमर ज्योति, महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारीवादी दृष्टि, पृ– 80

को पाते ही एक टकराव शुरू हुआ–आपसी रिश्तों मे टकराव। जैसे हमारे यहाँ पति–पत्नी का जो रिश्ता था वह तय था –पति सर्वेसर्वा है, हमें उससे दबकर रहना है। पर जैसे ही बराबरी का हक मिला तो यह रिश्ता टकराया। साथ ही परिवार जो थे वे स्त्रियों की सहनशीलता पर ही चलते थे, लेकिन अब वह सहनशीलता नहीं रही क्योंकि अब वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो गई है। ''[1]

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में तलाक के प्रति नारी की इस नई दृष्टि ही व्यक्त हुई है। आधुनिक नारी मरे हुए संबंधों को ढ़ोने केलिए तौयार नहीं है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया कहती है, '' प्रेम की कोई सीमा नहीं। एक सुखी वैवाहिक जीवन से अच्छा कुछ नहीं, मगर कितने लोगों को यह नसीब होता है? फिर मरे हुए संबंधों को ढोने की ज़रूरत? उठाकर फेंक देना चाहिए। बड़ा हल्का लगता है जब ज़िंदगी स्वयं किसी और रस से अपना प्याला लबालब भर लेती है। ''[2] ' एक ज़मीन अपनी ' की ज़रीना की राय में भी मृत संबंधों को ढोने की कोई ज़रूरत नहीं है। वह कहती है, '' पति–पत्नी में अगर नहीं पटती तो मात्र दिखावे के लिए मृत संबंधों को ढ़ोने से बेहतर है तत्काल अलग हो जाना। . . . कि यह किसी के द्वारा किसी के अधिकार के शोषण का प्रश्न नहीं है अपितु सार्थक जीवन जीने की बुनियादी शर्त हैं ; जिसे हमारे समाज में पूरे साहस के साथ स्वीकार किया जाना चाहिए। ''[3]

---

[1] मन्नू भंडारी,(मन्नू भंडारी से कल्पना शर्मा की बातचीत)आजकल–मार्च 2008, पृ–20

[2] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–24

[3] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–45

जब पति–पत्नी का साथ रहना असंभव हो जाता है तो तलाक का विकल्प कानून ने ही बनाया है। ‘ पीली आँधी ’ के सुजीत के शब्दों में –“ विवाह एक संस्था है, रजिस्ट्री के कागज़ों पर सही किया हुआ नाम है। तलाक की व्यवस्था कानून ने बनाई है। कानून मनुष्य के स्वभाव को समझकर ही बनाया जाता है। यदि दो व्यक्ति एक साथ नहीं रह सकते, यदि कहीं कोई गहरी कमी हो, तब इस बंधन को तोड़ा भी जा सकता है। बल्कि तोड़ ही देना चाहिए। ”[1] इस उपन्यास की सोमा भी वैवाहिक संबंधों को यथार्थवादी दृष्टि से ही परखती है। वह सुजीत से अपनी सहमति प्रकट करते हुए कहती है, “ हाँ, और क्या यह ज़रूरी है कि कोई किसी को ताउम्र प्यार करता रहे! विकास की यात्रा में जीवन के कालखंड़ में कभी स्त्री तो कभी पुरुष का स्वभाव, उसका मूल्यबोध, जीवनदृष्टि बदल भी तो सकता है। और जब कोई बदल जाता है, तब बची रहती है जड़ता। क्या इसी को वैवाहिक संबंध कहा जाए? शायद कह सकते हो? मगर सुजीत यह प्रेम तो नहीं। ”[2]

आधुनिक महिला इस आरोप से मुक्त नहीं है कि वे पारिवारिक जीवन की छोटी–छोटी समस्याओं से निपटने के लिए भी तलाक के विकल्प को अपनाती है। ‘ एक ज़मीन अपनी ’ की अंकिता तो इस आरोप से मुक्त है। उसके लिए तो अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए तलाक आखिरी हथियार थी। वह कहती है, “ हरगिज अलग न होती . . . अगर मुझे कोल्हू का बैल समझकर आँखों पर पट्ट्री बांधे रहने पर मजबूर न किया जाता . . . मेरे लिए घर की व्यवस्था का अर्थ है . . . अब भी है . . . विश्वास करो, अपनी सामर्थ्य और सहिष्णुता की अंतिम सीमा तक मैं घर बचाने के लिए हाथ–पँव मारती रही . . . सहन नहीं हुआ तो अलग हो जाना ही जी पाने का

---

[1] प्रभा खेतान, पीली आँधी, पृ–241

[2] वही, पृ–241

एकमेव विकल्प लगा . . . कारण न दूसरी औरत थी, न आर्थिक तंगी, न संदेह, न ईर्ष्या–द्वेष . . . जीने नहीं दे रही थी तो सुधांशु की निरंकुश प्रवृत्ति। . . . उसने सदैव अपने को थोपने की कोशिश की . . . उसकी निरंकुशताएँ घर के अर्थ को भ्रष्ट करने लगी थीं . . . "[1]

' शाल्मली ' उपन्यास की शल्मली की नज़र में भी तलाक अंतिम उपाय है, जबकि उसकी सहेली सरोज के अनुसार तलाक स्त्री–मुक्ति का प्रमाण पत्र है और समस्या का पहला समाधान है। किन्तु शाल्मली इस अधिकार को सोच–विचार के बाद ही इस्तेमाल करने के पक्ष में है। वह सरोज से अपनी असहमती प्रकट करती है, " तुम्हारे यहाँ जो अन्तिम उपाय है, वह समस्या का पहला समाधान क्यों बन जाता है? वह अधिकार तो मेरे पास है, मगर सम्बन्ध तोड़ना इतना आसान नहीं होता है, जितना तुम लोग मशीनी रूप से उसे सरल समझती हो। समाज बदलना तो दूर नारी स्वयं अंदर से अपने को नहीं बदल पाती। अपने को पूरी तरह समझ नहीं पाती कि उससे पहले महिला समर्थक गण उसे मुक्ति का प्रमाण–पत्र आप दिलवा देती है, उसे लेकर वह कहाँ जाएगी। आपके इसी रूढ़ीवादी अन्धे समाज में भटकेगी। पहले से अधिक प्रताडित, अधिक शोषित। "[2]

आत्मनिर्भरता जहाँ स्त्री को अनचाही रिश्तों से अलग होने की छूट देती है, ' शेषयात्रा ' की अनु के मामले में तलाक ही आत्मनिर्भर होने में तथा उसमें आत्मविश्वास जगाने में मददगार स्थापित होता है। वह शिवेश से कहती है, " पर यह सच है कि अगर परिस्थितियों ने मुझे ऐसे ढकेला न होता तो आज मैं भी वही

[1] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–201-202

[2] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–157

परंपरागत स्क्रिप्ट जीती रहती–पूरी तरह से आप पर निर्भर, एक सफल डॉक्टर की निकम्मी बीवी की . . .''[1]

तलाक– समाज का दृष्टिकोण

यध्यपि तलाक के प्रति कुछेक नारियों की दृष्टि में पर्याप्त नवीनता आयी है, तथापि समाज की दृष्टि इसे पूर्णतया स्वीकार करने के लिए विकसित नहीं हुई है। तलाकशुदा नारी को भारत में सम्मानजनक नज़रों से नहीं देखा जाता है। समाज तलाक के लिए मात्र स्त्री को ही दोषी ठहराना चाहता है। तलाकशुदा औरत को हमेशा शकभरी दृष्टि से ही देखा जाता है, '' तलाक के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण स्त्री के पक्ष में नहीं जाता, सारी गलती, स्त्री की मानी जाती है और उसके पुनर्विवाह के अवसर क्षीण करता है। ''[2]

निश्चय ही समाज का यह दृष्टिकोण स्त्री को कई प्रकार के समझौतों के लिए विवश बनाती है। पढी–लिखी, आत्मनिर्भर नारी भी समाज के इस रवैये के कारण तलाक लेने से डरती है। ' ठीकरे की मंगनी ' की अमृता जो पेशे से अध्यापिका है, कहती है, '' दीदी, मैं अलग रहकर नहीं जी सकती। समाज के लांछन मुझे तोड़ देंगे और उनके साथ रहना जैसे असंभव होता जा रहा है। ''[3] नासिरा शर्मा के अन्य उपन्यास ' शाल्मली ' में केन्द्रीय सेवा विभाग में काम करने वाली शाल्मली के मन में भी समाज के इस रूढीवादी दृष्टिकोण के प्रति शक और संकोच है। तलाक के बारे में

---

[1] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, पृ–111

[2] रेखा कस्तवार, स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, पृ–145

[3] नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, पृ–179

वह सोचती है , “ अपने स्वाभिमान की रक्षा में उठाया उसका ठोस कदम समाज में सराहा जाएगा या उसकी दृष्टि में वह अभिशाप्त बना दी जाएगी? आरोपों, लांछनों व्यंग्यों से बिंधा उसका व्यक्तित्व, उसकी अपनी यातना का प्रमाण–पत्र होगा या पति द्वारा ठुकराई एक व्यभिचारिणी का? ”[1]

समाज कदापि यह जानना नहीं चाहती कि स्त्री ने क्यों संबंध–विच्छेद किया। शाल्मली सोचती है, “ औरत को तलाकशुदा जानकर क्या लोगों के व्यवहार में हलकापन नहीं आएगा? अपने पीछे फैलती अफ़वाहों और मुंह पर मारी छींटाकशी को वह सहन कर पाएगी? किस–किस को पकड़कर बताएगी कि नटनि की तरह पैर साधकर पतली रस्सी पर चलनेवाली औरत के मन–मस्तिष्क पर पड़े असंख्य घाव उसे इस निर्णय तक लाए हैं। ”[2]

‘ अकेला पलाश ’ में मेहरुन्निसा परवेज़ ने पुरुष की इस मानसिकता की ओर संकेत किया है कि वे तलाकशुदा औरत को आसानी से उपलब्ध समझते हैं। तरु जो पति से अलग हुई है, उससे तहमीना कहती है –

“ फिर तुम जैसी स्त्री को तो जो अपने घर से निकल आयी हो, और अकेले बच्चों के साथ रहती हो, ऐसी औरत को तो हमारे समाज के पुरुष लोग सार्वजनिक कुआँ समझते हैं। जिसकी इच्छा हुई, प्यास लगी, पानी पी लिया। ”[3]

---

[1] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–149

[2] वही, पृ–149-50

[3] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश,पृ–212

चित्रा मुद्‌गल के उपन्यास ‘ एक ज़मीन अपनी ’ के केंद्र में है तलाकशुदा नारी का जीवन। प्रस्तुत उपन्यास में समाज की नज़र में तलाकशुदा नारी के स्थान के बारे में बडी गंभीरता से विचार किया गया है। इस उपन्यास में इस बात की ओर संकेत किया गया है कि तलाकशुदा नारी के प्रति स्वयं स्त्रियों की भी दृष्टि उतना स्वस्थ नहीं है। अधिकांश स्त्रियों के मन में तलाकशुदा नारी के आत्मविश्वास को लेकर ईर्ष्या का भाव है। हरीन्द्र कहता है, “ उन्हें लगता है कि जो स्त्री पति से अलग हो गई है, उसके साथ दाल में कुछ काला है। भले पति के साथ रहते हुए वह दाल को चाहे जितना काला–पीला करती रहे . . . मगर उस सामाजिक आड़ में सब नैतिक है . . . बहरहाल मुझे लगता है कि वे शंकालू इसलिए नहीं होतीं कि उनकी नज़र में वे दुश्चरित्र हैं, बल्कि अवचेतन में वे ऐसी स्त्रियों के आत्मविश्वासी रवैये और स्वतंत्र व्यक्तित्व के समक्ष अपने बौनेपन की वजह से आतंकित रहती हैं। ”[1] आगे हरीन्द्र कहता है, “ अगर किसी स्त्री के विषय में वह यह सुन लें कि फलाँ के पति ने उसे छोड़ दिया . . . तो उस औरत के प्रति उनकी समस्त करुणा और संवेदना उमड़ पड़ती है कि हाय . . . नसीब की मारी के साथ बड़ा अनर्थ हुआ। बेचारी गऊ थी . . . लेकिन अगर वह सुन लें कि फलाँ–फलाँ स्त्री ने पति की ज़्यादतियों के विरोध में साहसपूर्वक घर छोड़ दिया है और अपने पैरों पर खड़ी आत्मसम्मान पूर्वक जीवन जीने का प्रयास कर रही है तो अचानक उनकी संवेदना सूख जाती है। क्यों? इसीलिए कि वे वस्तुतः उस औरत के जुझारू व्यक्तित्व के समक्ष स्वयं को बौना महसूस करती हैं। ”[2]

शाल्मली का विचार, हरींद्र के इस विचार से मिलते–जुलते हैं। शाल्मली सोचती है, “ यातना झेलती औरत सबके आकर्षण और सम्मान का केन्द्र होती है,

---

[1] चित्रा मुद्‌गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–52

[2] वही, पृ–52

मगर वह उसको सहने से इनकार कर दे, तो सारी हमदर्दी घृणा और अपमान में बदल जाती है। कैसी विडंबना है? "[1]

' एक ज़मीन अपनी ' में हरीन्द्र ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि ऐसी स्त्रियों का भी अभाव नहीं है जो किसी दूसरी स्त्री के तलाक के निर्णय से प्रभावित होती है। साथ ही तलाक के प्रति नारी की दृष्टि बदलने की ज़रूरतों पर भी वह ज़ोर देता है। वह अंकिता से कहता है, " स्त्रियाँ तुम्हें ऐसी भी मिलेंगी, जो परंपरागत दमन और संकीर्णता की सडन के खिलाफ विद्रोह तो करना चाहती हैं मगर आत्मविश्वास की कमी या अन्य निजी मजबूरियों के चलते ज़्यादतियों का प्रतिवाद नहीं कर पातीं . . . मगर जब किसी स्त्री को अपने पति के अमानवीय व्यवहार के विरुद्ध मोर्चा बाँधते पाती है तो खूब उत्प्रेरित होती हैं, उनकी प्रशंसा करते नहीं अघातीं क्योंकि वे उन स्त्रियों के संघर्ष में अपनी लड़ाई को मूर्त होता पाती हैं यानी अभी हमारी स्त्री को रूढ़ मानसिकता से मुक्त होना शेष है . . . "[2]

अमरीकी समाज और तलाक

समकालीन संदर्भ के कतिपय नारीवादी उपन्यासों में अमरीकी सामाजिक परिवेश में तलाक को विश्लेषित करने का प्रयास हुआ है। अमरीकी समाज में तलाक पाना उतना मुश्किल नहीं जितना कि अन्य देशों में हैं। तलाक के प्रति समाज का विचार यथार्थवाद पर ही अधारित है। अमरीका में जो सबसे आसानी से मिलता है वह है तलाक। " अमरीका में जो चीज़ सबसे आसानी से उपलब्ध है, वह है तलाक। और

---

[1] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ– (150)

[2] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–52

तलाक के साथ प्रापर्टी सैटलमेंट भी खुद–ब–खुद हो जाता है। पती–पत्नी की जायदाद सांझी होती है,.....''[1]

अमरीकी अंदाज़ में तलाक क अर्थ पति–पत्नी के बीच की दुश्मनी नहीं है। पति या पत्नी को आपस का संबंध निभाने में कुछ कठिनाई महसूस होती है तो तलाक लेने का निर्णय दोनों बडी सहजता से लिए जाते हैं। ' कठगुलाब ' के गैरी का तलाक एक प्रकार की परस्पर धारणा से ही संपन्न हुआ। '' गैरी ने बतलाया था कि उनका तलाक ज़रूर हुआ था पर आपस में दुश्मनी कभी नहीं रही। किसी ने किसी को धोखा नहीं दिया, किसी ने किसी को जलील नहीं किया। उनका अपसी रिश्ता गांसिप और स्कैंडल के हत्थे चढ़कर, अफ़साना नहीं बना। बस, इतना हुआ कि उनकी आपस में निभी नहीं और ठेठ प्रोग्रेसिव अमरिकी अंदाज़ में, उन्होंने म्यूचुअल कंसेट से तलाक ले लिया। ''[2]

अमरीका में पले हुए बच्चों को भी तलाक के प्रति व्यक्त जानकारी है। ' अन्तर्वंशी ' की वाना को लगती है कि उसके और राहुल के संबंध को समझने में बच्चों को कोई कठिनाई नहीं होगी। इस संबंध में वह सोचती है, '' एक दिन इन बच्चों को भी बताना होगा। पर यह अमरीका में पले, बड़े हुए बच्चे हैं, तलाक इनके लिए कोई नई बात नहीं। एक पुरुष से नहीं पटी तो और भी हैं – ''[3]

भारतीय समाज में तो तलाकशुदा स्त्री को शक भरी दृष्टि से ही देखा जाता है। किन्तु अमरीका में तलाकशुदा स्त्री को जिस दृष्टि से देखा जाता है वह किसी भी

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ– 92

[2] वही, पृ– 100

[3] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, पृ–233

प्रकार के पूर्वाग्रह से मुक्त है। तलाक के समय मनोचिकित्सक डॉ० गुडमैन ‘ शेषयात्रा ’ की अनु को याद दिलाती है कि अमरीकी समाज में वह स्वतंत्र और आत्मनिर्भर होकर रह सकती है। वह कहता है, “ पर तुम उस सोसायटी में (भारत में)नहीं रह रही हो, पश्चिम में हो, यहाँ तुम स्वतंत्र, आत्मनिर्भर, मुक्त होकर रह सकती हो! ”[1]

उषा प्रियंवदा के उपन्यास ‘ शेषयात्रा ’ की अनु के मन में तलाक के बाद के जीवन को लेकर कई शंकायें हैं। इस कारण ही कुछ समय के लिए ही सही उसका मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। किन्तु ‘ शेषयात्रा ’ के बाद प्रकाशित उसका दूसरा उपन्यास ‘ अन्तर्वंशी ’ में वाना बिल्कुल अमरीकी अंदाज़ में शिवेश से कहती है, “ शिवेश! आई ’ म लीविंग यू–”[2]

अमरीकी समाज में तलाकशुदा औरतें कुछ विशेष अधिकारों के हकदार हैं। पति की संपत्ती के आधे हिस्से पर तलाकशुदा और विधवा स्त्री का अधिकार है। ‘ कठगुलाब ’ में मारियान की माँ, जार्ज से शादी करके उसकी संपत्ती के आधे हिस्से का अधिकार हासिल करती है। “ उसकी(जार्ज)आधी संपत्ती, शादी होते ही मेरी मां के अधिकार में चली आई थी। अमरिकी कानून के मुताबिक, तलाक और वैधव्य, दोनों सूरतों में, वे उसकी मालकिन रहतीं ”[3] ‘ शेषयात्रा ’ की अनु को भी इसप्रकार घर का आधा हिस्सा और सामान मिल जाते हैं। “ जज ने घर में आधा हिस्सा और घर का सामान अनु को दिया, अधा हिस्सा और गाड़ी प्रणव को। अनु ने रहने, खाने के खर्च

---

[1] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, पृ–61

[2] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वंशी,पृ–241

[3] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ– 61-62

की माँग नहीं की थी, इसलिए उसे वह नहीं मिला, हालाँकि उसे वह माँगने और लेने का पूरा–पूरा हक था। ''[1]

मातृत्व की अवधारणा

भारतीय परंपरा के अनुसार मातृत्व ही नारी जीवन की पहचान, सार्थकता एवं पूर्णता का आधार है। मातृत्व–सुख से वंचित नारी को अवज्ञा की दृष्टि से ही देखा जाता है। किन्तु मातृत्व संबंधी अवधारणाओं में आज कुछ परिवर्तन अवश्य हुए हैं। मातृत्व को नारी की पराधीनता एवं व्यक्तित्व विकास के लिए बाधक तत्व के रूप में देखनेवाली औरतों का एक नए वर्ग भी वर्तमान समाज में उपस्थित है। वस्तुतः यह पश्चात्य नारीवाद का प्रभाव है। डाँ . ओम प्रकाश शर्मा के शब्दों में , '' दूसरी ओर पश्चिम के उग्र नारीवाद ने स्त्रियों की पराधीनता और दुर्दशा का एक कारण उसकी माँ बनने की क्षमता को माना है। इससे प्रभावित अपने यहाँ की अभिजात्य तथा उच्च मध्यवर्गीय महिलएँ माँ बनने से कतराने लगी हैं। नारिवादियों का एक वर्ग मातृत्व को नारी के सबलीकरण में अवरोधक सिद्ध करने में लगा है। ''[2]

समकालीन नारीवादी लेखिकाओं ने मातृत्व के प्रति कोई विरोध न प्रकट किया है। वे मातृत्व की अवधारणा को आज भावुकता की दृष्टि से देखने के बजाय यथार्थवादी दृष्टि से देखने–परखने के प्रयास में जुटे हैं। अपने अधिकारों की रक्षा का प्रयास इस मामले में भी ज़ारी है। मृदुला गर्ग के शब्दों में , '' पर आज का नारीवाद मातृत्व को व्यापक संदर्भ में भी देखने लगा है। पोषक तत्व के रूप में मान्यता देकर, उसे स्त्री का सहजात गुण बतला रहा है। गर्भ गिराने के साथ–साथ बिला विवाह ही

---

[1] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, पृ–88

[2] डाँ० ओम प्रकाश शर्मा, समकालीन महिला लेखन, पृ–110

नहीं, बिला पुरुष संसर्ग,गर्भ धारण करने का अधिकार माँग रहा है। ''[1] जाहिर है कि मृदुला गर्ग मातृत्व को नारी के सहजात गुण मानती है। उसके ही उपन्यास की मारियान माँ बनने की अपनी इच्छा को खुलकर व्यक्त करती है। '' नहीं। मुझे खुद का, अपना बच्चा चाहिए। मैं उसे अपने आँगन मैं खेलता–बढत्ता देखना चाहती हूँ। अपने घर की दीवारों के बीच गूँजती, शनैः–शनैः दृढ़ होती उसकी आवाज़ सुनना चहती हूँ। मैं उसे अपने कंधे से लगाकर सुलाना चाहती हूं। हाँ, मैं एकदम पारंपरिक, जाहिल, गँवार, प्राकृत औरत हूँ। औरत हूँ मैं। औरत हूँ। तो? क्यों न हूँ औरत? मैं चिल्ला–चिल्लाकर कहती हूँ, मैं एक बच्चा पालना चाहती हूँ। अपने घर में अपनी छत के नीचे, अपने फ़र्श के ऊपर, अपनी दीवारों के बीच। मैं उसका पहला शब्द सुनना चाहती हूँ। पहला कदम सँभालना चाहती हूँ। मैं उसके सिरहाने बैठकर रातें काटना चाहती हूँ। मैं अपनी आँखों के सामने, अपने पर निर्भर बच्चे को आत्म–निर्भर बनते देखना चाहती हूँ। उसे आत्म–निर्भर बनाने में इन्वेस्ट करना चाहती हूँ। मैं पालना–पोसना, सहेजना–सँवारना चाहती हूँ। मैं सर्जक होना चाहती हूँ। "[2]

' कठगुलाब ' के इर्विंग के विचार में नारी के व्यक्तित्व की पूर्णता को मातृत्व तक ही सीमित रखकर पितृसत्तात्मक समाज इसके साथ अन्याय कर रहा है। वास्तव में यह उसका षडयंत्र है। वह मारियान से अपना विचार यों प्रकट करता है। '' तुम अच्छी तरह जानती हो कि आदिम समाज, स्त्री को शिशु की रचना में व्यस्त रखकर, उसे पुरुष की सुरक्षा पर निर्भर बनाना चाहता था। उसके लिए, उसने यह ढकोसला फ़ैलाया था कि औरत को बच्चे की सृष्टि करके, इतनी परिपूर्णता मिल जाती है कि उसमें काव्य

---

[1] मृदुला गर्ग, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, पृ–273

[2] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ– 104

या कलाकृति की सृष्टि करने की भूख बची नहीं रहती। उसने कहा और बार–बार कहा कि औरत भगावान की तरह आदिम स्रष्टा है, उसे छोटे–मोटे सृजन की ज़रूरत नहीं है। बार–बार कहकर उसने तुम लोगों को ब्रेनवॉश करके रख दिया। तुम लोग उसे सच मान बैठीं। बच्चे की पैदाइश में संपूर्ति खोजने लगीं। पर ज़रा सोचकर देखो, बच्चे की सृष्टि में तुम्हारी देह भले समर्पित हो, तुम्हारी कल्पना शक्ति या प्रतिभा को अभिव्यक्ति का मौका कहाँ मिलता है? ''[1]

कुछ पुरुषों के लिए स्त्री बच्चा पैदा करने का मेशीन मात्र है। स्त्री की मर्ज़ी–बेमर्ज़ी की ख्याल उसे नहीं है। ' आवाँ ' की गौतमी उस पुरुष मानसिकता का विरोध करती है। वह गर्भधारण कर नौ महीने निष्क्रिय होना नहीं चाहती। उसके स्वर में आधुनिक कामकाजी महिला की मानसिकता प्रकट है। " अशोक का मन है– एक लड़की पैदा करूँ। नौ महीने पेट फुलाकर न अब मैं निष्क्रिय होना चाहती हूँ, न रोती जा रही बकरी –सी प्रसव–पीड़ा झेलते छटपटाना . . . ''[2]

पति–पत्नी के बीच के विघटन को दूर करने में शिशु की उपस्थिति महत्वपूर्ण माना जाता था। कभी–कभी शिशु के भविष्य को ध्यान में रखकर अनुचित समझौते के लिए नारी विवश होती थी। किन्तु आधुनिक नारी शिशु को पति के बीच की खाई पाटने के पुल के रूप में नहीं देखती। शाल्मली का विचार इसका प्रमाण है,

" . . . जैसे वह संबंधों की खाई पाटने के लिए किसी नए जीव के नाम को भुनाना चाहती है। यदि उसे नरेश को दोबारा पाना है, तो वह इस नए जीव के बनाए पुल पर चलकर उस तक नहीं पहूँचेगी, बल्कि जिस बिन्दू से उसने नरेश के साथ

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ– 73-74

[2] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–(361)

जीवन आरम्भ किया था, उसी बिन्दू को केन्द्र मानेगी। किसी भी तीसरे की उपस्थिति उसकेलिए असहनीय है। ''[1] शाल्मली इसी कारण नर्सिंग हाँम में जाकर अपना गर्भ गिराती है। इसको लेकर वह ज़रा भी चिन्तित नहीं है। इतना ही नहीं वह उसे अच्छी भी लगती है, '' अच्छा हुआ, जो नहीं हुआ, वरना उस नन्हें से ' रिश्ते ' को हम भुनाते और न चाहते हुए भी एक–दूसरे को झेलते, समझौते करते। वैसे भी नरेश तक पहूँचने के लिए किसी पुल की आवश्यकता नहीं है। उसे मेरे पास आना होगा या मुझे उस तक जाना होगा, तो हमारी भावनाएँ और चाहत हमारा सेतु होगा। ''[2]

' एक ज़मीन अपनी ' की अंकिता को बच्चे का न जीवित रहना अपने जीवन से पति सुधांशु के निष्कासित होने के लिए सहायक लगता है। उसके शब्दों में भावुकता से मुक्त आधुनिक नारी का रूप ही प्रकट हुआ है, '' मेरे लिए भी उसका मरना मेरी ज़िन्दगी से तुम्हारा निष्कासन है . . . वरना उसकी शक्ल में ज़िंदगी–भर मुझे तुमको ढ़ोना पड़ता . . . क्योंकि वह हमारा बच्चा नहीं था . . . तुम्हारी कामुकता का परिणाम था . . .''[3]

अधुनिक नारी जीवन की सार्थकता माँ बनने में खोजना नहीं चाहती। उसकी नज़र में स्वस्थ पारिवारिक जीवन के अभाव में शिशु का कोई महत्व नहीं है। इसी कारण शाल्मली अपनी माँ के विचार से कुछ भिन्न विचार रखती है। वह सोचती है, '' यह उलझाव, ये गांठें माँ नहीं समझ पाती हैं! वह सोचती है कि औरत की सार्थकता केवल माँ बनने में है। गृहस्थी का बोझ ढ़ोने में है, मगर वह यह नहीं

---

[1] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ– 117

[2] वही, पृ– 163

[3] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–19

जानतीं कि जीवन–साथी की आवश्यकता मन–मस्तिषक के धरातल पर किसी भी स्त्री के लिए कितनी ज़रूरी होती है, वह न मिले तो बच्चा और गृहस्थी किस काम की? उसे लेकर करना भी क्या है? ”[1]

वैज्ञानिक प्रगति ने आज स्त्री को माँ बनने के लिए कठिन जैविक प्रक्रियाओं से बचने का अवसर भी प्रदान किया है। गर्भधारण किए बिना भी स्त्री आज माँ बन सकती है। ‘ आवाँ ’ की निर्मला इस प्रकार गर्भाशय से बाहर गर्भधारण करना चाहती है। वह अपनी जान जोखिम में डालकर पति के वंश को एक वारिस प्रदान करना नहीं चाहती। संजय इसकी सूचना देता है, “ आत्म–अनुरक्त निर्मला ने घोषणा कर दी – उसके बूते का नहीं अपनी जान जोखिम में डालकर कनोई खानदान का वारिस पैदा करना। ”[2] किन्तु विज्ञान की इस प्रगति ने बाज़ारवाद की प्रवृत्ति को पनपने का मौका भी प्रदान किया है। आज कोख भी बाज़ार से खरीदा जा सकता है। कोख बेचने को नारी तैयार भी है। ‘ आवाँ ’ उपन्यास में इस विषय को बडी संजीदगी से चित्रित किया गया है। नमिता की कोख का अधिकारी संजय कनोई है। क्योंकि वह उसके ऊपर लाखों रूपए खर्च कर चुके हैं। गौतमी तो अपनी कोख बेचकर कई भौतिक सुविधाएँ हासिल कर बैठी है।

मातृत्व की अवधारणा में भी पितृसत्तात्मक समाज अपने हितों के अनुसार ही सिद्धांतों का गढन करता है। मातृत्व को पवित्र मानते हुए भी वह नाजायज संतानों को जन्म देनेवाली स्त्री का तिरस्कार करता है। जायज माननेवाले पुत्र हमेशा पिता के नाम से और नाजायज पुत्र माँ के नाम से जाने जाते हैं। ‘ अल्मा कबूतरी ’ के मंसाराम सोचता है, “ जायज माननेवाले बच्चे बाप के नाम और जाति से जाने जाते हैं

---

[1] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–117
[2] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–525

और नाजायज माँ के नाम जाति से। तब क्या माँएँ नाजायज होती हैं? ''[1] माँ बनने के लिए संपूर्ण शारीरिक पीडा स्त्री को ही झेलनी पड़ती है। बच्चे के देखभाल में भी जितनी भूमिका वह निभाती है, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है। किन्तु इतना होने पर भी शिशु बाप के नाम से ही जाने जाते हैं। ' कठगुलाब ' के इर्विंग मारियान से कहता है, '' शिशु बाप के नाम से ही जाना जाता है ''[2]

विधवा जीवन

हिन्दी की प्रारंभिक महिला लेखिकाओं का ध्यान मुख्यतः विधवा जीवन पर ही केंद्रित था। किन्तु पुरुष लेखकों की भाँति सहानुभूति प्रकट करने के बजाय, उनके साहित्य में विधवा जीवन को गौर से देखने का प्रयास न के बराबर रहा। भारतीय समाज में विधवा को अपशकुन माना जाता था। इस मानसिकता से आज भी समाज पूर्णतः मुक्त नहीं है। साधारण ज़िंदगी जीने के अधिकार से विधवा आज भी वंचित है। पुनर्विवाह के मामले में आज भी उसे दोयम दर्जा ही हासिल है। समकालीन नारीवादी लेखिकाओं ने विधवा जीवन से संबंधित इन विभिन्न पहलुओं को अपने उपन्यसों में चित्रित किया है।

पति का निधन स्त्री के सहज जीवन की गति को बाधित करता है। पति की मृत्यु के बाद साधारण ज़िन्दगी जीने का हक उसे नहीं है। ' दिलो–दानिश ' की छुन्नी को सत्संग और पूजा में ही मन लगाने का उपदेश दिया जाता है, '' यह कतईयन न तुम्हारे हाथ में और न हमारे। कलाइयाँ सूनी हो जाएँ तो उम्र–भर को लानत–मलामत। ऐसे में कान–आँख मूँदकर ही अँगुलियों के बल चलना होता है।

[1] मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ–116

[2] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ– 89

बहुतेरी पड़ी हैं ऐसी। हमारी मानो तो सत्संग–पूजा में मन लगओ छुन्नी, उसी से वक्त कटेगा। ''[1] ' बेतवा बहती रही ' की उर्वशी तो सारा दिन काम करके बैरागी की माँ के उपदेश का पालन करती है। '' सारा दिन काम में निकाल देने का प्रयत्न करती, लेकिन दुश्चिंताओं के कारण दिन कितना लम्बा हो उठता। दाऊ और जिजी नाहीं करते पर वह न मानती। एक काम खतम होता, तो दूसरा निकाल लेती। बैरागी की अम्मा की ही बात गाँठ बाँध ली थी , '' बहू, इतेक काम करो कि रात में नींद आ जाय। रात के अँधियारे में जगवौ बुरौ होत है बहू। ''[2]

विधवा को अपशकुन मानने वाली मानसिकता भी ' दिलो–दानिश ' में चित्रित हुआ है, '' छुन्ना बुआ, ज्योति दीदी की पक्की हो गई है। कल सुबह–सुबह सब लोग लखनऊ जाएँगे। चाची कह रही थीं कि आपके कमरे के सामने से न निकलेंगे। पिछवाड़े से जाएँगे। ''[3]

' आवाँ ' की नीलम्मा को तो अपने और बच्चों की सुरक्षा का भय है। बच्चों वाली विधवा, बच्चों के भविष्य को लेकर चिंतित है, '' परसों रात उसका सिर ठोंकते हुए नीलम्मा चिंतित हो आई। भय दबोचता है अकसर उसे। जिस दिन सास–ससुर नहीं रहेंगे, कैसे गुज़र होगी उसकी। रामप्पा देव से वह रोज़ सुबह प्रार्थना करती

[1] कृष्णा सोबती, दिलो–दानिश, पृ–121

[2] मैत्रेयी पुष्पा, बेतवा बहती रही, पृ–81

[3] कृष्णा सोबती, दिलो–दानिश, पृ–116

है –सास –ससुर को वह तब तक उसके सिर पर बनाए् रखे, जब तलक उसके बच्चे किशोर न हो जायें। ”[1]

‘ ठीकरे की मंगनी ’ की सुलोचना को तो अपने वैधव्य पर संतोष है। क्योंकि उसे गृहस्थी के नाम पर किसी का अत्याचार नहीं सहना है। वह कहती है– “ मैं तो बालविधवा हूँ, जिस कुल की हूँ वहाँ दूसरे विवाह के बारे में सोचना भी पाप है, सो बचपन से ही अकेलेपन से समझौता कर चुकी हूँ। मगर जब विवाहित औरतों के दुखों को सुनती हूँ तो सोचकर सन्तोष करती हूँ कि मैं बहुतों से भली हूँ, कम–से कम गृहस्थी के नाम पर किसी के अत्याचार की शिकार तो नहीं हूँ। ”[2]

राजी सेठ के उपन्यास ‘ तत्–सम ’ का मूल कथ्य विधवा जीवन है। विधवा के पुनर्विवाह से जुड़ी समस्याओं पर इस उपन्यास में गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है। शिक्षा और आत्मनिर्भरता विधवा को स्वतंत्र निर्णय लेने में किस कदर सहायक सिद्ध होता है इस तथ्य को वसुधा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

विधवा के प्रति सहानुभूति प्रकट करना आम बात है। किन्तु वसुधा के जीवन में यह अतिरिक्त सहानुभूति ही सबसे बडी समस्या है। इस प्रकार की सहानुभूति से विधवा का आत्मविश्वास खंडित हो जाता है। वसुधा को एक विधवा स्त्री जानकर सभी ओर से सहानुभूति ही प्राप्त होती है, जो उसे पूरी तरह अखरती है। “ ओह! . . . आयम साँरी . . .! ” कुछ गड़बड़ा गया हो जैसे हमेशा गडब़ड़ा जाता है। इस सिरे से उस सिरे के बीच में बहती सहजता सहमकर चुप हो जाया करती है। अखरता है उसे सदा ऐसा ही होना। बार–बार, जगह–जगह पर उसी–उसी दृश्य की आवृत्ति होना।

---

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–534

[2] नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, पृ–179

सामनेवाले का पहले तो स्तब्ध होना फिर दया, करुणा, बेचारगी की टोकरी को उसके सिर पर औंधा कर देना। ''[1] विधवा पर सहानुभूति प्रकट करने वाले कतई यह नहीं जानते कि यह सहानुभूति किस हद तक उसे आहत करती है। वसुधा सोचती है, '' क्या उन्हें पता है दुखते स्थलों पर ही दबाव देती है उन सबकी इतनी सावधान उँगलियाँ। धूम–फिरकर जताया जाता है कि अब तक तो सब ठीक था। वह सामान्य थी–जीवन की धूप,ताप, दाह सब सह सकती थी। अब दग्ध है –लुटी हुई। पिटी हुई। दया से, करुणा से, अतिरिक्त सहानुभूति से उसे बचा–सँभालकर रखा जाए। बीच सड़क चलने की सामान्यता के अधिकार से बरखास्त करके फुटपाथ पर खड़ा कर दिया जाए।

क्या इन्हें पता है कि यही बचाव–सँभाल, यही क्षमाभाव, किसी–न–किसी प्रकार के अतिरिक्त से लचकी हुई आत्मीयता कितना फेंक देती है पीछे। झोंक देती है उसे वहीं जहाँ से बचने और बचाये जाने की उन सबके मन में इतनी बेचैनी है। ''[2]

विधवा का पुनर्विवाह आज भी एक विकराल समस्या है। पुनर्विवाह के अवसर आज उपलब्ध तो अवश्य है किन्तु ज़्यादतर यही देखने में आया है कि विधवा के चयन का अधिकार बहुत सीमित होता है और वह समझौते करने के लिए विवश हो जाती है। वसुधा को लगती है कि उसके गले में सेकंड़–हैंड़ की तख्ती लटका गई है, '' . . . संभावनाएँ। कैसी संभावनाएँ? संभावनाओं के रंग–रूप तो और अधिक वितृष्णा से भरे। चारों ओर चिंताओं के गीले बोझल कंबल। घोंटते हुए। गले में सेकंड़–हैंड़ की तख्ती। किसी भी तरह किसी के भी द्वारा उद्धार कर दिए जाने की

---

[1] राजी सेठ, तत्–सम, पृ–12

[2] वही, पृ–15

चाचक उपेक्षाएँ । केंद्र में बैठी हुई वह। आधुनिकता उदारता की शबाशी लोटते वह सब। ''[1] इसी सैकंड़-हैंड़ की तख्ती गले में लटकने के कारण एक सहज वैवाहिक जीवन से विधवा स्त्री वंचित रह जाती है। क्योंकि विधवा से पुनर्विवाह करनेवाले पुरुषों का मकसद एक स्वस्थ पारिवारिक जीवन नहीं है। उनके यथार्थ मंशा तो इसप्रकार प्रकट हुआ है, '' नाम अलग-अलग है, लोभ वही-के-वही। एक आए थे उन्हें बच्चों की माँ चाहिए थी। दूसरे को तगड़े वेतनवाली कमाऊ औरत। उन्हीं में से किसी एक को निवृत्ति के बाद समयकाटू जिंस की ज़रूरत थी, और किसी एक को अपनी देह की चुप्पी को आजमा लेने की हौंस। ''[2]

' तत्-सम ' उपन्यास के अंत में पढ़ी-लिखी और आत्मनिर्भर नारी होने के कारण वसुधा अपना स्वतंत्र निर्णय लेती है और मनचाहे जीवन साथी को प्राप्त करती है। वसुधा के माध्यम से राजी सेठ ने निश्चय ही भारतीय विधवा को अतीत से मुक्त कर एक नए जीवन की ओर मुडने की प्रेरणा दी है। यहाँ यातना के अनुभव ही अपनी अस्मिता को पहचानने में वसुधा की सहायता करती है। चन्द्रकांता के शब्दों में, '' . . . . लेकिन यातना के आवें में पककर, स्त्री अपनी अस्मिता को नई पहचान दे गई ' तत्-सम ' की वसुधा को वैधव्य के दुख से उबारकर समाज की अवहेलना और ' हाय बेचारी ' वाले दयाभाव को अस्वीकार करने की आत्मशक्ति दी। मनोनुकूल साथी चुनने का विवेक और नए सिरे से जीवन जीने का हौसला दिया। ''[3]

विधवा की संपत्ति हडपने की लालच में उनसे पुनर्विवाह कर उनका आर्थिक शोषण करनेवाले पुरुषों का भी अभाव नहीं है। ' इदन्नमम ' के रत्नसिंह

---

[1] राजी सेठ, तत् -सम, पृ-40

[2] वही, पृ-122

[3] चन्द्रकांता, आजकल-मार्च 2008, पृ-18

इसप्रकार के पुरुषों के प्रतिनिधि है। उसने तो तीन विधवाओं की ज़मीन अब तक हड़प चुकी है। मास्साब कहता है–

“ तीन विधवावों की ज़मीन चाँपे बैठा है रतन यादव। किसी को भगाकर तो किसी को बहला–फ़ुसलाकर। ”[1] और बाद में मन्दा की माँ के साथ भी यही होता है उसकी ज़मीन भी हडप लिया जाता है। मन्दा की माँ कहती है, “

“ रतनसिंह से हमारा वास्ता नहीं रहा। हेलमेल उसी दिन टूट गया, जब उसने हमारी ज़मीन बिकवा दी। हमें कैसे–कैसे मजबूर किया था ... ”[2]

नारी और समाज

हमारे समाज में स्त्री हाशिए पर रहने के लिए विवश है। क्योंकि हमारा समाज पितृसत्तात्मक समाज है। अपनी सुविधा के अनुसार ही पुरुष इस समाज के सारे नियम गढते आये हैं। फलस्वरूप इसके दुनिया की आधी आबादी सहज जीवन जीने के अधिकार से वंचित रह गए हैं। समकालीन नारीवाद ने इसप्रकार की सामाजिक व्यवस्था के प्रति संदेह प्रकट किया है। स्त्री विमर्श ने ही यह स्थापित किया कि हमारा मूल्य मानव मूल्य न होकर पितृसत्तात्मक मूल्य है। किन्तु विडंबना की बात यह है कि इन्हीं मूल्यों के नाम पर ही आज स्त्री का दमन हो रहा है।

समकालीन महिला लेखिकाओं के उपन्यासों में समाज का यह दमनकारी रूप ही चित्रित हुआ है। वे स्त्री की दु:स्थिति का मूल कारण इस प्रकार के रुग्ण सामाजिक व्यवस्था में खोजते हैं। ‘ अपने–अपने चेहरे ’ की रमा पुरुष द्वारा निर्मित

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ– 126

[2] वही, पृ– 272

सामाजिक व्यवस्था ही नारी शोषण का मूल कारण मानती है, “ मैं अपने चारों ओर देखती हूँ। सति–स्वाधियाँ हैं, हाथ में माला जपती हुई। व्रत–उपवास करती विधवाएँ हैं। विवाह की लाइन में खड़ी कतार दर कतार कुआरियाँ हैं। मगर ये सब इतनी उदास क्यों? इतनी डरी हुई, सहमी हुई क्यों हैं? सहज रूप से अपने प्रति आश्वस्त क्यों नहीं हो पातीं? क्या इसीलिए कि समाज को इनकी ओर कभी आँख उठाकर देखने की फ़ुर्सत नहीं मिलती। समाज यानी पुरुष, राजनीति की गोट बिछाता हुआ पुरुष। हर नए सिद्धांत को खोजता हुआ पुरुष। प्रत्येक औरत से यह कहता हुआ, “ नहीं, अभी और बहुत–सी समस्याएँ हैं। अभी औरत को अपने बारे में बोलने का अधिकार नहीं। वह जहाँ है, जैसी भी है, वैसी ही रहे। जब हमें समय होगा, तब उसके बारे में बात करेंगे। अभी नहीं, अभी और हज़ारों समस्याएँ हैं। ”[1]

नारी के गुण और आदर्श रूप आज तक पितृसत्तात्मक समाज द्वारा ही निर्धारित हुआ है। पितृक समाज स्त्री में किस प्रकार के गुण की उम्मीद रखते हैं इसका चित्रण ‘ माई ’ में उपलब्ध है। “ हालाँकि माई की यही एक बात थी जो दादी तक को भाती थी। कम से कम यह एक गुण था माई में जिसके लिए वे कभी–कभी उसके सारे दोषों को माफ़ कर देतीं– कि दिन बीत जाता है और बहू की आवाज़ एक बार भी सुनायी नहीं पड़ती, क्लब भी जाती है पर पल्लू सिर पर रहता है, और सब कहते हैं कि माताजी, यह आप ही का पुण्य है कि ऐसी दीन हीन, सुशील बहू मिली, कभी जो

[1] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ–192-93

आँख ऊपर करती हो। "[1] दूसरे प्रसंग में माई के और एक गुण का बयान है, " दादी कहा करती थीं कि माई का एक ही गुण है वह– पर्दा करती है। "[2]

मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में पूरे विश्व में सभी वर्ग की नारियाँ रोने के लिए विवश हैं। संपूर्ण विश्व में नारी की जो स्थिति है, उसमें कोई विशेष अंतर नहीं है। ' आओ पेपे घर चलें ' की आइलिन पूछती है– " . . . दुनिया में ऐसा कोइ कोना बताओ, जहाँ औरत के आँसू नहीं गिरे? "[3] इसी उपन्यास की हेल्गा का मानना है कि, " हम औरतें अपनी ज़िन्दगी को आँसुओं में निचोड़ देती हैं। "[4] ' छिन्नमस्ता ' की प्रिया के शब्दों में, " औरत कहाँ नहीं रोती? सड़क पर झाड़ू लगाते हुए, खेतों में काम करते हुए, एयरपोर्ट पर बाथरूम साफ करते हुए या फिर सारे भोग–ऐश्वर्य के बावजूद मेरी सासूजी की तरह पलँग पर रात–रात–भर अकेले करवटें बदलते हुए। हाड़–मांस की बनी ये औरतें . . . अपने–अपने तरीके से ज़िंदगी जीने की कोशिश में छटपटाती ये औरतें! हज़ारों सालों से इनके ये आँसू बहते आ रहे हैं। "[5]

' अकेला पलाश ' की तहमीना को लगती है कि खुदा ने रोने के लिए ही औरत की आँखों का सृजन किया है, " तहमीना उन्हें देख सोच रही थी, ये आँखें दुःख सहने में कितनी माहिर हैं। क्या ये आँखें कभी रोई होंगी? हाँ, देखने से लगता है

---

[1] गीतांजली श्री, माई, पृ– 19

[2] वही, पृ– 20

[3] प्रभा खेतान, आओ पेपे घर चलें, पृ–35

[4] वही, पृ–90

[5] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–220

कि जैसे ये आँखें सारे दुःख को पी जाती हैं। पर नहीं, यह ज़रूर रोयी होंगी, क्योंकि औरत की आँखें खुदा ने रोने के लिए ही बनायी हैं। ''[1] ' छिन्नमस्ता ' की प्रिया यह सवाल उठाती है कि ये आँसुओं की परंपरा कभी खत्म होगी? '' और मेरे आँसू? इन आँसुओं की परंपरा कब खत्म होगी? क्या प्रशांत महासागर का पानी कम खारा है? क्या समंदर को समंदर बने रहने के लिए औरत के आँसुओं की ज़रूरत है? ''[2]

विश्व में सब कहीं औरत की स्थिति में कोई फर्क नहीं है इस बात की स्थापना ' कठगुलाब ' में भी हुई है, '' स्पेन से आई रूथ, इटली से आई एलेना, स्कॉटलैंड से आई सूज़न और पोलंड से आई रॉक्जॉन। मारियान ने उनकी ज़िंदगी के बारे में जानकारी लेनी शुरू की तो देखा कि उसके जनरल में, उन औरतों के नाम से, अलग–अलग डायरियाँ लिखी जाने लगी हैं। समाजशास्त्री मारियान जानती थी कि हर औरत एक पूरे समय और समाज का प्रतिनिधित्व करती है। पर हाड़–मांस के शरीरवाली मारियान नाम की औरत यह भी जानती थी कि उसकी तरह हर औरत, औरों से कुछ अलग , एक विशिष्ट प्राणी है, चाहे वह कितनी अपूर्ण और मामूली क्यों न हो। अपूर्ण है तभी तो इंसान है, अलग है, विशिष्ट है। उन औरतों की ज़िंदगी का जायजा लेते हुए, मारियान को अनायास तर्कों, तथ्यों और तारीखों में छुपे जीवन के वे संगत–असंगत तत्व मिलने लगे, जो कभी व्यक्ति से जोड़कर और कभी तोड़कर, एक सतत गतिशील समाज को जन्म देते हैं।

फ़िर एक दिन उसने पाया कि वे औरतें रूथ, एलेना, सूज़न, और रॉक्जॉन, एक खास पीढ़ी का नहीं, बल्कि औरत की हर पीढ़ी का प्रतिनिधित्व कर रही थीं। अंतर्मन

---

[1] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश,पृ–96

[2] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–222-23

को भीतर तक मथ देनेवाली मानवीय पीड़ा के साथ उसने समझा कि आज की तथाकथित स्वतंत्र और व्यक्तिनिष्ठ स्त्री और समाज की अपेक्षाओं पर मर–मिटनेवाली उन पुरखिन औरतों के बीच, कोई बुनियादी फ़र्क नहीं था। ”[1]

निष्कर्ष

भारतीय परिवारों में लडकियाँ एक पूर्वनिर्धारित साँचे में ढलकर ही बड़ी होती है। बचपन से ही उसे ‘ औरत बनाने ’ के लिए विशेष प्रशिक्षण दिये जाते हैं। हमारे परिवारों में बेटा–बेटी भेदभाव आज भी वर्तमान है, जिसके कारण लड़की को परिवारों में दोयम दर्जा ही हासिल है। तमाम नियंत्रणों के बावजूद कन्या भ्रूण हत्या ने आज एक विकराल समस्या का रूप धारण किया है। नतीजतन देश में स्त्री–पुरुष का अनुपात प्रत्येक वर्ष घटता जा रहा है। समकालीन नारीवादी लेखिकाओं की यह पहचान भी उल्लेखनीय है कि परिवारिक मूल्यों के नाम पर हमारे परिवारों में नारी का शोषण ही होता आया है। औरत के लिए आज भी वास्तव में कोई घर है ही नहीं।

विवाह संबंधी अवधारणाओं में समकालीन नारीवादी लेखिकाओं के उपन्यासों में पर्याप्त नवीनता दृष्टव्य है। शादी जैसी संस्था पर प्रश्नचिह्न लगाने वाले कुछ नारी पात्रों का चित्रण इस समय के नारीवादी उपन्यासों में हुआ है। आज भारतीय नारी के लिए शादी जीवन का अंतिम लक्ष्य या सार्थकता का पर्याय नहीं है। पारिवारिक विघटन और तलाक की समस्या को नवीन परिवेश में विश्लेषित करने का प्रयास भी इस समय के उपन्यासों में हुआ है। साथ ही समकालीन नारीवादी उपन्यास तलाक के प्रति समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने की आवश्यकता पर भी ज़ोर देता है। प्रत्येक उपन्यास लेखिकायें इस बात से सहमत है कि विश्व के प्रत्येक समाज में नारी की

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ– 76

स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं है, सब कहीं उसका शोषण ही हो रहा है। कहने का मतलब यह हुआ कि नारी की आत्मपहचान ही नारीवादी रचना के उद्भव, प्रचार–प्रसार का कारण है। यही स्त्री–पक्ष रचना की प्रासंगिकता है।

अध्याय–3

नारीवादी उपन्यासों में सेक्स् और नैतिकता

अध्याय–3

नारीवादी उपन्यासों में सेक्स् और नैतिकता

भारतीय संस्कृति में काम चार पुरुषार्थों में से एक है। जितना महत्व धर्म, अर्थ और मोक्ष को दिया जाता था, उतना ही महत्व काम को भी दिया जाता था।

" प्रकृति ने काम के अन्तर्गत प्रणय एवं सौन्दर्य दोनों का समावेश किया है। अतएव हमारे मनीषियों ने काम को जीवन में समुचित स्थान दिया है। वास्तविकता यह है कि विषय–भोग की प्रवृत्ति मानव में जन्मजात है। यह सर्व सम्मत सत्य है कि काम मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अतः काम की कामना प्राकृतिक है। "[1] फ्राईड़ ने भी काम को मनुष्य की मूल मनोवृत्ति मानी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मानव–जीवन में काम–संबंधों को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य की इस मूलवृत्ति को विश्लेषित करने का प्रयास हिन्दी उपन्यासों में समय–समय पर होता आया है। जिस प्रकार स्त्री और पुरुष की शारीरिक संरचना में अंतर है, उसी प्रकार काम संबंधी अवधारणाओं में भी स्त्री–पुरुष के दृष्टिकोण में पर्याप्त अंतर देखा जा सकता है।

महिलाओं द्वारा लिखित उपन्यासों में काम–संबधी अवधारणाओं की चर्चा साठ के बाद ही शुरू होती है। वस्तुतः यह बिलकुल एक नई नई प्रवृत्ति है। पुरुष और पुरुष लेखकों द्वारा निर्धारित मान्यताओं को इस समय की लेखिकाओं ने बेबुनियाद एवं स्त्री–विरुद्ध सिद्ध किया। उन्होंने न केवल पुरुष द्वारा निर्धारित मान्यताओं का खण्डन किया बल्कि नैतिकता की नई अवधारणाओं को पाठकों के सामने प्रस्तुत भी किया। समकालीन महिला लेखिकाओं के उपन्यासों में इन प्रवृत्तियों का विस्तार देखा जा

---

[1] सोती वीरेन्द्र चन्द्र, भारतीय संस्कृति के मूल तत्व, पृ–174

सकता है। उन्होंने पूर्ववर्ती प्रवृत्तियों के अनुसरण करने के साथ–साथ अपने समय की प्रवृत्तियों का चित्रण भी उपन्यासों में किया। इस दौर में काम–संबंधी अवधारणाओं में काफी जटिलता भी दिखाई देती है। इस समय के उपन्यासों में स्त्री–पुरुष संबंधों के विभिन्न आयाम और अनछुए पहलुओं का चित्रण भी उपलब्ध है। उल्लेखनीय बात यह है कि समकालीन महिला लेखिकाओं ने सेक्स् को किसी वर्जित या गर्हित रूप में देखने के बजाय एक प्राकृतिक या जैविक सत्य के रूप में ही स्वीकार किया है। साठोत्तर तथा पिछले दो दशक के नारीवादी उपन्यासों के बीच जो अन्तर है उसे वीना यादव ने इसप्रकार व्यक्त किया है, “ वैसे तो 60 के दशक के बाद ही कथा साहित्य में स्त्रियों के लिए वर्जित माने जाने वाले प्रसंगों का चित्रण मिलने लगता है जिसमें प्रेम भावना की अभिव्यक्ति भी है, वह भी माँसल प्रेम की अभिव्यक्ति। लेकिन अंतिम दशक के उपन्यासों में इसकी विशिष्टता यह है कि प्रेम नितांत व्यक्तिगत मामला बनकर उभरा है, उसको अध्यात्मिकता जैसी हवाई चीज़ से सरोकार नहीं है बल्कि विशुद्ध भौतिक धरातल पर मानवीय आवश्यकता के रूप में वह अभिव्यक्ति पा रहा है। चूँकि ऐसा प्रेम परंपरा द्वारा स्त्री के लिए वर्जित रहा है और स्त्री के मन में भी संस्कार रूप से यही बात बिठा दी गई है। अत: चरित्रों का अंतसंघर्ष भी अत्यंत जटिल हो गया है। ”[1]

नैतिकता

‘ नैतिकता ’ का शाब्दिक अर्थ है – ‘ नीति संबंधी ’ और ‘ समाजविहिता ’।[2] डॉ० अमर ज्योति ने नैतिकता की परिभाषा इसप्रकार दिया है,

---

[1] वीना यादव, हिन्दी उपन्यासों में स्त्री अस्मिता की अभिव्यक्ति, पृ–116

[2] संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संपादक– रामचन्द्र वर्मा, पृ–571

“ ‘ नैतिकता ’ मनुष्य के आचरण का संचालन करने वाली समाज सापेक्ष नियमावली होती है। नैतिकता मानव के व्यवहार को समाजोपयोगी तथा समाज के अनुकूल बनाती है। ”[1] “ आधुनिक हिन्दी शब्दकोश ” के अनुसार, “ सामाजिक चेतना के रूप में आचरण संबंधी प्रतिमानों का योगफल ” नैतिकता है।[2] उपरिलिखित अर्थों और परिभाषा से यह बात स्पष्ट हो जाता है कि नैतिकता का संबंध समाज में मनुष्य के आचरण से है। अब प्रश्न उठता है कि नैतिकता के प्रतिमानों का, नैतिकता के सिद्धांतों का गढ़न किसने किया? और उसके पीछे क्या उद्देश रहा था? स्पष्ट है इन प्रतिमानों का गढ़न नारी पर नियंत्रण रखने तथा उस पर अपना एकाधिकार स्थापित करने के उद्देश से पुरुष ने ही किया था। इस संबंध में श्री राकेशकुमार ने यों लिखा है, “ पुरुष निर्मित पितृसत्तात्मक नैतिक प्रतिमान, नियम, कानून, सिद्धांत, अनुशासन मूलतः स्त्री को पराधीन, उपेक्षिता, अन्या बनाने के लिए ही सुनियोजित ढंग से गढे गये हैं। ”[3] इन नैतिक प्रतिमानों की स्थापना ने स्त्री की स्वतंत्रता को नष्ट कर दिया। कालक्रम में पितृसत्तात्मक समाज पुरुष द्वारा गढ़ित नैतिक मान्यताओं का पालन करनेवाली स्त्री को आदर्श नारी और उल्लंघन करने वाली को कुलटा के नाम से अभिहित करने लगा।

समकालीन संदर्भ में शिक्षा प्राप्त नारी अपने काम संबंधी अधिकारों के प्रति काफी सजग है। उनकी सजगता का परिणाम है नई नैतिक मान्यताओं की अवधारणा। पुरुष द्वारा गढित नैतिक मान्यताओं के अनुसरण करने के लिए आज वह तैयार नहीं है। वे नैतिकता के पुराने मानदण्डों को तोड़कर अपने जीवन के अनुकूल नए मानदण्डों का निर्माण करने में कार्यरत हैं। वे सामाजिक नैतिकता की तुलना में व्यक्तिगत नैतिकता को अधिक महत्व देती हैं। समकालीन नारीवादी उपन्यासों में नारी की इस

---

[1] डॉ० अमर ज्योति, महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारीवादी दृष्टि, पृ– 38

[2] आधुनिक हिन्दी शब्दकोश , तक्षशिला प्रकाशन, सं–गोविन्द चातक, पृ– 321

[3] राकेश कुमार, नारीवादी विमर्श, पृ– 123

बदली हुई मानसिकता का ही चित्रण हुआ है। इस समय की लेखिकाओं ने घिसे–पिटे मूल्यों को चुनौती देते हुए सेक्स् एवं नैतिकता के क्षेत्र में अपनी जगह ढूँढने का प्रयास किया है। वे काम–संबंधों के मामले में पुरुष के विशिष्ट अधिकार, नैतिकता के दोहरे मापदण्ड, नैतिकता के सिद्धांतों के गढन में पुरुष की भूमिका आदि बातों पर एक पुनर्विचार के लिए पाठकों को बाध्य करती हैं।

नैतिकता– सिद्धांत–गढन

हमारे समाज में शील, मर्यादा, नैतिकता आदि शब्दों का संबंध मात्र स्त्री–जीवन से ही रहा है। क्योंकि ये कुछ ऐसे सिद्धांत हैं जिनका निर्माण पुरुष द्वारा स्त्री को अपने नियंत्रण में रखने के लिए बनाए गए हैं। स्त्री के लिए विहित–अविहित क्या है इसका निर्णय करनेवाला पुरुष है। पुरुष–निर्मित इन सिद्धांतों के उल्लंघन करनेवाली स्त्रियों को समाज कुलटा मानता। ‘ पीली आँधी ’ की सोमा–सुजीत संबंध को लेकर समाज का विचार इसप्रकार है, “ मासूमियत के कारण भूल हो सकती है। समाज की नज़रों में सोमा ने गलती की लेकिन क्या यह उसका अपराध था? घोरतम, गुरुतर अपराध? उसको स्वर्ग नहीं मिलेगा। सती स्त्री स्वर्ग जाती है, मगर कुलटा . . .? ”[1]

पितृक समाज की नज़र में स्त्री अकेली होकर रहना नैतिक मूल्यों के विरुद्ध है। क्योंकि पुरुष के बिना उसका कोई अस्तित्व है ही नहीं। समाज औरत को संबंधों के माध्यम से जीवित देखना चाहता है। जॉन स्टुअर्ट मिल लिखता है, “ हर नैतिकता स्त्री से यही कहती फिरती है और आजकल की अतिभावुकता भी यही संदेश देती लगती है कि स्त्री को दूसरों के लिए जीना चाहिए, दूसरों के लिए त्याग करने के लिए तत्पर रहना चाहिए, और उनके प्रेम और स्नेह को ही अपने जीवन का लक्ष्य समझना

[1] प्रभा खेतान, पीली आँधी, पृ–243

चाहिए। ”[1] ‘ अपने–अपने चेहरे ’ की रमा का विचार इस बात को प्रमाणित करता है, “ मेरा महज अकेले जीवित रहना भी उन लोगों के लिए चुनौती है। समाज औरत को केवल संबंधों के माध्यम से जीवित देखने का आदी है। जब समाज किसी औरत के विरोध में खड़ा होता है, तब उसके पास कोई मानवीय पैमान नहीं होता, “ तुम शादी क्यों नहीं करती? तुम्हारा इस व्यक्ति से क्या संबंध है? तुम बेचारी अकेली औरत ! ”[2]

नैतिकता के सिद्धांतों के गढ़न करते समय पुरुष अपने स्वार्थ की पूर्ती करने की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता। स्वयं निर्मित सिद्धांतों का तिरस्कार करने को भी वह तैयार हो जाता है। ‘ अकेला पलाश ’ के तुषार विवाहित तहमीना के साथ संबंध बरकरार रखने के लिए कहता है, “ पाप वगैरह कुछ नहीं है दुनिया में, जो मन को अच्छा लगता है वही पुण्य है, और जो अच्छा नहीं लगता वह पाप है। तुम इन परिभाषाओं में अपने को मत बाँधो . . . ”[3] तुषार तहमीना को एक साथ पति और उसके साथ संबंध रखने को मजबूर करता है। “ जहाँ तुम सारी उम्र झूठ को ओढ़े जीती रही हो, वहीं अब भी जीना होगा ; तुम्हें जहाँ जमशेद के साथ भी संबंध रखना है, वहीं मेरे साथ भी संबंध रखना होगा ”[4]

नैतिकता का स्वरूप निर्धारित करने में धर्म भी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। विश्व के सभी समाजों में मनुष्य के आचरण संबंधी मामलों में धर्म का हस्तक्षेप देखा जा सकता है। मनुष्य के आचरणों को स्वीकृति या तिरस्कार देने का पूर्ण

---

[1] जॉन स्टुअर्ट मिल, The Subjection of Women हिन्दी अनुवाद–स्त्री और पराधीनता, युगांक धीर, पृ–26

[2] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ–195

[3] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ–137

[4] वही, पृ–167

अधिकार धर्म को प्राप्त है। कभी–कभी धर्म और कानून में कोई अन्तर ही महसूस नहीं होता। अन्तर सिर्फ इतना है कि धर्म प्रत्येक वर्ण और वर्ग के हित के लिए संचालित है। मूलचन्द सोनकर के शब्दों में " अध्यात्म के स्तर पर धर्म का चाहे जो तात्पर्य हो लेकिन व्यवहार के स्तर पर उसका वही आशय है जो कानून का है। दोनों का उद्देश समाज को नियंन्त्रित करना है। इसके लिए ' क्या करना चाहिए ' और ' क्या नहीं करना चाहिए ' का संहिताकरण और उल्लंघन करने पर दंडित करने का प्रावधान दोनों जगह किया गया है . . .। "[1]

स्त्री के ऊपर विशेष पाबंदियाँ लागू करने में विभिन्न धर्मों के बीच कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं देता। क्योंकि धर्म जिस नैतिकता बोध से जुड़ा हुआ है वह बिलकुल पितृसत्तात्मक है। स्त्री–पुरुष संबंधों पर रोक लगाने का अधिकार धर्म को है। ' सात नदियाँ एक समंदर ' उपन्यास का परिवेश खुमेनी के समय का ईरान है। उस समय नारियों पर कड़े नियंत्रण ज़ारी थे। इस उपन्यास के तालीबी आगा शहनाज़ से कहता है, " शाह का दौर समझा है? रात का सफर और लड़के–लड़की का साथ . . . यह इस्लामिक गणतंत्र राज्य है, मज़ाक नहीं! "[2] भारतीय समाज में धर्म और पुराण द्वारा निर्धारित नैतिक मूल्य स्त्री को किस हद तक प्रभावित करती है वह ' आओ पेपे घर चलें ' की प्रभा के कथन से स्पष्ट है। " हमारे पुराणों में हर जगह बहुपत्नीत्व का प्रसंग है। वह सब कुछ हमारे सामूहिक अचेतन में है। शायद इसीलिए भारतीय स्त्री तमाम दर्द सहते हुए भी पत्नीत्व का हक नहीं छोड़ती। "[3]

---

[1] मूलचन्द सोनकर, स्त्री–विमर्श के दर्पण में स्त्री का चेहरा, वाङ्मय, जुलाई–दिसम्बर–2007 पृ–42

[2] नासिरा शर्मा, सात नदियाँ एक समंदर, पृ–233

[3] प्रभा खेतान, आओ पेपे घर चलें, पृ–74

नैतिकता के दोहरे मापदंड़

नैतिकता के मामले में समाज स्त्री और पुरुष के लिए भिन्न–भिन्न तराज़ू अपनाता है। दूसरे शब्दों में नैतिकता के उसूल स्त्री और पुरुष के लिए भिन्न–भिन्न हैं। पुरुष द्वारा निर्धारित नैतिक प्रतिमानों में पुरुष के लिए विशेष छूट दिया गया है। कई नैतिक मान्यताओं का पालन करने के लिए नारी ही बाध्य है। पुरुष द्वारा निर्मित नैतिकता के प्रतिमानों का वास्तविक उद्देश्य स्त्री को हमेशा अपने अधीन में रखना ही है। यौन–संबंधों के मामलों में स्त्री–पुरुष समान अधिकार के लिए योग्य नहीं समझे जाते। पुरुष जितने भी हीन या दुराचारी क्यों न हो स्त्री को उसका आदर करना चाहिए, यही पुरुष द्वारा निर्धारित नैतिकता का सारतत्व है। ' मनुस्मृति ' में कहा गया है–

" विशील: कामवृतो वा गुणैर्वा परिवर्जित :।

उपचर्य: स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पति :॥

अर्थात, सदाचार से हीन, परस्त्री में अनुरक्त और विद्या आदि गुणों से हीन पति भी पतिव्रता स्त्रियों का देवता के समान पूज्य होता है। "[1] इसी ' मनुस्मृति ' में दूसरे स्थान पर कहा गया है,

" व्यभिचारात्तु भर्तु: स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।

श्रृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥

अर्थात, परपुरुष के साथ संभोग करनेवाली स्त्री इस लोक में निन्दित होती है, मरकर श्रृगाल की योनि में उत्पन्न होती है और (कुष्ठ आदि) पाप–रोगों से दु:खी

---

[1] मनुस्मृति, व्याख्याकार–पंडित श्री हरगोविन्द शास्त्री,श्लोक–154, अध्याय–5, पृ–288

होती है। ''[1] स्पष्ट है मनु के काल से ही स्त्री और पुरुष के लिए नैतिकता की कसौटी भिन्न–भिन्न थी। पुरुष आज भी किसी न किसी प्रकार नैतिकता के पुराने मापदण्डों का अनुसरण करने के पक्ष में है ताकि उसके सारे अधिकार सुरक्षित रहे तो स्त्री नैतिकता के इन दोहरे मापदण्डों का विरोध करने में लगी है। वस्तुतः यह नारीवादी साहित्य के महत्वपूर्ण उद्देशों में से एक है। क्योंकि नैतिकता के इस दोहरे मापदंड को तोड़े बिना नारी की मुक्ति संभव नहीं है। श्री राकेश कुमार के शब्दों में, '' जब तक हम सांस्कृतिक वर्चस्ववाद यानी वर्चस्वी संस्कृति की इस दोहरी नैतिकता का पर्दाफाश नहीं करते, उन पितृक समाज के मुख्य अंतर्विरोधों को सामने नहीं लाते, उस पर कड़े प्रहार नहीं करते तब तक किसी प्रकार की सामाजिक, सांस्कृतिक क्रांति संभव नहीं है। पुरुष के लिए स्त्री महज एक वस्तु है। जिसे खरीदा, बेचा, बदला, फेंका जा सकता है। यही भारतीय वर्चस्ववाद के दोहरे नैतिक मापदंड रहे हैं जिसकी सर्वाधिक मार स्त्रियाँ झेल रही है। ''[2]

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में नैतिकता के इन दोहरे मापदंडों के विरुद्ध लेखिकाओं ने अपना गहरा असंतोष व्यक्त किया है। पुरुष द्वारा निर्धारित नैतिक प्रतिमानों के पोल खोलकर उन्होंने इन प्रतिमानों को कठघरे में खड़ा कर दिया है। कई स्थानों पर इन दोहरे मापदंडों के विरुद्ध आक्रोश का स्वर भी मुखरित हुआ है। ' एक ज़मीन अपनी ' की अंकिता नैतिकता के इस दोहरे मापदण्ड पर अपना असंतोष इसप्रकार व्यक्त करती है,

'' भेद दोहरे मानदंड़ों के रूप में मौजूद रहा है और है . . . स्त्री किसी भी अमर्यादित कृत्य से कुलच्छिनी होती है, उसे चुल्लू–भर पानी में डूब मरना चाहिए . . .

---

[1] मनुस्मृति, व्याख्याकार–पंडित श्री हरगोविन्द शास्त्री,श्लोक–164, अध्याय–5, पृ–290

[2] राकेश कुमार, नारीवादी विमर्श, पृ– 118-19

पुरुष के लिए ऐसा कोई विधान नहीं? उसके अमर्यादित आचरण के लिए शुद्धियाँ हैं . . . गोमूत्र पीकर, ब्राह्मण खिलाकर प्रायश्चित संभव है . . . वह भी न हो तब भी उसकी इज़्ज़त–आबरू की सींगें नहीं कटतीं . . . ''[1]

हमारा समाज स्त्री की किसी भी भूल को बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। किन्तु पुरुष के छोटे ही नहीं बड़े–बड़े दोषों और त्रुटियों को भी समाज अनदेखा करता है। इस संबंध में सिमोन द बोउवार का कथन उल्लेखनीय है,

'' आधुनिक समाज में पुरुष का दुर्व्यवहार एक साधारण–सी मूर्खता माना जाता है। समाज के नियमों का उल्लंघन करने पर भी समाज पुरुष को बहिष्कृत नहीं करता। पुरुष सामाजिक व्यवस्था के लिए घातक नहीं होता। इससे ठीक विपरीत यदि नारी समाज के नियमों का उल्लंघन करती है, प्रकृति व दानवीय प्रवृत्तियों की ओर जाती है तो उसके ऊपर भयंकर विपत्ति आती है। नारी का आचरण यदि स्वेच्छाचारी होता है, तो उसे हमेशा बदनामी का भय रहता है। ''[2] ' चाक ' के सारंग का विचार इससे मिलते–जुलते है, '' चाहता हूँ कि तुम यह बात समझ लो कि मर्द की भूल को तो आई–गई कर देते हैं लोग, क्योंकि वह दस दरवाज़े झाँकने के बाद भी धुला–पूँछा सा लौट आता है अपने घर। . . . मगर औरत? उसके अच्छे होने की निशानी ही केवल उसका पवित्र चाल–चलन है। गंदी नज़रवाली औरत को लोग रंडी–वेश्या ही कहकर पुकारते हैं। ''[3]

---

[1] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–211

[2] सिमोन द बुआर,The Second Sex, स्त्री उपेक्षिता , अनुवादक– प्रभा खेतान, पृ–105

[3] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–209

कृष्णा सोबती के ‘ दिलो–दानिश ’ में थोड़ी बहुत दिलजोई–दिल्लगी करना पुरुष के अख्तियार समझनेवाला, दूसरी औरत के साथ संबंध रखनेवाला कृपानारायण, अपने घर की बहू–बेटियों पर बड़ी कड़ी निगाह रखते हैं। बउआजी कहती है, “ इस घर के मर्द अपने आप जो का जो करते रहें पर घर की बहू–बेटियों पर बड़ी कड़ी निगाह रखते हैं। निगरानी ऐसी सख्त कि हवेली के अंदर नहीं, फाटक के बाहर भी जाते किस–किस की गरद बिठाए रखते हैं। ”[1]

घर से दूर, पत्नी से दूर रहने वाले मर्द को दूसरी औरतों के साथ यौन–संबंध रखने का हक है। उसके लिए तो वह शरीर की आवश्यकता है। लेकिन उसकी पत्नी तो व्रत–उपवास का अभ्यास रखने के लिए विवश है। क्या उसकी कोई शारीरिक आवश्यकता नहीं होती? मैत्रेयी पुष्पा के ‘ झूला नट ’ में पुरुष के इस विशेष अधिकार का ज़िक्र हुआ है। “ इस गाँव में क्या चार–छः लोग ऐसे नहीं है, जो सालों–साल नहीं आते। आते हैं, तो उनकी स्त्रियाँ उनसे बेतुके सवाल नहीं करतीं हालाँकि उनको गुपचुप अंदाज़ में मालूम रहता है कि स्वामी को बंगला की जादूगरनी औरतों ने अपने चंगुल में कर रखा है। इसमें खास बात क्या है? मर्द की मर्दानगी है। गाँव–समाज को भी उज्र नहीं होता, तभी न मौन रह जाते हैं लोग। इसमें न्याय–अन्याय की बात कहाँ आती है? बिना रोटी के भूखे पेट कितने दिन रह सकता है आदमी? निद्रा–भय–मैथुन–आहार . . . यह दीगर बात है कि औरतों को व्रत–उपवास का अभ्यास आरंभ से ही डाल दिया जाता है। तेरे भइया नपुंसक तो

नहीं, देह से कमज़ोर भी नहीं, सत्ते ने कहा था। ”[2]

---

[1] कृष्णा सोबती, दिलो–दानिश, पृ–84

[2] मैत्रेयी पुष्पा, झूला नट, पृ–62-63

‘ इदन्नमम ’ की मंदाकिनी की माँ विधवा होने के बाद रतन यादव के साथ जीने लगी थी। बाद में उसके लौटने पर बऊ उसे घर और ठाकुरद्वारे में प्रवेश करने नहीं देती। मंदा की माँ को अस्पताल में रात काटनी पड़ती है। किन्तु जगेसर जैसे लंपट और अन्य तमाम–बुरे लोगों के ऊपर ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं हैं क्योंकि वे पुरुष हैं।

शील, मर्यादा आदि बातों का तालूक मात्र स्त्री के जीवन से है। किन्तु वास्तव में ये मान्यतायें पुरुष द्वारा उस पर लादी गयी हैं। उसके विचार में स्त्री की मर्यादा बहुत तुरंत ही नष्ट हो जाती है। ‘ अकेला पलाश ’ के तुषार कहता है, “ तहमीना, तुम आसमान पर चढी हो, एकदम से धरती पर उतर आओगी। मुझे अपनी प्रतिष्ठा का ख्याल नहीं, लोग तो यही कहेंगे – अँह बदमाश था। पर तुम अपना सोच लो, नारी की इज़्ज़त काँच की तरह होती है। तुम्हारी जो मान–मर्यादा है न, एकदम से मिट्ट्री में मिल जायेगी। ”[1]

‘ शाल्मली ’ उपन्यास के नरेश का विचार कुछ ऐसा है कि मर्द होने के कारण वह एक समय अनेक धरातलों पर जीने का हकदार है। वह पत्नी के अलावा अन्य स्त्रियों के साथ भी संबंध रख सकता है। उसको इस बात का गर्व है कि प्रचलित कानून से हटकर मात्र पुरुष वर्ग के लिए एक विशेष कानून है। वह कहता है, “ नियम और धर्म केवल कागज़ पर लिखने के लिए होते हैं या फिर तुम औरतों के लिए बनाए जाते हैं। इनसे हटकर एक और कानून होता है, जो हम मर्दों के बीच प्रचलित होता है। उसका अपना संविधान, अपना नियम, अपना धर्म होता है। मैं जो कुछ कर रहा हूँ, उसी प्रचलित संविधान के नियमों के अनुसार कर रहा हूँ। ”[2]

---

[1] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ– 206
[2] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ– 144-145

समाज द्वारा निर्धारित नैतिक मान्यताओं के उल्लंघन करनेवालों को दण्ड देने की विधि भी प्रचलित है। किन्तु दण्ड ज़्यादातर स्त्री को ही मिलती है, ऐसा देखने में आया है। यहाँ की स्थिति बिलकुल अजीब है, क्योंकि यहाँ न्यायाधीश और अपराधी दोनों एक, पुरुष है। ‘ अपने–अपने चेहरे ’ की रमा का विचार है कि “ पुरुष हो या स्त्री, वे कब सीमाओं में बँधे? लेकिन फिर भी नैतिकता की चाबुक सटाक मासूमों की पीठ पर ही पडती रही है। ”[1]

‘ चाक ’ उपन्यास की पांचन्ना बीबी जो छोटी उम्र में विधवा हो गई थी अपने शरीर की भूख मिटाने के लिए मेहताब सिंह के पास जाती है। किन्तु इसके लिए उसे बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है, “ चिमटा आग में दहकाया और उन लाल जलती हुई लोहे की पत्तियों को बडे सहारे से नथिया भंगिन ने पंचन्ना बीबी की छातियों की काली जगह पर रख दिया – चूचियाँ दाग दी गईं। सब निश्चिंत हुए, अब न फूतेंगी जवानी की गुद्दियाँ। बहुत फडकती थी। . . . . पांचन्ना बीबी पौहे–पसु की तरह दाग दी गईं कि ज़िंदा मर गईं। ”[2] ताज्जुब की बात यह है कि उसके बाप ही उसे इस प्रकार का दण्ड दिलवाता है।

यौन–क्रियाओं का खुला चित्रण

पुरुष हर हालत में स्त्री के ऊपर अपना वर्चस्व बनाये रखना चाहता है। हर क्षेत्र में नैतिक मान्यताओं के बहाने वह स्त्री पर कड़ा अनुशासन ज़ारी रखना चाहता है। साहित्य के क्षेत्र में भी स्त्री की नैतिक मान्यताओं की सीमा निर्धारित करने का उसकी कोशिश ज़ारी है। स्त्री क्या लिखे, क्या न लिखे, इसका फैसला करनेवाला पुरुष है। लेकिन स्वयं कुछ भी लिखने के लिए वह स्वतंत्र है। स्पष्ट है, यहाँ भी नैतिकता के

---

[1] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ–208

[2] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–70

उसूल भिन्न–भिन्न है। मैनेजर पांडेय के शब्दों में, “ साहित्य में अश्लीलता का सवाल सामाजिक स्तर पर सदाचार की अवधारणा से जुड़ा है। लेकिन इसमें कठिनाई यह है कि स्त्री–पुरुष के लिए सदाचार के नियम एवं उसकी सीमाएँ अलग–अलग हैं। इसीलिए जीवन और समाज में पुरुष सबकुछ करने के लिए स्वतंत्र है तो वह साहित्य में सबकुछ कहने के लिए भी स्वतंत्र है। लेकिन स्त्री समाज या साहित्य में वही कर या कह सकती है जो पुरुष उसके लिए तय करता है। ”[1] इससे स्पष्ट है कि अश्लीलता की परिभाषा अपनी सुविधा के अनुसार पितृसत्तात्मक समाज तोड़ते–मरोड़ते रहते हैं।

देह स्त्री–विमर्श का सबसे अहम मुद्दा है। देह या लिंग पर आधारित विभेद को दूर करना ही नारीवाद का मकसद है। इसके लिए देह की मुक्ति और देह–संबंधित मान्यताओं में परिवर्तन की आवश्यकता है। नारी के संघर्ष में देह–मुक्ति की अहमियत को गीताश्री ने यों व्यक्त किया है, “ स्त्री की बहुआयामी मुक्ति का सवाल तब तक बेमानी है, जब तक उसे देह की मुक्ति नहीं मिलती। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक इन क्षेत्रों की जो मुक्ति है, वे तो बाद की बातें हैं। मुक्ति की पहली कसौटी ‘ देह ’ है। ”[2] इस संबंध में राजकिशोर का कथन भी उल्लेखनीय है, “ अगर शरीर ही वह कुंजी है, जिससे स्त्री के भावनात्मक जीवन पर ताला लगा दिया गया है, तो यह ताला खोलने के लिए दूसरी कोई कुंजी बेकार साबित होगी। आज़ाद शरीर में ही आज़ाद आत्मा वास कर सकती है। ”[3]

हिन्दी उपन्यासों में नारी लेखिकाओं द्वारा यौन–संबंधों का उनमुक्त वर्णन करने की प्रवृत्ति साठ के बाद ही दिखाई देती है। कहना न होगा कि प्रस्तुत प्रवृत्ति ने हिन्दी

---

[1] मैनेजर पांडेय, अश्लीलता के बहाने नारी के प्रश्न पर विचार, औरत उत्तर कथा, पृ–104

[2] स्त्री आकांक्षा के मानचित्र, गीताश्री, पृ–83

[3] स्त्रीत्व का उत्सव, राजकिशोर, पृ–97

उपन्यास जगत में हंगामा मचा दिया था। इसप्रकार के लेखन को ' साहसी लेखन ' का नाम दिया गया। कृष्णा सोबती का ' सूरजमुखी अंधेरे के ', मृदुला गर्ग का 'चित्तकोबरा', ममता कालिया का ' बेघर ', कांता भारती का ' रेत की मछली ' जैसे उपन्यासों में यौन–संबंधों का बेबाक वर्णन किया गया। नारी लेखिकाओं द्वारा उठाए गए प्रस्तुत कदम का मुख्य उद्देश्य नैतिकता और देह संबंधी मान्यताओं पर प्रहार करना ही था।

समकालीन महिला लेखिकाओं ने नारी की स्वतंत्रा अथवा नारी देह की स्वतंत्रता को उसकी यौन स्वतंत्रता से जोड़कर देखने का प्रयास किया। काम–संबंधों का खुला चित्रण इस स्वतंत्रता का ही द्योतक है। इन महिला लेखिकाओं का उद्देश कोरा संभोग वर्णन नहीं था। इस प्रवृत्ति के मूल में पुरुष द्वारा निर्धारित साहित्यिक मान्यताओं को चुनौती देने का आग्रह ही था। साथ ही मानव की मूलवृत्ति को, काम को उसके समूचे यथार्थ के साथ चित्रित करना भी उनके उद्देश्य थे।

समकालीन महिला लेखिकाओं में प्रमुख मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास ' अल्मा कबूतरी ' में स्त्री–पुरुष मिलन का चित्रण कई स्थानों पर किया गया है। मंसाराम और कदमबाई के मिलन का चित्रण इसप्रकार किया गया है, " हाय, सदा घाघरा उतारता आता था, आज पहले चोली के बटन खोल रहा है! एकांत में फुरसत पा गया? याद नहीं कि घड़ियाँ गिनी–चुनी हैं? कदम ने घाघरा खुद ही नीचे को सरका दिया। बंद आँखों में अपने ही गोरे बदन की छाया जगमगई। आँखों पर रखे हाथों की उँगलियों से झाँकना चाहती थी कि गर्म साँसों ने होठों पर कब्जा कर लिया। सारे डर–भयों को दबाने की खातिर उसने अपने पुरुष को भींच लिया। आनंद लोक में विचरनेवाली कदमबाई, दोगुनी ताकत से भिड़ रही थी। मिलन की डोर से बंधी स्त्री हर लम्हे नई से नई मुद्राएँ अपनाने लगी। अब केवल वह ही वह थी, बाकी कोई न था। देह पर बोझ नहीं, सिर्फ लहरें थीं, बाँहें! कहाँ, भींचते जाने की होड़ के कसाव थे। धरती, धरती न

थी देह के साथ उठती–दबती चादर! आसमान, आसमान न था। तारों का झमकता झूलना . . .। ''[1]

इसी उपन्यास के राणा और अल्मा के बीच का यौन–संबंध भी विस्तार से चित्रित किया गया है। इस प्रसंग में अल्मा की भूमिका ही मुख्य है। संभोग से आह्लादित नारी का चित्रण ही यहाँ हुआ है। इस प्रसंग की विशेषता यह है कि विवाह–पूर्व यौन–संबंध होने पर भी अल्मा के मन में कोई चिन्ता नहीं है।

'' राणा ने पूछा तो अल्मा ने उसका हाथ अपनी छाती पर धर लिया। दो ठोस अमिया–सी छातियाँ। राणा ने हाथ खींच लिया। उसे चोरी करने जैसा अपराध–बोध हुआ।

....

जवानी की ओर कदम बढाते हुए किशोर राणा के देह में तूफान उतरा है, यह बात वह कह नहीं सकता, पर आँखों पर, हाथों पर वश न रहा। अल्मा को सौंप दिया समूचा शरीर। दोनों बैठ गए। अल्मा ने उसके कंधे पर सिर टिका दिया। राणा का हाथ खुद–ब–खुद पीठ पर चला गया। बहुत प्यार, बहुत गुदगुदी, बहुत अच्छा–अच्छा लगा। ऐसा अच्छा कि छोड़ने को जी न चाहे। ''[2]

दूसरे स्थान में भी इनके मिलन का वर्णन है।

'' गजब, अल्मा ने कुर्ती उतार दी। रजाई में राणा समेत सबकुछ छिपा लिया! . . . मगर छूना–परसना . . . हाथों में गेहूँ के आटे की रंगत लिए ठोस अमियों के

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ–22

[2] वही, पृ–136

आकार, दूधों पर नाचती हुई फालसई फिरकियाँ! राणा की हथेलियों में नखटख जुगनू छिपे हैं। क्षण भर में ही हथेलियों ने वह आनंद होठों को दे दिया। अल्मा ने उसके मुँह से छाती भिड़ा दी। दबाव ऐसा बनाया कि राणा के होंठ खुल गए। होंठ और जुगुनुओं का खेल! चमकती नज़रें कौतुक–सा देखती हैं। वह मासूम बच्चे–सा चिपका हुआ।

अल्मा की देह झुनझुनी बजा रही है। कसब बढ़ रहा है। दोनों ओर की ताकत मुठभेड़ पर उतरी है।

आगे? उसे कुछ पता नहीं।

अल्मा ने सलवार कहाँ फेंक दी? जाँघों का नंगा परस . . . राणा के होश ठिकाने नहीं। मर्द–भाव जागा कि अल्मा की शय–लय पर नाचने लगा, पाजामा उतार दिया

....

स्त्री शरीर के रोम–रोम से वाकिफ है। रास्ते भटक गए। आगे बढने का हौसला नहीं छोड़ा।

.... आवेग में लड़की ने उसका हाथ पकड़ा और ठीक जगह ठहरकर मौन अर्थ खोल दिए।

....

अल्मा के कंधे में दाँत गड़ा दिए . . .

... मछली–सी तड़पती–फिसलती अल्मा लंबी–दुबली बाँहों में जौहर मचा रही है और राणा के पास चुंबन के गुच्छों के अलवा कुछ भी नहीं . . .। ”[1]

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ–181-82-83

आखिर मैत्रेयी और अन्य महिला लेखिकाएँ क्यों इसप्रकार स्त्री–पुरुष मिलन का बेबाक से चित्रण कर रही है? इस सवाल के उत्तर में सत्यकेतु का निम्नलिखित विचार दिया जा सकता है। ‘ अल्मा कबूतरी ’ की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा है, “ यहाँ एक सवाल उठता है कि क्या यह प्रसंग डालना ज़रूरी था? इशारों ही इशारों में काम नहीं चल सकता था? परंतु लेखिका के साहस की प्रशंसा करनी होगी कि उन्होंने नैतिकता के दबावा को तोडक़र और बिना किसी भय के दो किशोरों के ‘ रति–संभोग ’ का चित्रण किया है। हमारे समाज में अभी औरतों पर नैतिक पाबंदी है। मैत्रेयी पुष्पा ने उस नैतिक पाबंदी को तोड़ने की भरपूर कोशिश की है। संभवतः यह ‘ रति–चित्रण ’ नैतिकताओं के घेरे में घिरी नारी का विद्रोह है, स्वच्छंदता और आज़ादी का बिगुल है। ”[1] इसी उपन्यास में धीरज के साथ होनेवाले अप्राकृतिक यौन–संबंध का, पुरुष द्वारा पुरुष के ही बलात्कार का विस्तार से चित्रण करके निश्चय ही मैत्रेयी ने प्रचलित नैतिक मान्यताओं के सारे प्रतिमान को तोड़ डाला है।

आम तौर पर भाभी की नज़र में देवर का स्थान बेटा का और देवर की नज़र में भाभी का स्थान माँ की होता है। किन्तु मैत्रेयी ने ‘ झूला नट ’ में भाभी–देवर यौन संबंध का चित्रण करके इस मान्यता पर भी प्रहार किया है। स्त्री अपने देह से पुरुष को किस तरह गुलाम बनाता है इसका प्रमाण है प्रस्तुत उपन्यास। भाभी–देवर संबंध का चित्रण इस उपन्यास में यों किया गया है, “ आवेग के क्षण या प्यार का असीम वेग–– शीलो भाभी ने बाँहों में भर लिया उसे और चूम लिया। एक बार नहीं। कई बार लिया चुंबन–पुच्च पुच्च पुच्च।

भाभी के पुचकार–भरे हमले ज़ारी थे। अब वह भाभी की गोद में विचर रहा था–– रूठे हुए बच्चे की माफिक। बार–बार चूमा–चाटी। ....अंत में

[1] सत्यकेतु, समीक्षा जनवरी–मार्च, 2001, पृ–31

समर्पित बालकिशन अपने गाल, होंठ, ठोड़ी, माथा–– सब कुछ खुद ही हाज़िर करता रहा। कमरे की हवा बदल गई। देह के जोड़ खुलने लगे। गुनगुनी तरंगों में तैर रहा है वह।

वह अबोध बच्चे–सा . . . शीलो भाभी गुनी औरत है, चिपटाती जा रही है। गरम सीना की बरसों का जुड़ा ताप, बालकिशन का रोम–रोम झन्ना उठा। जवान होते बछड़े कैसे बिफरते हैं, अपने भीतर महसूस हो रहा है। बेकाबू बछड़ा बालकिशन, काबू में कर लिया शीलो भाभी ने! शीलो रूपी औरत की मेहरबानी, बालकिशन पूरा–पाठा मर्द कब बन बैठा, याद नहीं। वे होशोहवास के लम्हे न थे। ”[1]

मैत्रेयी के अन्य उपन्यास ‘ चाक ’ में कलावती चाची अपने रिश्तेदार केलासिंह के साथ के संबंध के बारे में सारंग को बयान देती है। वह पति और परपुरुष की तुलना करती है। और पति की तुलना में परपुरुष से अधिक सुख का अनुभव करती है। वह सारंग से कहती है, “ हाथ लगाऊँ तो बाँसन कूदे–उछिटे। अब क्या करूँ? अरी मैंने कर्रे पकड़ लिया और ऐसे मालिस करी जैसे छः महीना का बालक हो। और फिर खाट पर लोट गई उसके बरब्बर में बोल दिया कि लल्लू केलासी, भूल जाओ रिश्ते नाते। लाज लिहाज त्यागन कर दो। उमर का भेद नहीं रह गया हमारे बीच। इस घड़ी तुम मर्द और मैं बैयर . . . सारंग, जो काम उस नाँसिया को करने थे, सो मैंने किए। मरी मरदानी को हाथ फेर–फेरकर चेतन्त किया और तुरत ही अपने लत्ता खोल के एक ओर पटक दिए। जता दिया, समझा दिया कि मेरा कुछ नहीं बिगड़ा जाता और फिर ये तो देह रहते के खेल हैं रे। पाप–पुन्न मत सोचना। “ सारंग, वे लल्लू बड़ी देर में निरदंद भए। पर जब निरदंद हो गए तो समझ ले कि मेरी आँखों के अगरी पूरे पुरिख होकर ठाड़े हो गए। मइया! इतनी सुख तो मैं तब भी नहीं हुई थी, जब पहली बेर

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, झूला नट, पृ–72

रिसाल के दादा . . .। वे पुरिख और मैं लुगाई . . . मैंने उन लल्लू को छाती से चिपकाकर, हार और जीतकर आनंद में डुबो लिया। रस ही रस फिर तो। ए मेरे भगवान, ऐसा दिन भी आना था मेरी ज़िंदगी में? सुरगनसैनी चढ़ गई मैं तो। ”[1]

उषा प्रियंवदा का उपन्यास ‘ अन्तर्वंशी ’ खुले यौन–चित्रण के मामले में एक सर्वदा नए प्रसंग को प्रस्तुत करता है। राहुल और वाना तथा राहुल और कल्लो के बीच के मिलन का चित्रण इस में किया गया है। इनके अलावा स्त्री के साथ स्त्री के मिलन का चित्रण भी इस उपन्यास में किया गया है। वाना और क्रिस्तीन के मिलन इस बात का ऐलान करता है कि अपने शरीर पर सिर्फ नारी का ही अधिकार है,

“ क्रिस्तीन उस पर झुकी हुई है–– वह झीनी सिल्क का ड्रेसिंग गाऊन पहने है जो झुकने से पीछे गिर गया है और वाना क्रिस्तीन के अनावृत शरीर को देख सकती है। उसकी दृष्टि क्रिस्तीन के छोटे–छोटे, एकदम गोल और उन्नत सफेदी लिए कुच पर एक बहुत छोटे क्षण के लिए टिकती है, क्रिस्तीन दायें हाथ से वाना की ब्लाऊज़ के बटन खोल रही है, वह अधीर है और बाएँ हाथ से अपने गुलाबी कुचाग्रों को स्वयं दुलरा रही है–– फिर वह वाना के वक्ष में अपना चेहरा छिपा लेती है। वाना उसकी तेज़, गरम साँसें महसूस करती है और अनुभव करती है क्रिस्तीन की जीभ का सिरा जो उसे चूम रहा है, एक मीठी, अनजानी मगर सिहरनपूर्ण सनसनी से वाना का शरीर काँपने लगता है। उसकी बाँहें अपने आप क्रिस्तीन को घेर लेती हैं। उनके होठ एक–दूसरे को सहलाती, दुलराती और (खोजती) है। ”[2]

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–104

[2] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वंशी, पृ–104

चूँकि नारीवाद और नारीवादी साहित्य का लक्ष्य स्त्री–विरोधी मान्यताओं का खण्डन कर स्त्री के अधिकारों का समर्थन करना है, इस दृष्टि से काम–संबंधों के खुला चित्रण भी इस उद्देश्य की ही पूर्ती करता है। मैनेजर पांडेय इसे स्त्री–स्वतंत्रता का एक महत्वपूर्ण एजेंडा मानता है, " काम–संबंधों के बारे में स्त्री का अपना अनुभव, अपनी संवेदना और अपनी दृष्टि को न सिर्फ अस्वीकार किया जाता है बल्कि नैतिकता की दुहाई देकर इसका दमन भी किया जाता है। यही कारण है कि जहाँ पति–पत्नी के संबंध को जिसमें स्त्री की स्वतंत्र इच्छा को कोई महत्व नहीं होता है, एक सहज और प्राकृतिक संबंध के रूप में सामाजिक मान्यता दे दी जाती है, वहीं उसकी स्वेच्छाजन्य प्रेमी–प्रेमिका संबंध को अश्लील और अनैतिक करार दे दिया जाता है। स्त्रियों की तरफ से अपनी इस सहज कामेच्छा का अपनी दृष्टि से वर्णन करने की स्वतंत्रता की माँग या प्रयास स्त्री स्वतंत्रता का एक महत्वपूर्ण एजेंडा रहा है। "[1]

यौन–शोषण––घर के अंदर

समकालीन नारीवादी लेखिकाओं द्वारा मात्र यौन–संबंधों के ही नहीं, नारी के लैंगिक जीवन से जुड़ी अन्य समस्याओं का भी यथार्थ चित्रण किए गए हैं। नारी शोषण के तमाम पहलुओं पर उन्होंने विचार किया है। नारी को महज देह समझनेवाला पुरुष हर कहीं नारी या लड़की का यौन–शोषण कर रहे हैं। अपने ही परिवार में बचपन से ही नारी का यौन–शोषण हो रहे हैं। सगे–संबंधी, रिश्तेदार, सभी नारी को अपने हवस के शिकार बनाते रहते हैं। वास्तव में यह रक्षक के भक्षक होने की स्थिति है। हाल ही में आस्ट्रिया में हुई एक घटना इस बात का सूचक है कि घरों के अंदर पिता भी किस तरह अपनी बेटी को हवस का शिकार बना रहे हैं। आस्ट्रिया के ७३ वर्षीय जोसेफ फ्रिट्जेल ने स्वीकार किया कि उसने अपनी बेटी को एक बंकर में बंद

[1] मैनेजर पांडेय, अश्लीलता के बहाने नारी के प्रश्न पर विचार, औरत उत्तर कथा, पृ–107

करके रखा और लगातार उसका यौन शोषण किया। २४ वर्ष तक उसका यह काम ज़ारी रहा, और बेटी ने अपने ही बाप के सात बच्चों को जन्म भी दिये। पुलीस के अनुसार फ्रिट्जेल ने अपनी बेटी का जब यौन शोषण शुरू किया वह मात्र ११ साल की थी और जब वह १८ साल की हुई तो उसे बंकर में बंद कर दिया।[1]

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में भी अपने ही घर में यौन शोषण के शिकार बननेवाली लड़कियों का चित्रण हुआ है। प्रभा खेतान के ‘ छिन्नमस्ता ’ की प्रिया, जब केवल दस वर्ष की थी, का शोषण उसके सगे भाई ही करता है। “ दाई माँ! भैया ने यह क्यों किया? मैं नहीं चाहती थी दाई माँ, विश्वास करो। मना करने पर उन्होंने ऐसे ज़ोर का थप्पड़ मारा कि . . . ”

....

....

“ ---------- भैया ज़बरदस्ती बाथरूम में ले गए, फिर कहा, पैंटि उतारो । ”

“ मैंने पूछा, क्यों? मैं नहीं उतारूँगी। उन्होंने बहुत ज़ोर से तमाचा मारा। ”[2]

दूसरे स्थान पर प्रिया सोचती है,

“ मैं वे रातें भूल नहीं पातीं जब भाभीजी बेहद बीमार रहने लगी थीं और भैया मेरे और सरोज के कमरे में सोया करते थे। रात को चुपके से रेंगकर मेरी

[1] नवभारत टाइम्स, मुम्बई, दिनांक–२ मई, २००८

[2] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–18

ओर उनका आ जाना। उनका बदन मेरी पीठ से सटा रहता। हल्की फुसफुसाहट-- " प्रिया! एई प्रिया . . . " फिर कुछ हरकतें। मैं साँस रोके पत्थर-सी पड़ी रहती। मेरा

कलेजा धकधक करता रहता और मेरा रोम-रोम किसी रक्षक को पुकारता। ' ओह! मुझे बचा लो, भगवान! तुम मुझे बचा लो। मुझे बचा लो। ' आधे घंटे, पौने घंटे किसी कड़ी चीज़ की रगड़ मैं पीठ पर झेलती रहती। साँसों की तेजी और फिर थक-हारकर पुरुष का स्खलन। चिपचिपा, लिसलिसा सीमेन, कभी मेरे कुर्तों में, कभी चद्दर में लगा रह जाता। "[1]

' आवाँ ' के मटका किंग अपनी ही बेटी को अपने हवस का शिकार बनाते हैं जिससे उसके पेट की सफाई करनी पड़ती है। चौथी कक्षा में पढ़नेवाली नमिता का शोषण करता है उसका मौसाजी, " सहसा वह उनकी अप्रत्याशित हरकत से बेचैन हो आई। बातें करते हुए मौसाजी के हाथों ने उसकी चड्ढी का नाड़ा खोल दिया और उसकी पेशाब में उंगली डालते हुए . . . उसने शक्ति-भर उनका हाथ अपनी चड्ढी से हटाने की कोशिश की, मगर मौसाजी की ताकत के सामने वह हाँफ गई। उनकी हरकत ने उसे असहनीय पीड़ा से बेहाल कर दिया। लग रहा था कि जैसे कोई उसके देह में उँगली नहीं पेंचकस घुमा रहा हो।

....

सुबकन के बीच उसे महसूस हुआ कि उसकी जाँघों के बीच रेंगता हुआ-सा कुछ बह रहा . . . "[2]

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ-54

[2] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ-302-303

दुनियाँ भर में अपने ही सगे–संबंधियों द्वारा नारी का शोषण होते रहते हैं। ‘ कठगुलाब ’ में मृदुला गर्ग ने इस बात की ओर संकेत किया है। इस उपन्यास में जीजा द्वारा साली के शोषण का चित्रण किया गया है। स्मिता और नर्मदा दोनों के शोषण कर रहे हैं उनके अपने–अपने जीजा। स्मिता को घर के अंदर जिस शोषण का शिकार होना पड़ा, उसको मुख्य विषय बनाकर मारियान ‘ द फ़ीमेल जेस्ट ’ नामक उपन्यास लिखती है। वैयक्तिक बात को उपन्यास का विषय बनाने के कारण स्मिता मारियान से क्रूद्ध होकर उसके साथ का पत्र–व्यवहार बंध करती है, “ पर मारियान उसे बराबर खत भेजती रही थी। अपनी तरफ़ से कुछ नहीं लिखा था, बस एक–एक करके, उन पत्रों की प्रतिलिपि भेजती रही थी, जो पाठिकाएँ उसे लिख रही थीं। सैकडों ऐसे पत्र उसे मिले थे, जिनमें औरतों ने लिखा था कि उसके नए उपन्यास ‘ द फ़ीमेल जेस्ट ’ की प्रवक्ता वे थीं ; कि ‘ द फ़ीमेल जेस्ट ’ उनकी ही कहानी थी। उनकी ही! उनकी भी! स्मिता की ही नहीं, उनकी भी! उसकी, उनकी सबकी। ”[1]

बेटी की बढती उम्र हर माँ के लिए चिन्ता का विषय है। ‘ अकेला पलाश ’ की तहमीना की माँ को जवान होती तहमीना को देखकर इस बात का डर है कि कहीं वे अपने ही बाप के हवस का शिकार बन जायेगी, “ और एक दिन माँ ने देखा कि घर में एक लड़की है जो जवान हो रही है, बढ़ रही है। और इस एहसास ने, इस भय ने, माँ को भीतर ही भीतर डरा दिया, और वह एक बार फिर काँप–सी गयीं। माँ के रोम–रोम में यह भय समा गया कि बाप की हवस की शिकार बेटी न हो जाय, और इस भय ने उनकी रात और दिन की नींद हराम कर दी। ”[2]

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–111

[2] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ– 100

अपने ही घर में नारी सुरक्षित नहीं है। ‘ छिन्नमस्ता ’ की प्रिया के विचार में उसे न पिता छोड़ता है, न भाई। समाज में इन्सेस्ट पर नियंत्रण तो है, फिर भी नारी की रक्षा नहीं होती, वह सुरक्षित नहीं है, “ अब मुझे समझ में आता है कि हर समाज में इनसेस्ट प्रेम पर इतना भयानक टैबू क्यों है? क्यों सहज प्रकृति का मृत्यु–धर्म इनसेस्ट प्रेम पर लागू होता है। नहीं तो जन्म से औरत . . . असहाय औरत। उसे न पिता छोड़ता है और न भाई! अपनी नारी देह में, स्वयं में क्षत–विक्षत होकर रह जाती है। वह कभी किसी पराए पुरुष को प्यार नहीं कर पाती और न ही सृजन के सबसे सुंदर रूप किसी और के बीज की रक्षा अपने गर्भ में कर पाती है। मानवजाती के लिए यह प्रसार ज़रूरी है। पर क्या समाज स्त्री की रक्षा करता है? क्या पुरुष की कमुक हवस का शिकार होने से मासूम लड़कियाँ बच पाती हैं? कब और कहाँ नहीं मुझ पर आक्रमण हुआ? ”[1]

लड़की को शादी कराके दूसरे घरों में बेचने का कारण भी इन्सेस्ट सेक्स् पर प्रतिबंध लगाना ही है। प्रिया को लगती है कि बाबूजी के ज़िन्दा रहने पर भी भैया ने जो आचरण उसके साथ किया उसका कोई विशेष परिणाम नहीं हो सकता था, “ बाबूजी को मालूम होता कि भैया ने मेरे साथ क्या किया . . . तो वे कौन–सा कदम उठाते? भैया को घर से निकाल देते? नहीं, अम्मा अपने बेटे को नहीं निकालतीं, बेटे की तरफदारी करतीं और मुझे ही ब्याहकर घर से बाहर कर देतीं। यही तो होता आया है हमेशा से। लड़की को घर से निकाल दो, इससे पहले कि वह बड़ी हो, आँखों से दूर कर दो, इससे पहले कि घर के पुरुषों की उस पर नज़र पड़े। ”[2]

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–119

[2] वही, पृ–84

‘ कठगुलाब ’ की नमिता के शब्दों में भी यही सोच प्रकट हो रही है। “ मैं कितने दिन तुझे घर में रखूँगी। मर्दों का कोई भरोसा नहीं होता। तू अपने घर चली जायेगी, तभी मुझे शांती मिलेगी, ”[1]

सगे संबंधियों और रिश्तेदारों के अलावा दूसरे लोग भी लड़की या नारी का शोषण करते हैं। ‘ अकेला पलाश ’ में तहमीना का बलात्कार उसके पिता के दोस्त कर रहा है, “ एक रात जब तहमीना आखिरी वाले कमरे में लेटी हुई अपनी कोर्स की किताब पढ़ रही थी, किसी के आने की आहट पर उसने चौंककर चेहरे के सामने से किताब हटाई तो भयभीत–सी हो गयी, उसका चेहरा सफेद पड़ गया, यह देखकर कि पिता के वे दोस्त उसके कमरे में थे। वह घबराकर कमरे से बाहर जाने की सोचने लगी, क्योंकि उसके पहले उनसे उससे कभी बात नहीं की। वह दौड़कर भागने वाली थी कि बाँस की तरह किसी के हाथ उसकी ओर बढ़े और उन्होंने उसे दबोच लिया। वह नन्ही चिड़िया की तरह सिर्फ थरथराकर काँपकर रह गयी। उसे यह सब बड़ा विचित्र अनहोना–सा लगा। ”[2]

घरों के नौकर भी कभी–कभी लड़कियों के साथ नाजायज व्यवहार करते हैं। ‘ छिन्नमस्ता ’ की प्रिया को भाई के अलावा घर के नौकर भी अपने हवस का शिकार बनाता है जबकि वह सिर्फ पाँच वर्ष की थी, “ वह कैसा बचपन था? क्या मेरा बचपन . . . न केवल भाई ने बल्कि एक दिन एक नौकर ने भी अपनी गोद में बिठाया था। बहुत छोटी थी, पाँच साल की। तब तो बाबूजी भी ज़िंदा थे और दाई माँ ने उसे देख लिया था।

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–14

[2] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ–100-101

.... मैं गलत–सही कुछ नहीं समझी थी। मुझे बस मेरे फ्रॉक में लगा एक लिसलिसा पदार्थ याद है, जिसे दाई माँ रगड़–रगड़कर बड़ी देर तक छुड़ाती रही थी। ”[1]

‘ माई ’ की सुनैना के साथ छेड़छाड़ करने की कोशिश करता है घर आया हुआ मेहमान, बेरी महाराज, “ यह सब हमने माई से नहीं कहा। यह भी नहीं बतलाया कि बाबू से मिलने जो बेरी महराज आते हैं, मोटे, मक्खन से चिकने, मुझे ‘ आओ बालिका ’ करके पास बुलाते हैं और मेरी अल्हड़ बाँह हाथ में भरके, उसी की आड. में मेरे सीने को टटोलने की कोशिश करते हैं। ”[2]

इस प्रकार अपने ही घर में नारी पर होनेवाले शोषण का चित्रण कई उपन्यासों में उपलब्ध है। घर के बाहर नारी शोषण के कई आयाम है, इसका चित्रण भी समकालीन नारीवादी उपन्यासों में किये गए हैं।

यौन–उत्पीड़न: घर के बाहर

नारी पर होनेवाला सबसे घिनौना और भयानक शोषण है बलात्कार। बलात्कार से नारी तन और मन से घायल हो जाती हैं। नारी को महज देह समझनेवाले पुरुष की मानसिकता ही बलात्कार का मूल कारण है। बलात्कार का लक्ष्य केवल कामपिपासा शांत करना नहीं है, उसका मूल उद्देश स्त्री को मानसिक रूप से तोड़ना भी है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में, “ पितृसत्तात्मक समाज के नैतिकता बोध का यह मर्मस्थल है। स्त्री

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ119

[2] गीतांजली श्री, माई, पृ–76

की देह और उस पर उसका दखल। किसी भी कोटी का पुरुष यही मानना चाहता है कि बलात्कार के द्वारा स्त्री को तोड़ा जा सकता है। ”[1]

महिलाओं पर होनेवाले बलात्कार और शोषण दिन–ब–दिन बढते जा रहे हैं। नारी की भागीदारी हर क्षेत्र में बढने के साथ–साथ यौन शोषण और उत्पीड़न का दायरा भी बढता जा रहा है। यहाँ तक कि बसों, रेल गाड़ियों, कार्यालय और अन्य सार्वजनिक क्षेत्र,सब कहीं उस पर छेड़–छाड़ और बलात्कार हो रहा है। समकालीन हिन्दी नारीवादी उपन्यासों में महिलाओं पर होनेवाले उत्पीडन और बलात्कार को बड़े गौर से लिया गया है। शोषण के बढते दायरों और विभिन्न क्षेत्रों में होनेवाले शोषण इन उपन्यासों में प्रस्तुत हुए हैं।

सड़क, बाज़ार, बस कहीं भी नारी सुरक्षित नहीं है, उसकी उम्र बलात्कारी या छेड़–छाड़ करनेवालों के लिए सोच का विषय नहीं है। गाँव हो या सड़क हो, नारी की हालत सब कहीं एक है। ‘ चाक ’ में स्कूल में पढ़ती राममूर्ती पर सड़क पर चलती समय छेड़–छाड़ हो जाती है, “ अरे क्या हुआ? लड़की डर गई, बहम हो गया। अँधियारी गलि से गुज़र रही थी, किसी ने हाथ पकड़ लिया। किसने? मुँह नहीं दिखाई दिया। अँधेरी फूटी कोठरी की ओर खींच रहा था। मुँह पर डाठा बाँधा था। फुस्स–फुस्स करके बोल रहा था। राममूर्ती चीखी। ”[2] कल्कता के सड़क में चलते समय ‘ छिन्नमस्ता ’ की प्रिया के सामने एक पुरुष अपनी नग्नता का प्रदर्शन करता है, “ कभी किसी पुरुष का कंधे पर हाथ रख देना। सिनेमा हॉल के अँधेरे में सारे शरीर में सौ–सौ कीड़े रेंगने लगते, तो कभी . . . हाँ, वह क्रिसमस का दिन था। मैं, छोटे भैया और सरोज न्यू

---

[1] राजेन्द्र यादव, हंस, आगस्त–2005, पृ–63

[2] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–211

मार्कट में टाफियाँ खरीदने गए। उस समय मैं बारह साल की थी। ठसाठस भीड़। कंधों से कंधों की टकराहट। मुझसे चला नहीं जा रहा था। मैं पैर घसीट रही थी। हाँ, अब याद आया। मुझे पीरियड्स हो गए थे, और मेरे साथ, मेरे पीछे–पीछे पैंट के बटन खोले वह आदमी! पुरुष का रुग्ण प्रदर्शन . . .! ''[1]

लड़की की छेड़–छाड़ के मामलों में राजधानी दिल्ली सबसे आगे हैं। चलती बसों में नारियों पर छेड़–छाड़ यहाँ की आम बात है। ' कठगुलाब ' की असीमा के साथ भी यही होती है, '' डी.टी.सी. की बस खचाखच भरी हुई थी और पसीने से चिपचिपाते बदन पर दूसरे बदन का स्पर्श असह्य लग रहा था। कमाल है यार, उस दिन की छोटी–सी–छोटी बात भी एकदम फ़िल्मी तरीके से आँखों के सामने खुली जा रही है। बस में पूरा वक्त एक अधेड़ मर्द मेरी छाती का सहारा लेकर टिका खड़ा रहा था। हर हिचकोले के साथ, उसका जिस्म मेरे सीने से रगड़ खाता और वह, बदबख्त, सिसकारी भरने तक से बाज नहीं आता। पर चेहरे पर ऐसी मासूम थकान ओढ़े रहता कि, हर बार, मैं सोचने पर मजबूर हो जाती कि खचाखच भरी बस हिचकोले–पर–हिचकोले खाती चले तो उसके भीतर खड़ा आदमी करे तो क्या करे। ''[2]

छेड़–छाड़ के अलावा यौन–उत्पीडन और शोषण भी सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। ' अकेला पलाश ' में संन्यासी मठों की आड़ में होनेवाले यौन–शोषण का पर्दाफाश किया गया है। शोषण से बचने के लिए विमला एक आश्रम से दूसरा आश्रम भाग जाती है, लेकिन वहीं भी उसकी हालत में कोई अन्तर नहीं होती, '' मेरा छुकाव बचपन से ही धर्म की ओर था। धीरे–धीरे यह बढ़ता गया और एक दिन मैंने संन्यास लेते हुए

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–119-20

[2] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–164

घर छोड़ दिया। मेरी एक दोस्त थी, उसने भी संन्यास ले लिया था। उसी के बुलाने पर मैं पहले उसके आश्रम गयी, पर वह आश्रम अच्छा नहीं लगा। वहाँ का वातावरण बहुत गंदा था, आश्रम के नाम पर ढ़कोसला था, संन्यास के नाम पर बदमाशी होती थी। दुनियादार लोगों से भी बढ़कर ये लोग सेक्सी थे। हर नयी लड़की को पहले गुरु भोगता था, फिर उसके चेले, उसके बाद दीक्षा दी जाती थी। बात यहीं तक हो तो फिर भी ठीक था, पर वहाँ तो आश्रम के ज़रिये बडे़-बडे़ कारोबार चलाये जाते थे, बड़ी-बड़ी राजनीतियों में हिस्सा लिया जाता था। गोया यह कि हर बुरा काम वहाँ होता था। मुझसे कहा गया कि तुम संन्यासी बनकर दूसरी जगह जाओ, जहाँ तुम्हें जासूसी का काम करना होगा, और माल इधर से उधर भेजना पड़ेगा। मैंने जब इनकार कर दिया तो मेरे सारे वस्त्र उतार कर मुझे रस्सियों से बाँध दिया। भूखे-प्यासे मुझे चार दिन रखा गया और फिर उसी रात दस व्यक्तियों ने मेरे साथ बलात्कार किया। दुख, पीड़ा, और शोक से मेरी आत्मा त्राहि-त्राहि करने लगी, पर वहाँ से निकलने का कोई रास्ता नज़र नहीं आया। मेरी दोस्त ने जब देखा कि मैं इस वातवरण में नहीं जी सकूँगी तो उसने एक दिन मौका पाते ही मुझे आश्रम से बाहर कर दिया। ''

. . . .

'' भटकते हुए आखिर अंत में मुझे एक और आश्रम में शरण लेनी पड़ी। मैंने सोचा था कि पहले आश्रम में गलत काम होते थे, यहाँ शायद नहीं होते होंगे, पर यहाँ मेरी इससे भी बुरी हालत की गयी, ''[1]

पुरुष के लिए औरत पर आक्रमण करना आनंद बढ़ाने का नुस्खा है। औरत चाहे गर्भिणी भी क्यों न हो? पुरुष की कामांधता उसे नहीं छोड़ती। अल्मा के साथ भी

---

[1] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ-63-64

यही होता है, " गर्भ में राणा के अंश के गोले थे--चार महीने। दारू के नशे में लड़खड़ाते सूरजभान ने ऐसी ताकत से भोग-संभोग किया कि अल्मा खून की पोखर हो गई। पागल बिल्ली-सी, बे असर से छपट्टे मारती रही। बलिष्ठ शरीर में खरोंचे पड़ीं तब क्या कामांधता कम हो गयी। वह दोगुनी ताकत से भिड़ गया था। औरत का आक्रमण आनंद बढ़ाने का नुस्खा। "[1]

' आवाँ ' का अन्ना साहेब अपने दोस्त की नौजवान बेटी से हस्त-मैथुन करवाता है। मज़दूर-संघ के नेता भी नारी शोषण के मामले में किसी से पीछे नहीं है, " तुम बस, इतना-भर करो। आओ, मेरी जाँघ पर आकर बैठ जाओ। अच्छा रहने दो। जैसे बैठी हो, वैसी ही बैठी रहो। अपने हाथ-भर को मेरे नियंत्रण में देदो, वरना गलत दिशा में उत्तेजित करने की ज़िम्मेवारी तुम्हारी होगी। नियंत्रण में नहीं रहूँगा तो कह नहीं सकता क्या होऊँगा। विश्वास दिला रहा हूँ फिर तुम्हें। तुम्हारी देह के साथ मैं कोई खिलवाड़ नहीं करूँगा . . . अपनी देह के साथ खेलने के लिए मैं स्वतंत्र हूँ। हाथ मत छुड़ाओ। जैसा कहूँ, करती चलो . . .

" काँप क्यों रही हो नमिता? "

कहा न, हाथ मत छुडाओ . . . जबरदस्ती करने के लिए प्रेरित न करो।

" नमिता ऽ ऽ ऽ . . . "

" . . . "

" ज़रा तेज . . . और तेज . . . और तेज . . . "

" . . . "

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ-344

“ . . . ”

बस् ऽ बस्स . . . ”[1]

पुरुष के बलत्कार से बचने के लिए जो स्त्री संघर्ष करती है, उसे जान से मार देने के लिए भी पुरुष तैयार हो जाता है। ‘ आवाँ ’ की अनीसा पेशे से तो वेश्या है, लेकिन जब वह एक ग्राहक के साथ संभोग करने के लिए तैयार नहीं हो जाती तो उसे मार दिया जाता है।

पुलीस द्वारा होनेवाले यौन–उत्पीड़नों का चित्रण भी कुछ उपन्यासों में किया गया है। ‘ अल्माकबूतरी ’ में पुलीस के डेरे पर आक्रमण के समय कबूतरी नारियों पर होनेवाले बलात्कारों का बयान है। इससे बचने के लिए कबूतर नारियाँ अपने आप को गोपिका जैसी छिपाने के लिए विवश है। इरान की क्रांती के समय जिन औरतों को कैदी बनाकर जेल भेज दिया जाता है, उनके साथ बलात्कार होना आम बात है। ‘ सात नदियाँ एक समंदर ’ की मलीहा जब जेल में कैदी स्त्रियों से मिलने जा रही है तो सय्यदा खानम उसे उपदेश देती है,

“ बनना क्या है! जो सब औरतों और लड़कियों का बन रहा है। बस इतना करना कि उसे गर्भ–निरोधक गोलियाँ ज़रूर दे आना, जो हर माँ और बहन करती है . . . हमारी औरतों का नसीब . . . उनकी गंदगी भी अपने में खाली करो . . . उनकी गंदगी का बोझ भी उठाओ, फिर ताने का बोझ सुनो। ”

. . . .

[1] चित्रा मुद्‌गल, आवाँ, पृ– 136-37

“ घबराने से, बेटी, हासिल कुछ नहीं होगा। मैं यही काम कर रही हूँ। कुलमिलाकर मेरे खानदान में चालीस लड़कियाँ हैं। गोलियाँ भी आसानी से नहीं मिलती हैं . . .। ”[1]

बलात्कार और समाज

बलात्कार के प्रति समाज का रूखा रवैया, उसकी संख्या में बढोत्तरी होने का मुख्य कारण है। समाज बलात्कारों के प्रति बेहद ठंठी प्रतिक्रिया ही अपनाता है। इन मामलों में दखल न देना ही अधिकांश लोग उचित समझते हैं। समाज बलात्कार के शिकार को हमेशा शक भरी दृष्टि से देखते हैं। बलात्कार के शिकार हुई लडकी के परिवारवालों की प्रतिक्रिया भी उतना स्वस्थ नहीं है। वे हमेशा ऐसी घटनाओं को दूसरों से छिपाना चाहते हैं। इन कारणों से बलात्कार के शिकार आजीवन मानसिक यंत्रणा झेलने के लिए विवश हो हो जाते हैं। सुभाष सेतिया के मुताबिक बलात्कार हत्या से भी अधिक भयावह है, “ मनुष्य द्वारा मनुष्य पर जितने तरह के अपराध और अत्याचार हो सकते हैं, उनमें बलात्कार ही ऐसा अपराध है जो पुरुष द्वारा केवल स्त्री पर किया जाता है। हमारे देश में इसका सबसे काला पहलू यह है कि इस अपराध में अपराधी से अधिक उसके शिकार – यानी लड़की– को ही प्रताड़ना और शर्म झेलनी पड़ती है। बलात्कार की शिकार औरतों को आक्रांत होने तथा अपनी इच्छा का अनादर होने की शारीरिक और मानसिक पीड़ा के साथ–साथ सामाजिक वितृष्णा का भी निशान बनना पड़ता है। यही वह परिस्थितियाँ हैं जो बलात्कार को हत्या से भी अधिक भयावह बना देती हैं। ”[2]

---

[1] नासिरा शर्मा, सात नदियाँ एक समंदर, पृ 221-22

[2] सुभाष सेतिया, स्त्री अस्मिता के प्रश्न, पृ–37

समाज और परिवार वालों की, बलात्कार के प्रति ठंडी प्रतिक्रिया का चित्रण समकालीन नारीवादी उपन्यासों में हुए हैं। ' मैं और मैं ' उपन्यास में दिन दहाड़े बागपत में हुई घटना का ज़िक्र है, जो बलात्कार के प्रति समाज के रुख व्यक्त करता है, " बागपत में सरे आम, भरी दुपहरी को, चलती सड़क के मर्दों की खुली आँखों के सामने, पुलीस जवानों ने बार–बार एक औरत के साथ बलात्कार किया और . . . सडक़ सहमी फिर चल पड़ी ; कुछ देर शहर की आँखें फटी ज़रूर रहीं पर अँधेरा घिर आने पर, रोज़ की तरह बंद हो गयीं। अगली सुबह तक, दिन की सच्चाई रात के सपने की तरह विस्मृति के गड्‌डमड्‌ड मलबे में दफन हो चुकी थी। "[1]

बलात्कार एक घृणित कृत्य है ही, मगर वह तब और भी घृणित हो जाता है जब वह किसी मासूम बच्ची के साथ किया जाता है। बलात्कारी को नारी या लड़की के उम्र से कुछ लेना–देना नहीं है। ' आवाँ ' में चौथी कक्षा में पढनेवाली नमिता को उसके मौसाजी अपने हवस का शिकार बना लेता है। इसके लिए आईस्क्रीम, नया कपड़ा, पैसा आदि का प्रलोभन दिया जाता है और बाद में धमकी भी दी जाती है। मौसाजी को पूरा भरोसा है कि नमिता की बात को सुनने के लिए कोई भी तैयार नहीं होगा। मौसाजी का यह अनुमान बिलकुल सच निकलता है। नमिता जब माँ से मौसाजी की हरकत के बारे में कहती है तो माँ की प्रतिक्रिया कुछ इस तरह है, " घर आकर उसका बुझा हुआ हौसला लौटा। संकेत से उसने माँ को मौसाजी की ओछी हरकत के विषय में बताया। लेकिन पाया कि माँ ने बात भी पूरी नहीं होने दी। हथेली से उसका मुंह चाँप दिया। मौसाजी जैसी ही जल्लादी आँखों से तरेरते हुए उसे चेतावनी दी,

---

[1] मृदुला गर्ग, मैं और मैं, पृ– 126

“ जो हुआ सो पेट में डाल! अपने मगज–फिरे बाबूजी से पोने की कतई ज़रूरत नहीं, वरना मामूली–सी बात जीवन–जले बैर हो उठेगी। वैसे ही चिढ़ते रहते हैं –– पूंजीपति से कैसी नातेदारी! ”

“ . . . तिल का ताड़ बनाने में बूढ़ा कम प्रपंची नहीं। बहला–फुसला टोहने की कोशिश करे तो खबरदार जो तूने विष उगाला . . . ”[1] बचपन में हुई इस तरह की प्रतिक्रिया के कारण ही अन्ना साहेब के आचरण के बारे में माँ से कहने के लिए नमिता तैयार नहीं होती। वह सोचती है, “ कह दे अंतर्सत्य! नहीं, अपने पाँव पर कुल्हाड़ी चलाना ही होगा उनसे कुछ कहना! निश्चय ही घर से निकलने पर प्रतिबंध लग जाएगा। गलती किसकी है, किसकी नहीं, कोई मतलब नहीं होगा इससे उन्हें! ”[2]

बलात्कार को हमेशा समाज की नज़र से छिपाकर रखने की कोशिश किया जाता है। शिकार के परिवार के लोग अपनी प्रतिष्ठा हर हालत में बरकरार रखना चाहते हैं। लड़की को भी नसीहत दी जाती है कि वह इस बात को किसी से न कहे।

‘ छिन्नमस्ता ’ की प्रिया के साथ अनैतिक आचरण करता है उसका भाई। लेकिन दाई माँ प्रिया को यह बात किसी से न कहने की हिदायत देती है, “ अरी मोर बिटिया, नाहीं! तोहार क्वारपन खतम हो गईल . . . कच्ची कली . . . नहीं बिटिया, नहीं, ई बात किसी से कभी जिन कहियो। ” . . . .

“ सुन बिटिया! हमार कहा मान और ज़िंदगी में ई सब बात कभी किसी से जिन कहियो। आपन पति परमेसर से भी नाहीं। ”[3]

---

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–303

[2] वही, पृ–251

[3] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–18

बच्चों को देनेवाली इन नसीहतों का बड़ा दूरगामी प्रभाव पड़ता है। वह बड़े होकर भी पुरुष के अनैतिक आचरण के बारे में किसी से बताने के लिए कतराती है। दाई माँ से मिली शिक्षा के कारण ही न्यूमार्कट में छेड़–छाड़ करनेवाले पुरुष के बारे में प्रिया भैया या बहन से, जो उसके साथ है कुछ कह नहीं पाती। वह सोचती है, " और मेरी हिम्मत नहीं हो रही थी कि मैं भैया से या सरोज से कहूँ। क्यों? मैं इतनी दब्बू? इतनी कायर? क्या दाई माँ के कारण भय का संस्कार पनपा? या अम्मा की उपेक्षा में या फिर हमारे समाज की हज़ारों–लाखों स्त्रियों के साथ ऐसा ही घटना रहा है? पर हर औरत मुँह खोलने से घबड़ाती है। क्या सबको एक ही निर्देश मिला है अपनी माँ से? अपनी बहन से? मत बोलना, बिटिया! कभी नहीं। क्या घुटती हुई हर माँ ने औरत के जन्म को ही नहीं कोसा? "[1]

बलात्कार की शिकार जब कानूनी कार्यवाही के लिए तैयार हो जाती है, तो उसे पीछे हटाने की कोशिश भी की जाती है। ' कठगुलाब ' की स्मिता यौन–उत्पीड़न के शिकार होने के बाद जब पुलीस थाने में जाकर केस दर्ज करना चाहती है तो उसकी बहिन ही उसे पीछे हटाती है। वह कहती है, " नहीं। पुलीस के पास गई तो बदनामी के सिवा कुछ हासिल नहीं होगा। अकेली जान, वे भी तेरा फ़ायदा उठाने की कोशिश करेंगे। नहीं, वह रास्ता ठीक नहीं है। "[2]

अगर कोई बलात्कार के मामला या नारी पर होनेवाले आक्रमण की घटनाओं में हस्तक्षेप करके लड़की का समर्थन करना चाहती है तो उसके परिहास का पात्र बन जाने में देर नहीं लगती। ' कठगुलाब ' की असीमा के साथ भी यही होता है।

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–120

[2] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–22

नर्मदा के साथ उनके जीजा के बलात् शादी के बाद असीमा नर्मदा को नाबालिग सिद्ध करने के लिए डॉक्टरी जाँच कराती है। लेकिन वह बालिग सिद्ध होती है। तब डॉक्टर उस पर हँसी उठाती है।

" डॉक्टरी जाँच करवाइए, पता चल जाएगा। " मैंने (असीमा) जिद पकडी तो जाँच कर ली गई। डॉक्टर ने उसकी उम्र अट्ठारह से ऊपर बतलाई। मर्जी से संभोग करने को कानून की दृष्टी से निरापद बतलाया। जाति मामलों में दखल न देने की पुलिस की नीती को सराहा, और मुझे बेवकूफ़, सिली और फ़ेमिनिस्ट कहा। "[1]

बलात्कार––नारी की मानसिकता

बलात्कार जितनी चोट नारी के तन को पहूँचाता है उससे भी बड़ी चोट उसके मन को। बलात्कार के बाद उसके शिकार का जीवन, बलात्कार की घटना से भी खौफनाक है, " यह माना जाता है कि बलात्कार से स्त्री का शील भंग हो गया, उसकी पवित्रता नष्ट हो गई। स्वयं बलात्कृत स्त्री भी इस हीनता से उबर नहीं पाती। शारीरिक क्षति से ज़्यादा मानसिक विकारों से ग्रस्त होकर आत्म–हत्या तक कर लेती है और जो आत्महत्या नहीं करती है, वह भी कम दीर्घकालिक यातना नहीं झेलती है। उसे सहानुभूति की बजाय घृणा और निरादर के भाव से देखा जाता है। "[2]

बलात्कार के शिकार हुई नारी हर क्षण पाप–बोध का अनुभव करती है। दर असल पाप तो पुरुष करता है, लेकिन स्त्री स्वयं अपराधबोध महसूस करती है। '

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–175

[2] डॉ० ओम प्रकाश शर्मा, 128

छिन्नमस्ता ' की प्रिया के साथ भी यही होती है। भैया की हरकत के बाद प्रिया की मानसिकता इस प्रकार है,

" दाई माँ की ममता ने मानो जमी हुई बरफ की डली को खौलते हुए पानी में डाल दिया। रोए जा रही थी। मुझे अचानक समझ में आया। मानो मुझसे कहीं कोई भयंकर गलती हो गई हो। अपराध . . . पाप . . . हाँ, ज़िंदगी में पाप का बोध पहली बार हुआ। "[1] अपने ही भैया की हवस के शिकार हुइ प्रिया को बाद में हर पुरुष में अपने भाई नज़र आती है। नतीजतन उसे संपूर्ण पुरुष वर्ग के प्रति घृणा हो जाती है। बलात्कार के कारण सेक्स् से भी प्रिया विमुख हो जाती है। वह सोचती है, " नहीं, मैं औरत होना नहीं चाहती। मैं कभी किसी से प्रेम नहीं करूँगी। कभी शादी नहीं। सेक्स् से घृणा है मुझे, बेहद घृणा। मैं एक ठंडी रहूँगी। पुरुष से बदला लेने का मुझे एक यही तरीका समझ में आया। "[2]

' कठगुलाब ' की स्मिता को यौन–उत्पीड़न के बाद तेज रोशनी और आईने से नफरत हो जाती है। वह सोचती है,

" मैंने अपने–आपसे बहुत लड़ाई की थी। पर अपनी तमाम मसरूफ़ियत, थकान और इंतकाम की बुतपरस्ती के बावजूद, मेरी फ़ितरत में एक बात आ गया था। तेज रोशनी और बडे आईनों से मुझे हमेशा के लिए नफ़रत हो गई थी। ....मेरी शक्ल–सूरत, कद–काठी ठीक

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–18

[2] वही, पृ–120

कैसी थी, इसका मुझे गुमान नहीं रहा था। अपनी फ़ोटो देखती तो शायद खुद को पहचान नहीं पाती। ''[1]

दूसरी औरत की समस्या

दूसरी औरत को रखने की प्रवृत्ति पुरुष के नारी शोषण का और एक आयाम है। वास्तव में इसके पीछे पुरुष की उपयोगिता की मानसिकता ही है। पत्नी के अलावा दूसरी स्त्री अथवा रखैल से भी संबंध रखकर पुरुष एक साथ दोनों को धोखा देता है। पुरुष द्वारा दूसरी स्त्री रखने का उद्देश अपनी कामपूर्ति मात्र है। साथ ही वह अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए पत्नी को एक आवरण के रूप में इस्तेमाल करता है। दूसरी स्त्री को सामाजिक स्वीकृति कभी भी नहीं दी जाती। रखैल को पुरुष कदापि अपना नाम नहीं देता। राजेन्द्र यादव के शब्दों में, '' जब औरत को वह संरक्षण यानी रोटी, कपड़ा और मकान देने के साथ अपना नाम देकर सामाजिक स्वीकृति देता है तो कहता है पत्नी, लेकिन जब संरक्षण देकर अपना नाम नहीं देता तो वह ' रखैल ' है। ''[2]

दूसरी औरत के रूप में नारी के शोषण की वस्तुतः एक दीर्घ परंपरा है। ' अपने–अपने चेहरे ' की रमा के विचार से यह स्पष्ट है। '' दूसरी औरत की परंपरा . . . वह भी तो हज़ारों साल की है . . . जैसे ही पुरुष ने विवाह किया होगा वही पहली रात के बाद हर रात उसे एक–सी लगी होगी। गृहस्थी का जुआ खींचने में उसके कंधों में छाले पड़ गए होंगे . . . और किसी अकेली श्याम बैठे–बैठे उसने सोचा होगा, क्या सब कुछ ऐसे ही चलेगा? एकरस . . . बार–बार, उन्हीं–उन्हीं घटनाओं की पुनरावृत्ति। .

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–24

[2] राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृ–19

. . . .
. . . . लेकिन यह दूसरी औरत, पुरुष इसके पास क्यों जाता है . . .? क्यों आदिकाल से जाता रहा है और क्या इसीलिए स्टेंडाल ने दूसरी औरत के लिए कहा था कि हमारे घरों की स्वच्छता के लिए मोरियों और परनालों की ज़रूरत है? ''[1]

दूसरी औरत को स्वीकारना पुरुष अपना अधिकार समझता है। समाजिक नियमों में पुरुषों के लिए जो विशेष छूट दिया जाता है, दूसरी औरत रखने की प्रवृत्ति पनपने का और एक कारण है। ' दिलो–दानिश ' के वकील कृपानारायण के अनुसार मर्द के छोटे–मोटे गुनाहों पर खाक उड़ाने की ज़रूरत नहीं है। पुरुष है इसलिए थोड़ी–बहुत दिलजोई–दिल्लगी करने का अख्तियार उसे है। उसे अफसोस तो सिर्फ इस बात का है उसकी बीवी ये सब जानती नहीं।

पुरुष की उपयोगिता की मानसिकता, स्त्री को केवल वस्तु या भोग्या समझने की मानसिकता का यथार्थ चित्रण समकालीन नारीवादी उपन्यासों में हुए हैं। पत्नी उसके लिए रोटी है तो दूसरी स्त्री बाज़ार की चाट–पकौड़ी है, '' बात यह है भाभीजी, कि पुरुष का मन बड़ा अजूबा है। बाज़ार की चाट–पकौड़ी भी चाहिए और घर की दाल–रोटी भी। ''[2] ' सात नदियाँ एक समंदर ' की परी के शौहर का, दूसरी स्त्री के पास जाने का कारण भी केवल वासनाजन्य प्रेम और कौतूहल है, '' फरहा का बदन एकदम सफेद था। सफेद बदन उसकी कमज़ोरी थी। परी का बदन भी सफेद था। मगर वह पत्नी थी, कभी भी हाथ बढ़ाकर उसे हासिल किया जा सकता था। यह

---

[1] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ–74

[2] कृष्णा सोबती, दिलो–दानिश, पृ–10-11

कुतूहल, यह रोमांच, यह जोश जो किसी के पीछे भागकर हासिल होता है वह पत्नी नहीं दे सकती। वहाँ तो बस एक ठहरे पानी के तालाब का अहसास होता है, जहाँ न कोई लहर बनती है, न तूफान आता है, न भँवर में फँसकर डूबने का रोमांच। ''[1]

सिमोन द बुआर का कथन कि '' एक उप–पत्नी की सम्पूर्ण जीवन–कथा एक भयंकर देवता के लिए अपना आनंद, खुशी, और प्रेम न्यौछावर कर देने तक सीमित रहती है ''[2] बिलकुल सही है। किन्तु सब कुछ न्यौछावर करने पर भी सामाजिक स्वीकृति उसे कभी नहीं मिलती। ' अपने–अपने चेहरे ' की रमा के मन में स्वयं इस बात का एहसास है कि दूसरी स्त्री होने के कारण समाज में उसका कोई पहचान नहीं है, '' . . . यह कैसी ज़िंदगी मैं जी रही हूँ . . . मैं छोड़ क्यों नहीं देती? मेरा परिचय क्या है इस उम्र में? किसकी पत्नी, किसकी माँ? किस घर की बहू? मैं न सधवा, न विधवा। ''[3]

भारतीय समाज में पत्नी को ही सामाजिक स्वीकृति मिलती है। गोपाल राय के शब्दों में, '' पर स्त्री के लिए किसी पुरुष का ' दोस्त ' होना परम्परागत भारतीय समाज में स्वीकार्य नहीं है यदि उसे समाज में स्वीकृति पानी है तो उसका पत्नी होना अनिवार्य है। दोस्त के रूप में वह ' दूसरी औरत ' होती है। ' पहली औरत ' वह है

---

[1] नासिरा शर्मा, सात नदियाँ एक समंदर, पृ–80

[2] सिमोन द बुआर, The Second Sex, स्त्री उपेक्षिता, अनुवादक– प्रभा खेतान, पृ–287

[3] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ–75

जिसकी माँग में सिन्दूर होता है, उसे अर्द्धांगिनी होने का बल प्राप्त होता है, ' दूसरी औरत ' इससे वंचित होती है। "[1]

असंतृप्त लैंगिक जीवन

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में स्त्री की यौन–समस्याओं के विश्लेषण का प्रयास भी देखा जा सकता है। एक औसत नारी के जीवन में आज भी यौन–संबंध विवाह के बाद ही शुरू होती है। दूसरे शब्दों में नारी का वैवाहिक और यौन–जीवन का गहरा संबंध है। किन्तु यौन–संबंधों में भी पुरुष अपना वर्चस्व को बरकरार रखना चाहता है। फलस्वरूप इसके पति–पत्नी का संबंध स्वामी–दासी रिश्ते में बदल जाते हैं, संभोग स्त्री के लिए एक ' सेवा का रूप ' मात्र रह जाता है। सिमोन के अनुसार, " आदिकाल से आज तक संभोग को एक ' सेवा–रूप ' दिया गया है, जिसके लिए पुरुष स्त्री को धन्यवाद देता है, उपहार देता है, उसकी जीविका का भार ग्रहण करता है। सेवा करना वस्तुतः अपने को किसी स्वामी के हाथ सौंप देना है। इस तरह के संबंध में पारस्परिकता नहीं रहती। विवाह–संस्कार के विभिन्न रूपों और वेश्याओं का अस्तित्व इस बात का प्रमाण है कि स्त्री को पुरुष के प्रति समर्पित होना ही पड़ता है, पुरुष मानो उसकी कीमत देकर उसे ग्रहण करता है। "[2]

यौन–क्रियाओं में पुरुष स्त्री की इच्छाओं और संवेदनाओं को कोई महत्व नहीं देता। नतीजतन नारी का यौन–जीवन असंतृप्त हो जाता है। किन्तु नैतिकता की जकड़–बन्दी के कारण वह अपनी असंतृप्ति चुप–चाप सह लेती थी। नारी–चेतना के उदय के साथ इस स्थिति में भी परिवर्तन आया। आज नारी अपनी असंतृप्ति खुलकर

---

[1] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ– –385

[2] सिमोन द बुआर, The Second Sex, स्त्री उपेक्षिता, अनुवादक– प्रभा खेतान, पृ–165

व्यक्त करती है। समकालीन नारीवादी उपन्यासों में भी नारी की इस अतृप्ति को वाणी मिली है। पति द्वारा कभी–कभी पत्नी का बलात्कार ही हो जाता है। इस संबंध में अनामिका का कथन उल्लेखनीय है। “ दुनिया की ज़्यादातर औरतें भैंस के आगे बजती हुई बीनें हैं! पुरुष न उसकी देह का छंद समझते हैं, न मन का : हबड़–दबड़ में अपना ताव ऐसे झाड़ते हैं जैसे गर्दो–गुबार उतारा जाता है या फिर ठंडी पट्टी दे–देकर कोई मियादी बुखार! एक सांस में गरज–तरज, मार–पीट और गाली–गलौज, दूसरी सांस में एक कृत्रिम–सी लल्लो–चप्पो, पिर तीसरी सांस में वही गरज–तरज, नोच–खसोट और फिर तुंदिल खर्राटे! भोंदू भाव न जाने, पेट–भरे से काम! विवाह के भीतर हो या बाहर –– ज़्यादातर प्रणय–क्रिया एक तरह का बलात्कार है और साधारण स्त्री का समूचा जीवन एक तरह का सईकिक रेप! ”[1]

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में इस प्रकार के साईकिक रेपों का चित्रण कई उपन्यासों में हुए हैं। ‘ शेषयात्रा ’ की अनु पति के बलात्कार झेलने को मज़बूर है, “ अनु ने अपने को प्रणव की कसी पकड़ में घिर जाने दिया। प्रणव के होंठ क्रूर थे। वह एक हिंसक आक्रोश में अनु को झकझोर रहा था, प्यार में नहीं। अनु ने उसे दूर ठेलना चाहा। वह प्रणव, जो देर तक उसे सहलाता, दुलराता रहता था, इस वक्त कहाँ खो गया था! रह गया था एक पुरुष मात्र, जिसका अव्यक्त रोष, और ऐंठती हुई ताकत वह महसूस कर रही थी, पर जिसका कारण जानने में वह असमर्थ थी। वह देर तक कुचली, टूटी, चुकी हुई पड़ी रही। प्रणव ने उठकर गिलास में शराब डाली और खुली खिड़की के आगे जाकर खड़ा हो गया। ठंडी हवा कमरे में घुस आई और अनु का अंग–अंग एकबारगी दुखने लगा। ”[2]

---

[1] अनामिका, मन मांझने की ज़रूरत, पृ–131

[2] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, पृ–42

‘ शाल्मली ’ का नरेश एक ऐसा पुरुष है जो शयन–कक्ष में भी अपना अधिकार स्थापित करना जानता है। वह अपनी पत्नी से कहता है, “ मुझे यहाँ भी अपना अधिकार लेना आता है। प्रेम से या बल से, जिस तरह मैं चाहूँगा। तुम्हारा रूठना, तुम्हारा अकड़ना व्यर्थ है। ”[1] और नरेश वाकई अपना अधिकार लेता है, वह शाल्मली की भावनाओं का कोई कद्र नहीं करता, जिससे शाल्मली बुरी तरह आहत हो जाती है। वह शाल्मली की मर्ज़ी के खिलाफ उसके साथ संभोग करता है, “ इस समय मेरा मन नहीं है, नरेश, प्लीज़, कुछ बात करो! मैं बहुत . . .। ”

.... न चाहते हुए भी उसे पति के सामने आत्मसमर्पण करना पड़ता है।....

“ नरेश के लहजे की सख्ती से शाल्मली टूट–सी गई। आत्मसमर्पण के सिवा कोई रास्ता न था। नरेश की उग्रता से वह कांप उठी। क्या कहे, किससे कहे? उसकी आवाज़ हलक में घुट गई थी, बदन बेहिस, लुंज–पुंज हो गया था। सिर्फ आँखों के कोरों से गर्म पानी बहकर उसके बालों और ताकिये को भिगोता रहता। ”[2] पति का यह बलात्कार शाल्मली को अपमान ही लगता है।

‘ अन्तर्वंशी ’ के शिवेश को भी अपनी पत्नी वाना की इच्छा का कोई ख्याल नहीं है। वाना सचमुच उसे बर्दाश्त करने को विवश है। यहाँ पति द्वारा किए जानेवाले बलात्कार को बर्दाश्त करना पत्नी अपनी नियति मानती है। नारी क्या चाहती है? उसकी संवेदनायें किस तरह की है? इन बातों से पति को कुछ लेना–देना नहीं है। वाना के शब्दों में यही भाव प्रकट होती है, “ –– तुम रौंदते रहे मुझे। अपनी भूख,

---

[1] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ– 128

[2] वही, पृ–40

अपनी लालसा के वश ; और मैं एक बार भी न कह पाई, “ मुझे यहाँ छुओ शिवेश ––मुझे अच्छा लगेगा। और तुम्हारे दिमाग में आया तक नहीं कि वाना का अपना सोच, अपना सुख हो सकता है–– ”[1]

प्रभा खेतान के ‘ पीली आँधी ’ की सोमा का यौन–जीवन सुहाग रात से ही एक चोट की तरह थी। वह सिर्फ एक नेगाचार की तरह ही खत्म हुआ। सोमा के साथ गौतम का आचरण बिलकुल मालिकाना है। उसने अपनी संतुष्टि के लिए सोमा के शरीर का उपयोग किया था। सोमा सोचती है, “ गौतम? उसके साथ बिताए गए क्षण। क्या कहा जाए गौतम की हरकतों के बारे में? जहाँ न कोमलता मिली और न जीवन का एहसास। गौतम की अपनी भूख, जो कभी–कभी जगती थी और उस इच्छा की संतुष्टि भी केवल गौतम की अपनी संतुष्टि थी। गौतम प्रेमी नहीं मालिक था। संतुष्टि के लिए सोमा का उपयोग करने वाला। और शायद इसीलिए सोमा, गौतम को भूलना चाहती थी। जिसको उसने केवल झेला था, सहन किया था, मगर जिसको कभी जीया नहीं था। ”[2]

‘ छिन्नमस्ता ’ की प्रिया की हालत भी इससे कुछ भिन्न नहीं है। सुहाग रात से प्रिया–नरेंद्र संबंध स्वस्थ नहीं है। नरेन्द्र प्यार और सेक्स् को एक समझता है। पत्नी की भावनाओं का ख्याल उसे नहीं है। “ वह पढ़ा–लिखा आदमी बीस मिनट में अपनी भूख मिटाकर करवट बदलकर सो गया था। मैं थकी हुई बेदम पड़ी रही। नरेंद्र की गहरी साँसें, फिर नींद। उनींदे स्वर में कहना, “ बत्ति बंद कर दो, आँखों में रोशनी लग रही है। ”[3] ‘ कठगुलाब ’ की स्मिता अपने सारे भाव पति से शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त

---

[1] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वंशी, पृ– 99

[2] प्रभा खेतान, पीली आँधी, पृ– 245

[3] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–133

करना चाहती है, किन्तु पति जिम को भी उसकी भावनाओं से कोई मतलब नहीं है, " वह चाहता था, प्यार, स्नेह, विश्वास, जरूरत, अपनत्व, दोस्ती, संतोष, सबको शब्दों में अभिव्यक्त किया जाए। वह नहीं कर पाती तो उसके पास एक ही विकल्प बचता। सेक्स्। उसकी हर ' चुप ', उससे, उसकी देह को भोगने का नया तरीका ईजाद करवा देती। पहले से ज्यादा तिरस्कारपूर्ण, अपमानजनक और अशालीन। हँसकर झेल जाने की अपनी शक्ति पर उसे गर्व होने लगा था। "[1]

पति की विकृत यौन–भावनाओं के कारण नारी को किस तरह की शारीरिक और मानसिक यंत्रणाओं से गुज़रना पड़ता है, इस बात को मृदुला गर्ग ने ' कठगुलाब ' में चित्रित किया है। जिम की भावनाएँ काफी विकृत है, " कभी कहता, वह उसे गोदी में लिटाकर स्तनपान करवाए। कभी कहता, सारे कपड़े उतारकर, लालीपॉप चूसते हुए, नर्सरी रैम्स गाए। कभी उसकी नग्न तस्वीरें खींचता और उन्हें सामने रखकर कहता, " इन्हें देखो और जिस्म के उभारों को छूकर कहो, अब मैं बच्ची नहीं हूं। "[2]

' अकेला पलाश ' की तहमीना को यौन–सुख देने में पति जमशेद असमर्थ है। जमशेद और तहमीना की उम्र में काफी अन्तर है। तहमीना की असंतृप्ति दिन–ब–दिन बढ़ती जा रही है। वह सोचती है, " आज . . .! आज रात भी वही हुआ था जो इसके पहले कई रातों में हो चुका है। आज फिर जमशेद की बाँहों में उसने महसूस किया कि वह एक पुरुष के पास नहीं, एक नपुंसक पुरुष के साथ है। जमशेद

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–49-50

[2] वही, पृ–49

उसके शरीर को जगाकर खुद शांत हो जाता है, और तहमीना अपने आप से ही लड़ती अपने कमरे में फिर लौट आयी थी। ''[1]

वैवाहिक जीवन में स्वस्थ सेक्स् का अभाव पारिवारिक विघटन का कारण बन जाता है। तहमीना को लगती है कि जमशेद की कमज़ोरी उन दोनों के बीच एक दीवर बन गई है। वह सोचती है, '' उसने (तहमीना) कहीं सुन रखा था कि पुरुष से अधिक नारी के शरीर की आग होती है। पहले उसे इस बात पर कभी विश्वास नहीं होता था, पर अब जैसे–जैसे समय बीतता जा रहा है उसे लगने लगा है कि यह बात सच है, क्योंकि अकसर ऐसी रातों के बाद तहमीना सोचने पर मजबूर हो जाती है, इस तरह कैसे दिन कटेंगे? अभी तो उसके सामने उसकी उम्र का एक लंबा हिस्सा आगे है, जिसमें उसे जीना है। जीना शर्त जो है। और कैसे कटेंगे इतने साल। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि शरीर की सारी वासना खत्म हो जाए? ओह–– उसका जीवन भी कैसा है, वह इस घर में सफल गृहिणी है, सफल माँ है, पर वह चाहकर भी सफल पत्नी नहीं बन पाई। चाहकर भी वह जमशेद को कभी पूर्ण रूप से, मन से, तन से, जमशेद को पति नहीं मान पायी। जमशेद की यही कमज़ोरी दोनों के बीच हमेशा दीवार बनी रही। ''[2]

चूँकि, देह स्त्री–विमर्श का महत्वपूर्ण अंग है, स्त्री–देह की अतृप्ति और मन की कुंठाओं को समकालीन नारीवादी उपन्यासों में चित्रित किया गया है। वस्तुतः इस प्रकार का चित्रण भी पितृसत्तात्मक समाज एवं नैतिकता के प्रचलित मानदण्डों के प्रति विद्रोह प्रकट करना ही है।

---

[1] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ–80-81

[2] वही, पृ– 82

विवाहेतर संबंध

आज नारी विवाह और पति को सर्वस्व मानने को तैयार नहीं है। पुरुष–निर्धारित नैतिक मूल्यों के अनुसरण करने के बजाय आज वह अपने नैतिक मूल्यों का निर्माण स्वयं कर रही है। सामाजिक नैतिकता की तुलना में वह व्यक्तिगत नैतिकता को अधिक महत्व देने लगी है। समाज द्वारा स्थापित नैतिक मूल्यों के भय से देह की भूख को दबाने के लिए आज नारी तैयार नहीं है। असंतृप्त नारी चाहे वह मानसिक या शारीरिक जो भी हो, विवाह–संबंध से बाहर दूसरे संबंध ढूँढने से कतराती नहीं। समकालीन नारी लेखिकाओं के उपन्यासों में नारी के विवाहेतर संबंधों का विश्लेषण करने का प्रयास हुआ है और प्रस्तुत विश्लेषण नारी–देह के अधिकारों को दृष्टि में रखकर किया गया है, “ स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व की वकालत के संदर्भ में सहस्राब्दी के अंतिम दशक के साहित्य में ऐसी प्रवृत्ति का उदय हुआ है जो स्त्री के विवाहेतर संबंधों का न केवल औचित्य खोजती है बल्कि उन्हें न्यायसंगत भी ठहराती है। ”[1] वस्तुतः नारी का विवाहेतर प्रेम और उसका बयान पुरुष द्वारा निर्धारित नैतिक मापदण्डों का नकार ही है।

नारी के तन और मन संबंधी बुनियादी आवश्यकताएँ हैं। पति जब इन आवश्यकताओं के प्रति उपेक्षा भाव अपनाता है तो नारी का मन सहज ही दूसरे पुरुष के प्रति आकृष्ट हो जाता है। ‘ इदन्नमम ’ की कुसुमा और दाऊजू के बीच संबंध स्थापित हो जाने का मुख्य कारण कुसुमा के पति का उपेक्षा भाव ही है। वह कहती है, “ अकेले थे हम मन्दा! निपट अकेले! झुलस–झुलसकर मर रहे थे। प्यासे तड़प रहे थे! दाऊ जू आ गये हमारे बीहड़ में। सीतल झरना होंके बहने लगे। उजाड़ ज़िन्दगानी

---

[1] वीना यादव, हिन्दी उपन्यासों में स्त्री अस्मिता की अभिव्यक्ति, पृ–50-51

के टूटे–फूटे मंदिर में ज्यों पिरभू देवता का रूप धरकर खड़े हो गये हों! बस . . सोई हम उनकी सरन में जा गिरे जोगिन की तरह! ''[1]

' अकेला पलाश ' की तहमीना पति से मानसिक एवं भौतिक दोनों धरातल पर असंतुष्ट है। इसी कारण तुषार के साथ उसका संबंध स्थापित हो जाता है। ' चाक ' में मैत्रेयी ने भी इस बात की ओर संकेत किया है कि यौन–संबंधों में स्त्री शारीरिक संतुष्टि के साथ–साथ मानसिक संतुष्टि भी चाहती है। इसी कारण श्रीधर के साथ के संबंध को सारंग अपनी अधूरी–पूरी इच्छा की भरपाई मानती है, '' क्या बताऊँ किसी को, कि क्या हुआ था? मुझे ये लोग क्या समझ पाएँगी . . . मैं ही नहीं जान पा रही कि जो कुछ उनके साथ हुआ, वह उसकी भरपाई थी या मेरी अपनी अधूरी–पूरी इच्छा? दबी–घुटी लालसा या वर्जित फल को चखने–जाँचने की ज़िद? मेरा ही फैसला था कहीं। आज़ाद होकर सोच रही थी अपने बारे में। ''[2]

चित्रा मुद्गल का उपन्यास ' एक ज़मीन अपनी ' के मेहता की पत्नी कोकिला और मैत्रेयी के ' झूला नट ' की सीलो दोनों, पति से यौन–संतुष्टि न मिलने के कारण देवर के साथ संबंध स्थापित करती है। कोकिला मेहता की कमज़ोरियों के कारण देवर के साथ संबंध स्थापित करती है तो सीलो पति सुमेर की उपेक्षा भाव के कारण।

विवाहित स्त्री द्वारा दूसरे पुरुष को ढूँढने की प्रवृत्ति के मूल में नारी की यही सोच ही है कि अपने देह के बारे में फैसला करने का हक सिर्फ उन्हीं को है। देह के अधिकार के साथ भावनाओं की पूर्ति की खोज ही विवाहेतर संबंधों की ओर नारी को ले जाती है।

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ–81

[2] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–328

विवाहेतर संबंध-- पापबोध का अभाव

आज की नारी विवाहेतर संबंध स्थापित करने में कोई पापबोध का अनुभव नहीं करती। वह असंतृप्त यौन-जीवन के तनाव को चुप-चाप सहकर स्वयं को कुंठाग्रस्त बनाने के लिए तैयार नहीं है। अपने संबंधों को वह ईमानदारी और सहजता के साथ स्वीकार करती है और इसका निर्वाह भी, " आज की नारी किसी अन्य पुरुष के साथ अल्पकालिक शारीरिक संबंध स्थापित करने पर दाम्पत्य जीवन के प्रति विश्वासघात नहीं मानती। आज स्त्री-पुरुष दोनों ही यौन-संबंध अथवा तृप्ति के लिए बिना किसी पापबोध के लालायित हैं। "[1]

मैत्रेयी के उपन्यास ' चाक ' के सारंग जिसके पति और बच्चा भी है, श्रीधर के साथ संबंध रखकर किसी पापबोध का अनुभव नहीं करती, " मैं पोखर! सारंग के मन और देह में दर्द की लहर दौड़ा गई। घुटनों में सिर गाड़ लिया। पोखर कहे कोई या गंदी नाली! मुझे तो पाप नहीं लगा अपना किया। कतई नहीं हुआ पाप-बोध। जो किया, सोच-समझकर किया। मैं अबोध थी, न विधवा राँड और न कुँआरी अल्हड़ जवानी की मारी। "[2] श्रीधर के साथ जो संबंध है उसे लेकर सारंग के मन में ज़रा भी लाज नहीं है और इस संबंध को व्यभिचार मानने के लिए वह तैयार भी नहीं है। सारंग अपने शरीर को तब सार्थक मानती है जब श्रीधर को वह सुख प्रदान करता है।

' पीली आँधी ' की सोमा विवाहिता होकर भी विवाहित सुजीत के साथ के संबंध को बड़ी सहजता के साथ स्वीकार करती है। उसे समाज का कोई डर नहीं है,

---

[1] डॉ० अलका प्रकाश, नारी चेतना के आयाम, पृ-81-82

[2] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ-328

" सुजीत! मैं तुमसे प्यार करती हूँ। मैं जानती हूँ तुम विवाहित हो, मैं भी तो विवाहिता हूँ और हमारा यह अवैध संबंध, दुनिया क्या कहेगी? समाज क्या कहेगा? तुम्हारी पत्नी मुझे धोखेबाज कहेगी? यही न, लेकिन मैं क्या करूँ सुजीत? सब कुछ समझते हुए भी मैं अपने आपको रोक नहीं पा रही। इसलिए यह सब कह रही हूँ। "[1] सोमा के मन में भी इस संबंध को लेकर ज़रा भी पापबोध नहीं है, " आखिर गलत क्या है? ऐसा कौन–सा अपराध मैं कर रही हूँ? क्या अभी इस वक्त भी दुनिया के सैकड़ों स्त्री–पुरुष एक–दूसरे को प्यार नहीं कर रहे होंगे? क्या उनका शरीर साथ नहीं? और क्या सभी पति–पत्नी हैं? किसी पराए पुरुष को यदि मैं अपनाना चाहती हूँ तो अनोखा क्या है? क्या कभी विवाहित स्त्री ने अन्य विवाहित पुरुष से प्यार नहीं किया है? फिर यह भय और ग्लानी क्यों? "[2]

' अकेला पलाश ' की तहमीना जो शादीशुदा और एक बच्चे की माँ है, तुषार के साथ के संबंध में हर्ष का अनुभव कर रही है। राजी सेठ के उपन्यास

' तत्–सम ' की कल्पना की शादी नहीं हुई थी। पर उसका संबंध शादीशुदा सुधीर से है। वह इस संबंध को एक अनुपम उपलब्धी के रूप में स्वीकार करती है, " उसके बाद जो कुछ भी हुआ बस होता चला गया। छत्तीस वर्षों से ढलानों पर बेमतलब बहता पानी किसी दूसरे की भँवर में ठहर गया। वह अधिकार किसी और का हो भी तो कल्पना के लिए एक अनुपम उपलब्धी। अँजुरियाँ भर–भरकर अपने आँगन में उलीच

[1] प्रभा खेतान, पीली आँधी, पृ–240-41

[2] वही, पृ–242

लेना चाहती है झट बह जानेवाला अनधिकृत जल। जाने कैसी चिंता–सी घुमड़ती है मन में . . .। ”[1]

‘ इदन्नमम ’ की कुसुमा दैहिक आवश्यकता की तुलना में पाप को गौण मानती है। वह मंदा से कहती है,

“ बिन्नू, यह जल निरमल है या मैला? पवित्तर है या पाप का? इमरत है कि बिस? नहीं जानते हम। तुम्हारी रामायन में लिखा भी होगा तो लिखनेवाला यह नहीं जानता कि आदमी जब प्यासा होता है, प्यास से मर रहा होता है, तो कहाँ देखता है, कहाँ सोचता है, कहाँ करता है कोई भेद? कोई अन्तर? ”[2]

‘ एक ज़मीन अपनी ’ की नीता, दो बच्चों के पिता सुधीर के साथ अपना जो संबंध है, उसे परिपक्व मानती है, “ हम प्रेम करते हैं। हमारा प्रेम मात्र आवेग नहीं है। न क्षणिक उन्माद! यह परस्पर संवाद है। परिपक्व! परिपक्व मानसिक जुड़ाव! हम वर्जनाहीन होकर जिएँगे! . . . बंधनहीन होकर बंधेंगे! . . . रूढ़िमुक्त हो मानसिक वरण! ”[3]

विवाहेतर संबंध को लेकर उपजी यह नई मानसिकता, निश्चय ही नई नैतिक अवधारणाओं का परिणाम है। शरीर को लेकर किसी भी प्रकार के पापबोध से मुक्त नारी का रूप ही समकालीन नारीवादी उपन्यासों में देखने को मिलता है।

---

[1] राजी सेठ, तत्–सम, पृ–142

[2] मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ–81

[3] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–199

नारी और समलैंगिकता

स्त्री की कामपूर्ति के लिए पुरुष की आवश्यकता नहीं है, स्त्री द्वारा ही वह संपन्न हो सकती है, नारी की समलैंगिक अथवा ‘ लेसबियनिज़्म ’ के मूल में यही वाद है। राडिकल फेमिनिस्ट अथवा उग्रनारीवादी समलैंगिकता क समर्थन करती है। पुरुष द्वारा निर्धारित काम संबंधी अवधारणाओं में, अकेला पुरुष ही स्त्री को काम–संतुष्टि देने की क्षमता रखता है। किन्तु नारी समलैंगिकता के समर्थक इसका निराकरण करके अपने देह के बारे में स्वयं फैसला लेते हैं। विश्व के अनेक देशों में समलिंगी संबंधों को वैधता दी गई है और समलिंगियों के बीच विवाह करने का अधिकार भी दिया गया है।

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में उषा प्रियंवदा और चित्रा मुद्गल के उपन्यासों में समलिंगी नारियों का चित्रण उपलब्ध है। ‘ आवाँ ’ की शिप्रा और निर्मला

‘ कामसुख भोगने के लिए ’ ब्यूटीपार्लर जाया करतीं हैं।

“ ब्यूटी पार्लर के विषय में उसने खूब सुना है। ममता अकसर पाँव साफ करवाने जाया करती है। अब भी जाती होगी। बल्कि ब्यूटी पार्लर की चर्चा उसकी बतकही का विशेष अंग हुआ करता था। यह भी कि कहाँ किस ‘ पार्लर ’ में किस हुनर में विशेषज्ञ लड़कियाँ कार्यरत हैं। चीनी और देशी लड़कियों की कुशलता में क्या अंतर है, ‘ कामसुख ’ पहूँचाने में चीनी लड़कियों के कौशल का जवाब नहीं। उसने कालेज की शिप्रा के बारे में कनफुस्सी की थी कि वह ‘ हिल रोड़ ’ के गार्सियाना में अकसर ‘ कामसुख ’ भोगने जाया करती है। बाप फिल्म निर्माता है। काले पैसे का अंबार कहाँ खिसकाए? ”[1]

---

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–216

निर्मला कनोई पति से खुलकर कह देती है कि वह पति से संतुष्ट नहीं है और कामसंतुष्टि के लिए वह ब्यूटीपार्लर जाती है,

“ वैसे तुम्हारी जानकारी में इज़ाफा करने के मकसद से तुम्हें बताना चाहती हूँ। पुरुषों की बनिस्बत काम–कला में स्त्रियाँ मुझे अधिक निपुण लगती हैं। कभी ओबरोय के ब्यूटी पार्लर ‘ मार्टिना ’ गए हो? वहाँ बड़ी गजब की चीनी लड़कियाँ हैं। काम–संतुष्टि के लिए वे हस्तकौशल से काम नहीं लेतीं, जीभ का उपयोग करती हैं। अलबत्ता फीस तगड़ी ज़रूर है उनकी, सौदा घाटे का नहीं। इच्छा हो तो कभी जीभ का परम सुख उठाकर देखो। मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। ”[1] इसी उपन्यास के विमला बेन बूढी होकर भी कुँआरी लड़कियों से समलिंगी संबंध स्थापित करके यौन–संतुष्टि प्राप्त करती है। नौकरानी नीलम्मा से शरीर मालिश कराने के बहाने अपनी कामवासना संतुष्ट करनेवाली शैलजा और उसकी सहेली मालिनी का चित्रण भी ‘ आवाँ ’ में किया गया है। मालिनी नीलम्मा से मालिश कराने के बाद उससे कहती है,

“ मालिश खत्म होते ही सहेली ने अपनी देह से उसके हाथ अलग न होने दिए। बेझिझक बोलीं, “ मालिश तो तूने बड़ी रेशमी की, नीलम्मा। पर तेरे हाथों का रोंया–रोंया सिहरा देने वाला वह जादू भी तो देखूँ जो मेरी शैलजा को तेरे पीछे पगलाए हुए है। जो कसमें खा–खाकर मुझे यकीन दिलाने की कोशिश करती है कि मालिनी, औरत की देह को औरत ही पहचानती है। मर्द के लिए तो वह केवल उगलदान–भर है। तेरे हाथ का हुनर मुझे भा गया तो शैलजा से बात हो गई है पक्की –इस कोठी का चौका–बासन छोड़ तू केवल मालिश करेगी। शैलजा से ज़्यादा ही मिलेगा तुझे मेरी देहरी। यहाँ पहूँचने के लिए तुझे बस के धक्के खाने पड़ते हैं। मेरी देहरी तू गाड़ी में चढ़के आएगी। महारानियों सरखी। बोल, मंजूर है? इतमिनान रख। हम ठहरे व्यापारी बिरादरी। तेरे नफे में

[1] चित्रा मुद्‌गल, आवाँ, पृ–425

खोट नहीं होने देंगे। एकाध घर सुख–आराम के तुझे और पकड़वा देंगे। किटी क्लब है हमारा। जीवन–भर बरतन घिसकर जितना तू कमाएगी न, छह महीने में झोर लेगी। बात दोनों तरफ से हाथ से हाथ मिले की ठहरी। जिन्हें तू सुख देगी वे भला तुझे दुःख–कष्ट में देख सकेंगे? मालिश के बाद हम पिस्ते–बादाम वाला दूध कोई अकेले पिएंगे! '' तुझे पहले पिलाएँगे। ताकत की ज़रूरत हमसे ज़्यादा तुझे जो होगी! ''[1]

उषा प्रियंवदा के उपन्यास ' अन्तर्वंशी ' में क्रिस्टीन और वाना के समलिंगी यौन क्रियाओं का वर्णन किया गया है। पति के एकपक्षीय कामभावना ही वाना को क्रिस्टीन की ओर आकृष्ट करती है। अनामिका का कथन यहाँ उल्लेखनीय है, '' मन की एकात्मकता साधे बिना देह पर हावी हो जाना एक ऐसा भयावह अपराध है जिसके लिए कोई भी सज़ा कम समझी जानी चाहिए! बौद्धिक तादात्म्य के बिना, एक–दूसरे के सूक्ष्मतम दुख–सुख से एकाकार हुए बिना, एक–दूसरे के लिए मन में गहनतम सम्मान जगे बिना, सीधे दैहिक स्पर्श पर उतारू हो जाना दुनिया का क्रूरतम खेल है जो पुरुष वर्षों से खेलते आए हैं : इसी की तीक्ष्ण प्रतिक्रिया है यह लेस्बियनिज़्म। ''[2] शिवेश तो वाना से कुछ उपेक्षा ही नहीं रखता। वह शारीरिक संबंधों में सिर्फ अपना सुख देखता है। इसी अवस्था में वाना को क्रिस्टीन से वह सब मिलती है जिसके लिए वह भूखी थी। शिवेश और उसका संबंध स्वामी–दासी का था। लेकिन क्रिस्टीन के साथ उसका जो संबंध है वह पारस्परिकता पर आधारित है। सिमोन ने स्त्रियों के बीच के संबंध को चिंतनशील माना है, '' दो स्त्रियों के बीच का प्रेम चिंतनशील होता है। उनमें प्यार द्वारा दूसरे को अपने अधिकार में लाने का प्रयास नहीं होता बल्कि उसके माध्यम से पुन: अपने ही व्यक्तित्व का सृजन होता है। पृथकता नष्ट हो जाती है। संघर्ष नहीं रहता। न

---

[1] चित्रा मुद्‌गल, आवाँ, पृ– 514-15

[2] अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, पृ–92-93

विजय है, न पराजय। ऐसी पारस्परिकता में दोनों ही व्यक्ति–रूप भी होती है, वस्तु–रूप भी। यहाँ स्वामी और सेवक का द्वैत भाव मानो पारस्परिकता बन जाता है। ''[1]

क्रिस्टीन के साथ संबंध स्थापित हो जाने के बाद वाना को लगती है कि स्त्री का संबंध मात्र पुरुष से ही होना चाहिए, यह शर्त पुरुषों ने ही बनाया है, अपना अधिकार बरकरार रखने के लिए। वाना सोचती है, '' स्त्री शरीर! निर्वस्त्र, नग्न! कितना सुन्दर ; कितनी विचित्र बात है कि वह पुरुषों को भी आकर्षित करता है और स्त्रियों को भी। देहसुख के लिए पुरुष की आवश्यकता नहीं, वह केवल संतान के लिए चाहिए–– वाना अकेले बैठ–बैठ सोच रही है। वर्जना किसने की, पुरुषों ने ही न। अपना दावा, अपना ठप्पा कायम रखने के लिए। ''[2] क्रिस्टीन बहुत सहजता के साथ स्वीकार करती है कि वह समलिंगी है। बाद में वह द्युतिमा भट्ट के साथ रहने लगती है। किन्तु वाना अपने आप को समलिंगी मानने को तैयार नहीं है। वह क्रिस्टीन के साथ के संबंध को एक विशेष क्षण का आकर्षण मानती है।

समलिंगी कामुकता को विकृत यौन–भावना माननेवालों का भी अभाव नहीं है। वे इसे स्त्री–पुरुष के सहज प्रकृति का निराकरण मानते हैं। वे उसे अप्राकृतिक और अस्वाभाविक मानते हैं। ' आवाँ ' का पवार स्त्री के साथ स्त्री रहने की पद्धति की आलोचना करता है, '' अवमूल्य या विकृति समाज में कोई नया मूल्य सृजित नहीं कर सकतीं। अब देखो, स्त्री–पुरुष संबंधों में प्रतिहिंसा परस्पर इस सीमा तक खिंच गई है कि स्त्रियों ने एकजुट हो स्त्रियों के संग रहने की ठान ली। मर्द–औरत के बीच कोई सामंजस्य स्थापित हो सकेगा इन बेहूदा हरकतों से? बन पाएगी परस्पर स्वस्थ स्थिति?

[1] सिमोन द बुआर, The Second Sex स्त्री उपेक्षिता , अनुवादक– प्रभा खेतान, पृ–188

[2] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वंशी, पृ– 111

मैं फिर दोहरा रहा हूँ, स्त्री–शोषण का यह वितंड़ावाद अधिक दिनों का खेल नहीं। स्त्रियाँ जब तक चाहें, साथ रह लें। छुआ–छुऔवल खेलकर कामेच्छा तुष्ट कर लें। फिर भी कुछ है जो उनके सामर्थ्य से परे है! '' मसलन, भ्रूण नहीं दे सकती स्त्री स्त्री को। ''[1]

' अन्तर्वंशी ' के शिवेश के अनुसार भी स्त्री के साथ स्त्री रहना अस्वाभाविक और अप्राकृतिक एवं घिसीपिटी लीक पर चलना है। वैसे तो सिमोन जैसी नारिवादियाँ समलिंगी कामुकता को विकृत यौन–भावना मानने के लिए तैयार नहीं है। उसके अनुसार सावधानी से सोच–समझकर व्यवहृत किए जाने पर यह उदारता, सच्चाई,और स्वतंत्रता का भी स्रोत बन सकता है।

सेक्स् और नवउपनिवेशवादी संस्कृति

विगत दो शती में भूमण्डलीकरण ने जीवन की सहज गति को बहुत अधिक प्रभावित किया था। वास्तविकता तो यह है कि मानव जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जो भूमण्डलीकरण के चंगुल में न फँसा हो। नवीन नैतिक मूल्यों के निर्माण में नवउपनिवेशवादी अथवा भूमण्डलीकृत संस्कृति ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। पश्चिम के अति भोगवादी संस्कृति का असर भारत के स्त्री–पुरुष संबंधों में भी नज़र आने लगा। रिश्तों में स्थाइत्व का अभाव देखा जा सकता है। स्त्री–पुरुष आपसी रिश्तों की अवधि क्षणों में सिमटने लगी है।

एक औसत पुरुष की नज़र में नारी महज देह है वह भोगने की वस्तु है। वह नारी को केवल उपयोगिता की दृष्टि से ही देखते आया है। पुरुष की इस मानसिकता को नवउपनिवेशवादी संस्कृति ने बढावा दिया। उल्लेखनीय बात यह है कि नारी भी आज पुरुष को मात्र उपयोगिता की दृष्टि से देखने लगी है। समकालीन नारीवादी लेखिकाओं

---

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–261-62

के उपन्यासों में स्त्री और पुरुष की इस बदली हुई दृष्टि ही देखने को मिलती है। डॉ० अमर ज्योति इस संबंध में यों लिखा है, “ आज की उपभोक्तावादी जीवन प्रणाली में प्रेम की भावना भी मात्र उपभोक्तावादी दृष्टि से ही देखी, परखी और भोगी जाने लगी है। प्रेम के आदान–प्रदान की प्रक्रिया में व्यक्तिगत लाभ और हानी को आँका जाने लगा है। प्रेम स्वार्थी और संकीर्ण मानसिकता से भरपूर होकर मात्र एक व्यापार होकर रह गया है। उपन्यासों में ऐसे अनेकों दृष्टान्त हमें दृष्टिगोचर होते हैं। महिला लेखिकाओं ने प्रेम के इस भौतिकवादी एवं उपभोक्तावादी दृष्टि को अपने उपन्यासों में नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है। आज प्रेम का आधार परस्पर विश्वास, आस्था एवं आदर का भाव न होकर कोई समझौता अथवा स्वार्थ बन गया है। ”[1]

पुरुष की दृष्टि में नारी का रूप केवल भोग्या की है। इसके अलावा नारी का और कोई रूप पुरुष को हज़म नहीं होगा। ‘ शाल्मली ’ उपन्यास के नरेश के शब्दों में पुरुष की मानसिकता स्पष्ट हुई है। वह अपनी पत्नी से कहता है, “ तुम जानना चाहोगी पुरुष की दृष्टि में औरत क्या है? भोगने की वस्तु . . . वही उसकी पहचान है। इसलिए तुम औरत की तरह रहो, इसी में तुम्हारा उद्धार है और इस घर का कल्याण और गृहस्थी का सुख। ”[2] ‘ अपने–अपने चेहरे ’ की रमा जानती है कि समाज की नज़र में औरत केवल भोग्या है, वस्तु है। वह कहती है,

“ समाज वस्तुओं को मापता–तौलता है। समाज की नज़र में औरत वस्तु है न . . . भोग्या है। ”[3] ‘ छिन्नमस्ता ’ के नरेन्द्र के विचार में पत्नी प्रिया ‘ चीज़ ’ मात्र है। वह

---

[1] डॉ० अमर ज्योति, महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारीवादी दृष्टि, पृ– 59-60

[2] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–128

[3] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ–191

कहता है, “ प्रिया, नहीं, तुम मेरी चीज़ हो . . . लोग इतनी अच्छी चीज़ को देखकर लार टपकाएँ, इसके पहले मुझे स्वाद चकने दो! ”[1]

नारी को लेकर पुरुष के मन में उपयोगिता की जो मानसिकता है, वह ‘ अल्मा कबूतरी ’ उपन्यास में भी व्यक्त हुआ है। इस उपन्यास में सूरजभान के द्वारा बंदी हुई अल्मा की तुलना गाय से की गई है, “ अब तो वह चुपचाप बाँधने को तैयार हो जाती है। अरे सुरू–सुरू में तो पराए खूँटे पर गाय बिदकती ही है। फिर सानी–पानी खाकर दुरुस्त।

–– आगे कहो, मालिक को दूध भी देने लगती हैं। ”[2]

पुरुष के प्रति स्त्री की दृष्टि में भी पर्याप्त अंतर समकालीन नारीवादी लेखिकाओं के उपन्यासों में देखा जा सकता है। पुरुष को उपयोगिता की नज़र से देखनेवाली नारियों का भी अभाव नहीं है। पति को आधिकारिक बलात्कारी माननेवाली ‘ आवाँ ’ की गौतमी के जीवन में पति का स्थान बिलकुल नगण्य है। वह पति की तुलना घर की वस्तुओं से करती है। वह नमिता से कहती है, “ मां के अलावा घर में मेरा एक अदद पति है–नाम है अशोक। ठीक उसी तरह घर में अलमारी है, फ्रिज है, वाशिंग मशीन है, डिशवाशर है। जितना वो मेरे लिए काम आती हैं, बदले में मैं उनकी देखभाल करती हूँ–अशोक के साथ भी मेरा यही रिश्ता है! शेष मैं क्या हूँ, कहां जाती हूँ, किसके

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–134

[2] मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ–293

साथ सोती हूँ, सोना चाहती हूँ, सोती भी हूँ या नहीं सोती हूँ–कोई मतलब नहीं उससे! घर मेरा है। अशोक को रहना है, रहे; न रहना हो, छोड़कर चला जाए। ”[1]

‘ कठगुलाब ’ की असीमा के विचार में प्रत्येक पुरुष स्पर्म प्रदान करनेवाला एक जीव मात्र है। असीमा का यह विचार नीरजा विपिन को याद दिलाती है। विपिन उससे पूछता है,

“ मैं तुम्हारे लिए स्पर्म से ज़्यादा कुछ नहीं हूं ”

इस पर नीरजा कहती है,

“ मिस्टर विपिन मजूमदार,............असीमा ने आपको ज़रूर बतलाया होगा कि कोई भी मर्द इससे ज़्यादा कुछ नहीं होता। ”[2]

‘ आवाँ ’ की स्मिता सुख तथा मनोरंजन के लिए भी सेक्स् संबंध रखना चाहती है। वस्तुतः यह मुक्तिकारी सेक्स् की नई अवधारणा है। स्मिता अपनी काम–पूर्ती के लिए कामुक को आमंत्रित करती है।

“ अंऽऽ . . . एक शाम मैंने शरत को फोनकर कहा, ‘ शरत! बड़ी ज़ोर से तुम्हें प्यार करने का जी हो रहा। चलो, कहीं किसी होटल में एक सस्ता–सा कमरा लेकर मिलते है . . . ”

“ ....

.... ”

---

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–361

[2] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–233

मैंने कहा, जहाँ तुम उचित समझो। पैसे की चिंता बिलकुल न करना। जो भी बिल आएगा, मैं भरूँगी। ''[1] यहाँ पुरुष से स्त्री का मतलब केवल अपनी कामपूर्ती तक है। स्पष्ट है यह नवउपनिवेशवादी संस्कृति का असर है। इस संबंध में प्रभा खेतान के कथन पर ध्यान देना संगत होगा, '' स्त्री आज उपभोक्ता संस्कृति की शिकार है। अतः सेक्स् को भी वह भोगना चाहती है। इस संदर्भ में वह प्रयोगधर्मी है। वह भी समझ रही है कि जीवन में एक बार एड्स जैसी घातक बीमारियों पर नियंत्रण मिल जाए तो यौनिकता व्यक्ति के निजी अधिकार में रहेगी। किसी भी सामाजिक हस्तक्षेप की सुनवाइ नहीं होगी। यौन मुक्ति की माँग एक तरह से पुरुष की भाँति स्त्री को भी इतना भोगवादी बना देती है कि स्त्री–पुरुष दोनों एक–दूसरे का उपयोग करने लगते हैं। ''[2]

स्त्री–पुरुष रिस्तों में स्थिरता का अभाव इस समय के उपन्यासों का एक अन्य कथ्य है। ' आओ पेपे घर चलें ' की आइलिन कहती है, '' रोज़र मेरा पाँचवाँ प्रेमी है। कुल मिलाकर मेरे जीवन में दो पति और पाँच प्रेमी। ''[3] ' आवाँ ' की स्मिता प्रत्येक दिन प्रेमी बदलता है,

'' विक्रम . . . विक्रम कौन? ''

'' मेरा नया दोस्त! बहुत दिनों से तुझसे बात नहीं कहाँ हुई। ''

'' शरत से मित्रता खतम?''

'' खत्म ही समझ। बेवकूफ है साआऽऽला जाहिल . . . ''

'' कल तक तो नहीं था? ''

---

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–204

[2] प्रभा खेतान, बाज़ार के बीच : बाज़ार के खिलाफ, पृ–182-83

[3] प्रभा खेतान, आओ पेपे घर चलें, पृ–18

“ विक्रम आज का सच है। ”[1]

इसप्रकार नवउपनिवेशवादी संस्कृति का गहरा प्रभाव स्त्री–पुरुष संबंधों में और स्त्री के सेक्स् जीवन में दिखाई देता है। उपभोक्तवादी संस्कृति ने स्त्री शोषण का जो नया दायरा खुला है, उसमें प्रमुख है विज्ञापन क्षेत्र।

नारी देह–विज्ञापन और बाज़ार

भूमण्डलीकरण का आधार बाज़ारवाद में निहित है। भूमण्डलीकरण ने समूचे संसार को एक बाज़ार बनाया है। बाज़ार का लक्ष्य हमेशा माल की अधिकाधिक बिक्री और अधिकाधिक आर्थिक लाभ है। विज्ञापन बाज़ारवादी समाज का अभिन्न अंग है। माल की बिक्री के लिए स्त्री शरीर का भरपूर इस्तेमाल आजकल विज्ञापनों में किया जा रहा है। महत्वाकांक्षी स्त्री प्रतिष्ठा के मोह में इस विज्ञापन संस्कृति के शिकार होने में देर नहीं लगती। यह सर्वविदित है कि मीड़िया विज्ञापन और बाज़ार का अभिन्न संबंध है। मीडिया बाज़ार की सबसे तेज़ हथियार है। स्त्री–शरीर को मीडिया ने एक प्रदर्शन वसु के रूप में तब्दील कर दी है। चीज़ कुछ भी हो बिकने के लिए स्त्री–शरीर का इस्तेमाल मीडिया के ज़रिए होते हैं। इस संबंध में प्रभा खेतान का कथन उल्लेखनीय है, “ सुनने में बड़ी अजीब बात लगती है कि स्त्री–देह का उपभोग हो रहा है। वह प्रदर्शन की वस्तु बनती जा रही है। लेकिन यह एक कडुवा सच है। मीडिया की सहायता से स्त्री अपने देह के हर हिस्से का, अंग–प्रत्यंग का प्रदर्शन करती है। गाड़ी, फ्रिज, शैंपू–साबुन, क्रीम–पउडर, टायर, पान–पराग मसाले, कपडे, जूते, ट्रक,

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ –204

मोटरसाइकिल, लोहा–लक्कड़ तक सभी चीज़ों को बेचने में मीडिया स्त्री का इस्तेमाल करती है। ''[1]

विज्ञापन जगत का नारी–शोषण और बाज़ारवाद को बढ़ावा देने के लिए स्त्री देह की उपयोगिता जैसे विषय समकालीन नारीवादी लेखिकाओं के लिए अछूता नहीं रहा है। इस क्षेत्र में होनेवाले शोषण से वे पूर्णतया वाकिफ हैं। विज्ञापन की चकाचौंध भरी दुनिया का चित्रण चित्रा मुद्‌गल के उपन्यासों में ही सबसे अधिक हुआ है। विज्ञापन जगत के बारे में ' एक ज़मीन अपनी ' की अंकिता के विचार में इस क्षेत्र के सारे लक्षण निहित है। अंकिता का विचार ऐसा है कि, '' यह ग्लैमर की दुनिया है और यहाँ का समस्त कार्य–व्यापार बेईमानी और सेक्स् के बूते पर चलता है . . . ''[2] अंकिता जानती है कि विज्ञापन जगत में स्त्री वस्तु मात्र है। वह सोचती है, '' यहाँ कूटनीति और जोड़–तोड़ इस उद्योग की शिराओं में बहने लगी है। झपटो, मारो, खाओ उसका स्वभाव हो गया है। इन्हीं दुर्बलताओं का लाभ उठाकर स्त्री को वस्तु समझनेवाले सक्सेना जैसे कामुक कुटिल खाते एजंसियों को अपनी उंगलियों पर नचाते हैं और स्त्रियों का शोषण करते हैं। ''[3]

स्त्री–नग्नता का प्रदर्शन माल की बिक्री बढाने की अच्छी तरकीब है। फिल्मों और विज्ञापनों में सब कहीं स्त्री–नग्नता का प्रदर्शन हो रहा है। अंकिता को इस बात को लेकर हँसी आती है कि पोशाकों के प्रचार के लिए बनाई गई फिल्म में भी पोशाकें नहीं हैं। अंकिता जानती है कि ऐसे विज्ञापन लडकियों के सामने गलत आदर्श

---

[1] प्रभा खेतान, भूमण्डलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र, पृ–232

[2] चित्रा मुद्‌गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–222

[3] वही, पृ–94

ही प्रस्तुत करते हैं। इन विज्ञापनों के प्रभाव में आकर लड़कियाँ भी अपने आप को सिर्फ मांस के टुकटों में परिवर्तित करती हैं, “ हम किसे पहनाना चाहते हैं ये पोशाकें फैशन और आधुनिकता की आड़ में? इन्हीं का असर है कि पार्टियों में उसने युवतियों को बाकायदा होड़ करते पाया है कि आज की शाम कौन कम–से कम कपड़े पहनकर लोगों की दृष्टि में आकर्षण का केंद्र बनेगा! लोगों की दृष्टि में आकर्षण का केंद्र या गिद्ध दृष्टियों के बीच मांस का टुकड़ा! ”[1] किन्तु इसी उपन्यास की नीता उपनिवेशवादी संस्कृति के शिकार हो चुकी है। इस प्रकार के कपड़े पहनने में वह कोई संकोच या अश्लील भाव से ग्रस्त नहीं है।

‘ अल्मा कबूतरी ’ का केहर सिंह शराब की बिक्री बढाने के लिए स्त्री की ‘ सुन्दरता ’ का उपयोग करना चाहता है। वह कदमबाई से कहता है, “ अच्छी चीज़ को आदमी देखता है कि वह सुंदरता ही उसकी नज़रें जबर्दस्ती खींच लेती हैं? मैं ही नहीं उसे सब देखेंगे–– गाँवों के बूढ़े, जवान, लेखपाल–पटवारी, ढोर डॉक्टर, सेसा का कंपाउंडर, मोंठ और पूँछ की थाने–चौकी के सिपाही, दरोगा, रईसों के रईस, रंक से रंक। हमारे ठेके का हर ग्राहक। ”[2]

बाज़ारवादी संस्कृति ने स्त्री शरीर का पदार्थीकरण किया है। महत्वाकांक्षा की होड़ में स्त्रियाँ अनजाना ही पुरुष द्वारा नियंत्रित बाज़ारी व्यवस्था के शिकार बन जाती हैं। स्त्रियों की काम भावना भी आज बिकने की चीज़ है। हाल ही में फ्राँस के राष्ट्रपति की बीवी कर्ला ब्रूणी की नग्न तस्वीरें ९१ हज़ार यू.एस डॉलर में नीलम किए गए।[3] ब्लू फिल्म धंधे को अपना कर्म–क्षेत्र बनानेवाली नारियों का भी अभाव नहीं है। अमरीका

---

[1] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–105

[2] मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ–226

[3] The Times Of India, dated 12 April, 2008

जैसे देशों में ब्लू फिल्मों में स्त्री–शरीर का प्रदर्शन होती है। ‘ छिन्नमस्ता ’ में इसका ज़िक्र है, “ और उसके बाद टाइम्स स्क्वायर की दाहिनी गली में ब्लू फिल्म देखना। सेक्स् की जीवंत कलाबाजियों का वह भौंड़ा प्रदर्शन! . .

. . . .

औरत के शरीर का बेहूदा प्रदर्शन देखकर क्या कोई औरत उत्तेजित हो सकती है? शायद होती हो। शायद मैं ही कहीं गलत हूँ। ”[1] राजकिशोर के शब्दों में, “ काम भावना का व्यवसायिक इस्तेमाल स्त्रियों के विरुद्ध जाता है, किंतु स्त्रियों ने इस तथ्य को अच्छी तरह नहीं समझा है। अतः वे भी कामुकता की इस संस्कृति को तरह–तरह से अपना अर्घ्य दे रही है। ”[2]

आज स्त्री की कोख एक अच्छा निवेश है। ‘ आवाँ ’ की अंजना वासवानी नमिता को नौकरी की तनख्वाह में से अग्रिम देकर कहती है, “ यह सब मैं तुम्हें दान में नहीं दे रही हूँ, नमिता! तुम्हारी मेहनत से इसका प्रतिशत वसूल होगा। यह तो निवेश है मेरा . . . निवेश! ”[3] अंजना का निवेश है नमिता अथवा उसकी कोख। आज बच्चा पैदा करना भी सौदा बन गया है। इस सौदे के बारे में संजय नमिता से कहता है, “ जानती हो? बाप बनने के लिए मैंने तुम्हारे ऊपर कितना खर्च किया? उस मामूली औरत अंजना वासवानी की औकात है कि तुम्हारे ऊपर पैसा पानी की तरह बहा सके? उसका जिम्मा सिर्फ इतना–भर था कि वह मेरे पिता बनने में मेरी मदद करे और सौदे

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–152

[2] राजकिशोर, स्त्री–पुरुष कुछ पुनर्विचार, पृ–112-13

[3] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–201

के मुताबिक अपना कमीशन खाए। वह ऐसी पचासों लड़कियों को परोस सकती थी, जो मुझसे यौन–संबंध कायम कर केवल पचहत्तर हज़ार में मुझे बाप बना सकती थीं . . . ”

“ मैं रंड़ियों से बाप नहीं बनना चाहता था, जिनके लिए बच्चा पैदा करना महज सौदा–भर हो और जो अनेकों से सौदा कर चुकी हों –– मुझे नहीं गवारा थी ऐसी किराये की कोख! मुझे सिर्फ उस लड़की से औलाद चाहिए थी जो पेशेवर न हो . . . पवित्र हो, जो मुझसे प्रेम कर सके। सिर्फ मेरे लिए माँ बने! सिर्फ मुझसे सहवास करे . . . हमारा मिशन सफल रहा . . . ”[1]

इसमें कोई संदेह नहीं है कि नवउपनिवेशवादी संस्कृति ने स्त्री के यौन वस्तुकरण को बढावा दिया। बाज़ार के नए दाँव–पेंचों को समझने में स्त्री कुछ असमर्थ ही दिखाई देता है। यद्यपि स्त्री को सबलीकृत करने में भूमण्डलीकरण कुछ हद तक सहायक सिद्ध हुआ, मगर स्त्री को भूमण्डलीकृत संस्कृति के कारण लाभ की तुलना में हानी ही अधिक हुई है। जब इस बाज़ार व्यवस्था ने उसके लिए कुछ नए आयामों और अवसरों की सृष्टि की, वहाँ दूसरी ओर शोषण के नए आयामों को भी खुला और इन आयामों में सबसे प्रमुख है स्त्री–देह का वस्तुकरण। समकालीन महिला लेखिकाओं के उपन्यासों में उपनिवेशवादी संस्कृति की जटिल समस्याओं को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का परिश्रम हुआ है।

---

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–539

उनमुक्त काम की अवधारणा

भूमण्डलीकरण की संस्कृति ने लैंगिक संबंधों में नये आदर्शों को नारी के सामने प्रस्तुत किया। पाश्चात्य देशों में प्रचलित ‘ लीविंग टुगेदेर ’ जैसी शैलियों का प्रचार भारत में भी हुआ। बिना शादी के स्त्री–पुरुष साथ रहने लगे। विवाहेतर संबंधों में काफी वृद्धि हुई। प्रभा खेतान के शब्दों में “ मगर भूमण्डलीकरण के दौर में विवाह से यौनिकता विछिन्न हो गई है। स्त्री की यौनिकता और स्त्री–पुरुष की समलैंगिकता के कारण क्रमशः परिवार और कामना में एक दूरी आई है। इससे यौन मुक्ति घटी नहीं है बल्कि अधिकतर लोगों के जीवन में विवाहेतर संबंधों की संख्या दिन पर दिन बढ़ रही है। इसे भोगवादी यौनिकता कहा जाएगा। ”[1]

समकालीन महिला लेखिकाओं के उपन्यासों में इस तरह के उनमुक्त काम भावना चर्चा का विषय रहा है। पाश्चात्य देशों में ‘ लिवींग टुगेदर ’ जैसी जीवन शैली को लोग एक ‘ वे ऑफ लईफ ’ के रूप में ही स्वीकारते हैं। नासिरा शर्मा के उपन्यास ‘ ठीकरे की मंगनी ’ का रफत अमरिका में पढ़ाई के दौरान वालैरी के साथ जीने लगता है। वालैरी के साथ के अपने संबंध को रफत भी ‘ वे ऑफ लईफ ’ मानता है।

‘ सात नदियाँ एक समंदर ’ की फरहा एक खूँटे से बँधकर जीने के लिए तैयार नहीं है। जीवन में विवाह की आवश्यकता को लेकर उसके मन में संदेह है। वह कहती है, “ अब मेरे पास सब कुछ है, पैसा, मर्द, नौकरी ; मगर घर नहीं है . . . घर था माँ–बाप का, मगर बड़े होकर जो घर बनता है, वह अपना कहलाता है। उसकी इच्छा अब भी है, मगर घर बनाने की उमंग कहीं खो गई है। कभी–कभी विवाह की बात सोचती भी हूँ, तो लगता है, क्या उसकी आवश्यकता वास्तव में मुझे है! सब कुछ

---

[1] प्रभा खेतान, बाज़ार के बीच : बाज़ार के खिलाफ, पृ–182

तो है मेरे पास। फिर एक खूँटे से बँधकर करूँगी भी क्या! खूँटे का भी कल क्या भरोसा! ''[1]

' एक ज़मीन अपनी ' की नीता सुधीर के साथ के अपने संबंध को आदर्श मानती है। वह अपने आप को पत्नी नहीं सहचरी के रूप में देखती है। '' मैं पत्नी नहीं, सहचरी बनना चाहती हूँ। उस कोने को ढेरों फूलों से भरती उसकी जीवन–सहचरी! पत्नी शब्द में मुझे दासीत्व की बू आती है . . . इस शब्द ने हमारे समाज में अपनी गरिमा खो दी है। ''[2] ' माई ' उपन्यास के सुबोध और सुनैना दोनों ' लीविंग टुगेदर ' जैसी पाश्चात्य शैली से प्रभावित है। सुबोध जूडिथ, रीतिका आदि लड़कियों के साथ संबंध रखते हैं जबकि सुनैना का संबंध विक्रम और एहसन के साथ है।

' आवाँ ' की डॉ० वनजा उन्मुक्त काम संबंधों की आलोचना करती है। उनमुक्त काम संबंधों के कारण गर्भ की सफाई की संख्या भी आजकल बढ़ रही है। वह कहती है, '' ऊब गई हूँ मैं लड़कियों की इन नादानियों से। एसे पैसों की ज़रूरत नहीं इस नर्सिंग होम को। सौ में से प्रत्येक पाँच लड़की स्वतंत्र यौन–संबंधों में अपना वजूद तलाश रही। समता तलाश रही। अधिकार तलाश रही। तलाश लिया? पा लिया? चली आती है कहानियाँ लेकर –– कंडोम इस्तेमाल कर रही थी, एक दिन की लापरवाही में फँस गई, डाक्टर साहब! फिर मुझे बच्चा नहीं चाहिए तो सफाई करने में आपको परेशानी? कानूनन छूट है। ''[3]

---

[1] नासिरा शर्मा, सात नदियाँ एक समंदर, पृ–80-81

[2] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–199

[3] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–500

देह संबंधी अवधारणाएँ

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में ऐसी नारियों का चित्रण उपलब्ध है जो हर हालत में अपने शरीर पर अपना हक बरकरार रखना चाहती है। पुरुष द्वारा निर्धारित स्त्री देह संबंधी मान्यताओं का वे उल्लंघन करती है। अपने अधिकार की स्थापना करने के लिए, अपनी मंज़िल तक पहूँचने के लिए अपने ही शरीर का इस्तेमाल करनेवाली नारियों का भी अभाव नहीं है। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास ' अल्मा कबूतरी ' की भूरी विद्या रतन के आगे शरीर को तुच्छ मानती है। अपने बेटे को पढ़ाने के लिए वह अपना शरीर बेचती है।

" भूरी ज़िद्दिन थी, बोली– मैं किसी मर्द की बाँह पकड़कर क्या रामसिंह के बाप को भूल पाऊँगी? भूल भी जाऊँ तो उसकी कही बात नहीं भूल पाऊँगी। बात नहीं भूल पाऊँगी सो बिरादरी के चलते पाप करती ही रहूँगी। जिस दिन रामसिंह ने बाप का लाल खून नीली स्याही में बदलकर अपने हक में चार आँक लिख लिए, समझूँगी मुझमें राई भर कलंक नहीं। विद्या रतन के आगे देह का खजाना कुछ भी नहीं . . .। "

. . . .

उसने समझ लिया मद को और खुद को लुटाना ज़रूरी है। राह पगडंडियों के, खेतों–मैदानों के, गाँवपुरा के मालिकों की भूख नहीं रहेगी तो हम भी नहीं रहेंगे। खर्पतवार की तरह उखड़कर, सुखाकर जला दिए जाएँगे। विद्या का दामन थामा है तो बेबसी और बदरंगतों से गुज़रना होगा। माँ के घावों पर जैसे रामसिंह की छोटी–छोटी उँगलियों ने स्याही लेप दी हो। कटे–फटे बदन के चलते भी मोरनी–सी नाची फिरती। समय जाँच

रहा था-- औरत में कितनी ताकत है। भूरी समझ रही थी-- बेटे का उजाले-भरा रास्ता माँ की देह से गुज़र रहा है। ''[1]

मैत्रेयी का अन्य उपन्यास ' झूला नट ' की सीलो अपने पति के उपेक्षा भाव और दूसरी स्त्री से विवाह करने का बदला लेने के लिए अपने शरीर को एक हथियार बनाती है। बालकिशन उसके हाथ का कठपुतला बन जाता है। उसका इरादा तब स्पष्ट हो जाती है जब वह सुमेष से कहती है कि '' बालकिशन तो ऐसा ही है हमारे लिए, जैसे तुम्हारे लिए तुम्हारी दूसरी औरत। बिनब्याही, मनमर्जी की। सच मानो बालकिशन भी इससे ज़्यादा कुछ नहीं। ''[2]

अपने देह और उसकी आवश्यकता के अधिकारों को लेकर नारी काफी सजग हो गई है। पति से काम-संतुष्टि न मिलने पर वह अपनी असंतुष्टि खुलकर स्पष्ट करने से कतराती नहीं। ' अकेला पलाश ' की तहमीना पति से दैहिक सुख न मिलने पर कहती है, '' देखो, तुम मेरे शरीर के साथ जो खिलवाड़ करते हो, मेरे शरीर की इच्छाओं को जगा देते हो और उन इच्छाओं की माँग को तुम पूरा नहीं कर सकते, तब तुम मेरे पास आते क्यों हो? इससे तो अच्छा है तुम मेरे पास आया ही न करो। मैं तुम्हारी पत्नी ज़रूर हूँ, और समाज ने मेरे शरीर के साथ हर प्रकार का खिलवाड़ करने की आथर्टी तुमें दे रखी है, इसका यह मतलब नहीं कि तुम रोज़ मुझे मारो, रोज़ मेरी मृत्यु हो। बोलो, मैं कितनी परेशान हो जाती हूँ। आज से तुम मेरे पास आया न करो और हमारा पति-पत्नी का संबंध भी खत्म समझो। ''[3]

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ-74-75

[2] मैत्रेयी पुष्पा, झूला नट, पृ112

[3] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ-81

विधवा की भी देह संबंधी आवश्यकताएँ हैं। विधवा होने से काम का मोह नहीं मिटती। ‘ इदन्नमम ’ की मंदाकिनी मानती है कि विधवा का जीवन भी अन्य स्त्रियों की तरह दैहिक–मानसिक तंतुओं से ही बनता है। वह जानती है कि अन्य स्त्रियों की भाँति विधवा की भी शारीरिक भूख होती है और विधवा होने से भूख का स्रोत सूख नहीं जाती। मैत्रेयी के ‘ चाक ’ की रेशम विधवा और विधुर के मामले में जो दोहरा मानदण्ड है, उसकी आलोचना करती है। वह अपनी सास से कहती है,

“ मईयो! तुम मेरे पीछे क्यों पड़ गई हो! मेरे चालचलन की झंडी फहराना ज़रूरी है? बिरथा ही छानबीन करने में लगी हो। आज को तुम्हारा बेटा मेरी जगह होता तो पूछतीं कि तू किसके संग सोया था? अब उसकी बाँह गाह ले। मेरे मरे पीछे तेरहीं तक का भी सबर न करता और ले आता दूसरी। तुम खुश हो रही होतीं कि पूत की उजड़ी ज़िंदगी बस गई। पर मेरा फज़ीता करने पर तुली हो। ”

. . . .

“ रेशम भोले भाव बोली, ‘ अम्माँ, तुम तो बिरथा ही दाँत किटकिटा रही हो। तुम्हारे पूत की चिता ठंडी हो जाने से क्या मेरी देह की आग बुझ जाती? जीतों–मरतों का भेद भी भूल गईं तुम? बेटा के संग मैं भी मरी मान ली? ”[1]

स्त्री–देह से जुड़ी एक अहम समस्या है स्त्री की माहवरी संबंधी समस्या। माहवरी के समय हमारे समाज में स्त्री को अशुद्ध मानी जाती है। इस समय स्त्री भी अपने मन में एक प्रकार का पापबोध अनुभव करती है। सिमोन द बुआर के अनुसार,

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–19

" यह ठीक है कि आज स्त्री–शिक्षा के कारण समय बदल गया है, फिर भी समाज, परम्परा, और धर्म रजस्वला स्त्री को ग्लानी की भावना दिए बिना नहीं मानते। स्त्री अपने आप को इसप्रकार धोती है, मानो अपना पाप धो रही है। पाप की इस भावना के साथ लड़की प्राय: दूसरों से छिपने लगती है। "[1]

प्रभा खेतान की ' छिन्नमस्ता ' में माहवरी के समय लड़की जो मानसिक यंत्रणा का अनुभव कर रही है, उसका ज़िक्र किया गया है। प्रिया को एक बार बाबूजी की वरषोदी के समय माहवरी हो जाती है। माँ की नज़र में यह एक जुल्म है। फलस्वरूप इसके प्रिया के मन में एक अपराधबोध है। माँ प्रिया को एक कमरे में बंद कर लेती है। प्रिया सोचती है, " इसमें मेरा अपराध क्या है अम्मा? तुम बोलो मेरा अपराध क्या है? पर बिना अपराध के भी अपराध बोध। और यह कैसी निर्मम सजा मुझे मिल रही है? दूसरे दिन, सुबह दस से शाम पाँच तक पीछेवाले बरामदे में बंद रहना पड़ा। "[2] इसप्रकार बंदी बनाना स्त्री के मन में एक प्रकार की आत्मग्लानी को जन्म देती है। " वह भादों की उमस भरी दुपहरिया और चुपचाप बैठे रहना। सारा अस्तित्व हिचकोले खा रहा था। अम्मा मेरा अपराध क्या है? क्या महीने के महीने टाँगों के बीच रिस्ता हुआ खून मुझे अच्छा लगता है? और इसके कारण कैसी अजीब–सी आत्मग्लानि, अपराधबोध, यंत्रणा? "[3]

---

[1] सिमोन द बुआर, The Second Sex, स्त्री उपेक्षिता , अनुवादक– प्रभा खेतान, पृ–145

[2] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–49

[3] वही, पृ–50

निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि काम एवं नैतिकता संबंधी अवधारणाओं की चर्चा समकालीन महिला लेखिकाओं के उपन्यासों का अभिन्न अंग है। इस समय की लेखिकाओं ने पुरुष द्वारा निर्धारित नैतिकता के सिद्धांतों की आलोचना की है और नैतिकता के दोहरे मापदण्डों के विरुद्ध अपना गहरा असंतोष भी प्रकट किया है। यौन–क्रियाओं के खुले चित्रण प्रस्तुत करके नैतिकता के प्रचलित मान्यताओं को चुनौती देने का प्रयास भी दृष्टव्य है। घर और समाज में होनेवाले नारी यौन शोषण के विभिन्न आयाम भी इस समय की लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। पुरुष की कपट नैतिकता के पर्दाफाश करने में इस समय की नारी लेखिकाएँ सफल साबित हुई हैं। नारी जीवन से संबंधित समलैंगिकता, विवाहेतर संबंध जैसे विषयों को भी कथ्य बनाने का कार्य उनकी साहसिकता का प्रमाण है। नवउपनिवेशवादी संस्कृति ने नारी के सेक्स् जीवन को काफी जटिल बनायी है। भूमण्डलीकरण के समर्थक शोषण के नए–नए हथियार लेकर उपस्थित है। इस जटिल स्थिति का आंकन भी समकालीन नारीवादी लेखिकाओं के उपन्यासों में हुआ है।

देह की मुक्ति स्त्री विमर्श का महत्वपूर्ण मुद्दा है इसलिए समकालीन नारीवादी लेखिकाओं ने स्त्री देह संबंधी मान्यताओं में परिवर्तन की माँग की है। वे स्थापित करना चाहती है कि स्त्री का शरीर पर सिर्फ स्त्री का ही अधिकार है।

अध्याय–4

नारीवादी उपन्यास और कामकाजी महिला

अध्याय–4

नारीवादी उपन्यास और कामकाजी महिला

स्वतंत्रता के पश्चात् नारी–शिक्षा के प्रसार ने भारतीय नारी–जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। स्त्री ने अपने स्वत्वबोध को पहचान लिया। जीवन में आत्मसम्मान के साथ जीने की प्रेरणा शिक्षा से उसे मिली। आत्मनिर्भर बनने के मोह ने स्त्री को घर की चारदीवारी से निकालकर बाहर ला दिया। आज नारी आत्मनिर्भरता को अपने व्यक्तित्व के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार करती है। आज वह मानती है कि आत्मनिर्भरता स्वतंत्रता की पहली और अधारभूत शर्त है। स्वावलंबन की स्थिति भी नारी के सामाजिक जीवन में गंभीर परिवर्तन लायी। कामकाजी महिलाओं का एक नया वर्ग बन गया। शुरु में यह वर्ग केवल महानगरों में ही सीमित था किन्तु धीरे–धीरे छोटे शहरों और कस्बों में भी इस वर्ग का आविर्भाव हुआ। प्रारंभिक दौर में कामकाजी महिलाओं की भूमिका अध्यापन, चिकित्सा जैसे विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित रही थी किन्तु आज ऐसा कोई क्षेत्र नज़र नहीं आता जिसमें महिलाओं ने अपनी दक्षता का परिचय न दिया हो।

हिन्दी स्त्री–विमर्श में प्रथम बार स्त्री और उसकी आत्मनिर्भरता के बारे में विचार–विमर्श करने का श्रेय महदेवी वर्मा को प्राप्त है। उसके अनुसार भारतीय नारी के जीवन की सबसे बडी समस्या आर्थिक है। भारतीय नारी किस हद तक परमुखापेक्षिणी है, इसका वास्तविक चित्रण उसके लेखों में मिलता है। स्त्री के व्यक्तित्व विकास में शिक्षा के महत्व उसने पहचान लिया था। स्वतंत्रता के लिए आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी होना निहायत ज़रूरी है। क्योंकि स्वावलंबन का भाव भूलनेवाला व्यक्ति अपने सामाजिक

व्यक्तित्व की रक्षा करने से चूकता है, " किसी भी सामाजिक प्राणी के लिए ऐसी स्थिति अभिशाप है जिसमें वह स्वावलंबन का भाव भूलने लगे, क्योंकि इसके अभाव में वह अपने सामाजिक व्यक्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता। "[1]

हिन्दी उपन्यासों में कामकाजी महिला के जीवन और उनकी समस्याओं का चित्रण साठ के बाद ही दिखाई देता है। इस समय के नारी केन्द्रित उपन्यासों में आत्मनिर्भर बनने के लिए नारी द्वारा किए गए संघर्ष का चित्रण उपलब्ध है। आर्थिक रूप से स्वतंत्र, स्वावलंबी नारी और उसकी अस्मिता को इस समय की लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों का कथ्य बनाया। स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता नारी के पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन लायी। किन्तु नारी के स्वावलंबी होने के साथ–साथ कामकाजी महिलाओं के सामने नई–नई समस्यायें भी उत्पन्न हुई। पहले तो उसका कार्यक्षेत्र केवल घर तक सीमित था और जब वह नौकरी के लिए घर से बाहर निकली तो शोषण के नए–नए आयाम भी प्रकट होने लगे।

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में कामकाजी महिला के जीवन उसके समूचे यथार्थ और सारी जड़िलताओं के साथ चित्रित है। समकालीन नारीवादी लेखिकाओं ने कामकाजी नारी के जीवन को बडी गहराई से छानबीन करने की कोशिश की है। घर के अंदर और बाहर स्त्री की भूमिका, आत्मनिर्भरता का महत्व, कामकाजी नारी का व्यक्तित्व, समाज और पुरुष की नज़र में कामकाजी नारी, कामकाजी नारी का यौन तथा आर्थिक शोषण, कामकाजी नारी और सहकर्मी जैसे मुद्दों पर उन्होंने अपने उपन्यासों में बड़ी संजीदगी से विचार किया है। भूमण्डलीकरण ने कामकाजी नारी के जीवन को काफी जटिल बनाया है। जहाँ एक ओर उसके सामने

[1] महादेवी वर्मा, महदेवी साहित्य समग्र–3(लेख का नाम–हमारी श्रृंखला की कड़ियाँ) पृ–348

नए–नए अवसर उपस्थित हुए तो वहाँ दूसरी ओर शोषण के नए–नए रूप भी प्रकट होने लगे। इस विषय पर भी इस समय की लेखिकाओं ने अपना विचार प्रकट किया है।

श्रम का विभाजन

पितृसत्तात्मक समाज ने श्रम का विभाजन कुछ इस प्रकार किया है जिससे स्त्री पर उसका अधिकार और नियंत्रण सुरक्षित रहे। उत्पादक श्रम जिससे अर्थ–प्राप्ति होती है वह पुरुष के लिए तथा घरेलू श्रम जिससे अर्थ–प्राप्ति नहीं होती वह स्त्री के लिए इसी क्रम में श्रम का विभाजन किया गया है। उत्पादक श्रम की तुलना में घरेलू श्रम को गौण माना गया है। पुरुष अपनी कमाई के बल पर पूरे परिवार को अपने नियंत्रण में रखता है जिससे परिवार के अंदर स्त्री की अधीनस्थता की स्थिति बरकरार रही है। विख्यात दार्शनिक फ्रेडरिख़ एंगेल्स स्त्री की अस्वतंत्रता का मूल कारण श्रम के इस प्रकार के विभाजन में देखते हैं। उनके विचार में, " यहाँ हम अभी भी साफ़–साफ़ यह बात देख सकते हैं कि जब तक स्त्रियों को सामाजिक उत्पादन के काम से अलग और केवल घर के निजी कामों तक सीमित रखा जाएगा, तब तक स्त्रियों की स्वतंत्रता और पुरुषों के साथ बराबरी का हक पाना असंभव है और असंभव ही रहेगा। स्त्रियों की स्वतंत्रता केवल तभी संभव होती है जब वे बड़े पैमाने पर, सामाजिक पैमाने पर उत्पादन में भाग लेने में समर्थ होती हैं और जब घरेलू काम उनसे बहुत कम ध्यान देने की माँग करते हैं। "[1]

घर के 'अंदर ' के कामों में गृहस्थी और संतान–पालन मुख्य है। लेकिन जिन कामों से आर्थिक लाभ नहीं होती उसे ' काम–काज ' की संज्ञा देने के लिए पितृसत्तात्मक समाज तैयार नहीं है। घर के अंदर स्त्री जो काम करती है उसे ' कर्तव्य ' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। श्री पूरनचंद्र जोशी के शब्दों में, " पुरुष काम

[1] फ्रेडरिख़ एंगेल्स, परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति–अनुः–नरेश ' नदीम ', पृ–173

करते और कमाकर लाते दिखाई देते हैं जबकि स्त्रियाँ काम और कमाई करती नज़र नहीं आतीं। उनके घरेलू काम को तो काम माना ही नहीं जाता, कमाकर लाने के लिए घर के बाहर जाकर किये जाने वाले उनके काम को भी – चाहे वह खेती हो या पशुपालन, मज़दूरी हो या नौकरी – पुरुषों के द्वारा किये जाने वाले उनके काम की तुलना में बहुत कम महत्वपूर्ण माना जाता है। इसलिए यह तथ्य आँखों से ओझल हो जाता है कि स्त्रियाँ कितना और कितनी तरह का काम करती हैं! ”[1]

हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों में नारी–जीवन का चित्रण परिवार के प्रसंग में ही अधिक होता था। पुरुष द्वारा निर्धारित घरेलू श्रम के निर्वाह करनेवाली नारियों को आदर्श गृहिणी की संज्ञा दी जाती है। नारियों द्वारा लिखित उपन्यासों में भी आदर्श माता, आदर्श पत्नी जैसे नाम ‘ घर के अंदर ’ के काम सुचारू ढंग से करने वाली नारियों को ही दिया गया था। श्रम के इस विषम विभाजन की ओर नारी लेखिकाओं का ध्यान साठ के बाद ही आकर्षित हुआ। समकालीन उपन्यासों में चित्रित नारियाँ पहचानती हैं कि श्रम के इस विषम विभाजन का मूल उद्देश्य उसके कर्म–क्षेत्र को केवल घर के अंदर सीमित रखना है तथा आर्थिक सुविधा से उसे हमेशा के लिए वंचित रखना है। जिसके फलस्वरूप वह हमेशा पराश्रिता ही बनी बनी रहेगी।

पुरुष काम करके धन कमाता है और इस कमाई के आधार पर ही वह संपूर्ण परिवार को अपने नियंत्रण में रखता है। लेकिन औरत जो काम करती है उसके बदले उसे कुछ भी हासिल न होती। कृष्णा सोबती का उपन्यास ‘ ऐ लड़की ’ की अम्मू के शब्दों में इस व्यवस्था के प्रति गहरा असंतोष प्रकट हुआ है। “ सोचने की बात है -- मर्द काम करता है, तो उसे इवज़ में अर्थ–धन प्राप्त होता है। औरत दिन–

---

[1] पूरनचंद्र जोशी, कथन, जुलाई–सितंबर–2003, पृ– 69

रात जो खटती है वह बेगार के खाते में ही न! भूली रहती है अपने को मोह–ममता में। अनजान। बेध्यान। वह अपनी खोज–खबर न लेगी तो कौन उसे पूछनेवाला है। ”[1]

‘ शाल्मली ’ के नरेश घर के कामों में पत्नी की मदद करने के लिए इसलिए तैयार नहीं होता क्योंकि उसके अनुसार घर औरत का है और पुरुष का काम कमाना है। वह कहता है– “ ओह, नो! यह औरतों के कामों में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है। ” . . . . “ घर औरत का होता है, वह जाने। कमाना मर्द का काम है, वह मैं करता हूँ। अपने ऑफिस के काम में तुम्हारी सहायता लेता हूँ क्या? ”[2]

‘ छिन्नमस्ता ’ के नरेन्द्र को इस बात की शिकायत है कि उसकी पत्नि प्रिया गृहस्थी नहीं संभालती। उसके विचार में भी पुरुष की वह मानसिकता प्रकट है कि स्त्री को घर के बाहर काम करके कुछ कमाने की ज़रूरत नही। “ लेकिन इसने कब गृहस्थी संभाली? पूछिए इससे कि इसने खाना भी बनाया हो कभी? इसके कमाने की ज़रूरत है क्या? यह किसलिए सुबह से रात तक बरबंड़ा मारती है और वह भी केवल कलकत्ता में नहीं, आज दिल्ली, कल मद्रास। आई नहीं कि वापस लंदन तो कभी अमेरिका। ”[3] ‘ दिलो–दानिश ’ के वकील कृपानारायण के विचार में औरत को मात्र गृहस्थी के काम करने के लिए ही खुदा ने बनाया है। इसलिए उसे दूसरे कार्यों में दखल न देनी चाहिए। वह अपनी पत्नी से कहती है, “ आपके लिए तो इतना ही कहा जा सकता है कि आप औरत हैं और आपको गृहस्थी बनाने–चलाने को ही ऊपरवाले

---

[1] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, पृ–74-75

[2] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–33

[3] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–171-72

ने बनाया है। बताइए, भला इसमें हम आपकी क्या मदद कर सकते हैं! इसको लेकर दिल में मलाल लाने की तो कोई वजह न होनी चाहिए। ''[1]

श्रम के विषम विभाजन के कारण ऐसी एक धारणा हमारे समाज में प्रचलित है कि नारी–जीवन की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका मातृत्व है। बच्चों की नज़र में भी माँ सिर्फ घर की व्यवस्था करनेवाली है। ' ऐ लड़की ' की अम्मू कहती है, '' माँ पैदा करती है। पाल–पोसकर बड़ा करती है। फिर उसी की कुर्बानी! माँ को टुकड़ों में बाँटकर परिवार उसे यहाँ–वहाँ फैला देता है। कारण तो यही न, समूची रहकर कहीं उठ खड़ी न हो! माँ के प्योसर गाय या धाय बनाकर रखे रहते हैं। खटती रहे। सुख देती रहे। उसका काम इतना ही है। वह अपने तईं कुछ भी समझती रहे, पर बच्चों के लिए मात्र घर की व्यवस्था करनेवाली। ''[2] ' बेतवा बहती रही ' की मीरा के पिता के अनुसार लड़की को शिक्षा देने की ज़रूरत नहीं क्योंकि उसका काम गृहस्थी चलाना है। '' हऔ, का होत मेंडियन कों पढ़ा कें। कौन–सी नौकरी–चाकरी करनें हैं। पराये घर जाने हैं, सो काम–धन्धौ सीखें, गिरस्ती सम्भारें। ''[3] युगों से चली आ रही इस मान्यता के कारण कि औरत का काम केवल गृहस्थी चलाना है, स्वयं स्त्रियों में भी इस मान्यता का असर देखा जा सकता है। ' तत्–सम ' की वसुधा की माँ का विचार कुछ इसप्रकार है। '' उनके अनुसार चूल्हे–चौके, सिलाई–बुनाई के अलावा कोई भी फितूर ले डूबनेवाला था लड़कियों को। ''[4]

---

[1] कृष्णा सोबती, दिलो–दानिश, पृ–82

[2] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, पृ–100-01

[3] मैत्रेयी पुष्पा, बेतवा बहती रही, पृ–53

[4] राजी सेठ, तत्–सम, पृ–36

पुरुष घर के ‘ बाहर ’ काम करके जो धन कमाता है, उस धन की ताकत ही अपनी मर्ज़ी के अनुसार कुछ भी करने की छूट उसे प्रदान करती है। इस ताकत से वह पूरे घर को अपने नियंत्रण में रखता है। ‘ दिलो–दानिश ’ के वकील कृपानारायण इस प्रकार धन कमाकर कुनबे को पालने–पोसने के कारण थोड़ी–बहुत दिलजोई–दिल्लगी करना अपना हक समझता है। इस उपन्यास की बऊआजी एक स्थान पर कहती है, “ हमसे पूछो तो मर्द को गुमराह करनेवाले फ़क़त हुस्न और जवानी नहीं, उसकी कमाई है जो इसे खुदमुख्तारी देती है। सोचो, घर में बैठी–बैठी औरत क्या करेगी! गहनों की बकुची में से अवल की पुड़िया निकाल लेगी या भंडाघर से पैसा कमाने का तजुरबा समेट लेगी! हमसे पूछो तो घर की बहू ज़िंदगी–भर या मर्द की सुनेगी या बेटों की। धर्मशास्त्र भी तो यही कहते हैं। ”[1] कृष्णा सोबती के उपन्यास

‘ ऐ लड़की ’ की अम्मू के अनुसार पुरुष की कमई ही पुरुष का स्थान ऊँचा और स्त्री का स्थान नीचा निर्धारित करती है। वह कहती है, “ लड़की, सबकी यात्रा इसी तरह घात–प्रतिघात में गुज़रती है। घर का यह खेल बराबरी का नहीं, ऊपर–नीचे का है। घर का स्वामी कमाई से परिवार के लिए सुविधाएँ जुटाता है। साथ ही अपनी ताकत कमाता–बनाता है। इसी प्रभुताई के आगे गिरवी पड़ी रही है बच्चों की माँ । ”[2]

‘ शेषयात्रा ’ की अनु को लगती है कि पुरुष के धन कमाने की जो ताकत है उसके आगे वह बेबस है। “ प्रणव एक साधारण–सा व्यक्ति है। बाज़ार के चेहरों में एक चेहरा, कुछ उसमें अलग नहीं है। साधारण कद–काठी, साधारण रूप–रंग, बस विलायती डाँक्टरी की डिगरी अलग है। डिगरी का मतलब है पैसा, पैसों का मतलब है

---

[1] कृष्णा सोबती, दिलो–दानिश, पृ–83-84

[2] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, पृ–74

ताकत। पसंद आ जाने पर किसी लड़की को शाख से तोड़कर हाथ में ले लेने की शक्ति। पुरुष की इस शक्ति के आगे अनु बेबस है। ''[1]

कृष्णा सोबती के उपन्यास ' समय–सरगम ' की अरण्या के अनुसार संयुक्त परिवारों में भी परिवार का स्वामित्व व्यक्ति की उत्पादक हैसियत से जुड़ा है और पूरे परिवार की साँझी श्री पैसे के व्यापारिक प्रबंधन में निहित है। वह कहती है– '' ईशान, मुझे संयुक्त परिवार का अनुभव नहीं। दूर–पास से जो इसकी आवाज़ें सुनीं, वह सुखकर नहीं थीं। इतना जानती हूँ कि परिवार की सुव्यवस्थित अस्मिता और गरिमा का मूल्य भी उन्हें ही चुकाना होता है जिनका खाता दुबला हो। परिवार की साँझी श्री पैसे के व्यापारिक प्रबंधन में निहित है। ''[2]

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में कुछ ऐसी नारियों का चित्रण हुआ है जिनकी पूरी ज़िन्दगी घर के अंदर के काम करके ही गुज़र जाती है। गीतांजली श्री के उपन्यास ' माई ' में झुककर घर के सारे काम करने की नारी की जो नियति है इसका चित्रण हुआ है। माई झुककर काम करनेवाली सारी औरतों का प्रतिनिधित्व करती है, '' माई हमेशा झुकी रहती थी। हमें तो पता है, हम उसे शुरू से देखते आये हैं। हमारी शुरुआत ही उसकी भी शुरुआत है। तभी से वह एक मौन, झुकी हुई साया थी, इधर से उधर फिरती, सबकी ज़रूरतों को पूरा करने में जुटी। ''[3] ' कठगुलाब ' की रूथ को ऐसी लगती है कि यह मुहावरा '' ए वुमेंस वर्क इज नेवर डन '' (औरत का काम कभी खत्म नहीं होता) उसको देखकर ही गढ़ा गया था। उस्की हालत ऐसी है कि दिन में घर के बाहर खेती का काम और रात को घर के अंदर का काम करना पड़ता है, ''

---

[1] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, पृ–65

[2] कृष्णा सोबती, समय–सरगम, पृ–64

[3] गीतांजली श्री, माई, पृ– 9

पूरा दिन खेत पर मेहनत करते निकल जाता। शाम होने पर जब परिवार और पड़ोस के मर्द पीने–पिलाने में रमते तो हम औरतें घर का काम शुरू करतीं। खाना बनाने–खिलाने में, बर्तन धोने–पोंछने में, घर झाड़ने–बुहारने में रात हो जाती। अगले दिन के नाश्ते की तैयारी करके, वे सब थकान से उपजी गहरी नींद में डूब जातीं। ''[1]

' ऐ लड़की ' उपन्यास की अम्मू को इस बात को लेकर दुख है कि उसने अपना पूरा जीवन घर के कामों में ही बिताया। वह कहती है, '' इस परिवार को मैंने घड़ी मुताबिक चलाया, पर अपना निज का कोई काम न सँवारा। ''[2] वह अपने जीवन के अंतिम क्षणों में पहचानती है कि अपनी पूरी उम्र गृहस्थी के ताने–बाने में ही गुज़र गई। वह कहती है, '' बरसों––– सालों–साल इस दुनिया में रही हूँ, पर इन दिनों बार–बार यही मन में कि इतना जीना था तो कुछ ढंग का काम ही किया होता। इतनी बड़ी दुनिया है, उसे ही देख डालती। पर गृहस्थी के ताने–बाने में ही उम्र गुज़र गई। ''[3] नारी की यह पहचान ही कि घर के अंदर उसकी भूमिका अत्यंत सीमित है और उससे उसके व्यक्तित्व का सहज विकास संभव नहीं है, बाद में आत्मनिर्भर बनने के लिए उसे प्रेरणा दी। अपने पैरों पर खड़ी होने की नारी की इच्छा और उसके लिए किया जानेवाला संघर्ष वस्तुतः समकालीन नारीवादी उपन्यास की प्रमुख प्रवृत्ति है।

नारी और आत्मनिर्भरता

एक सुगढित व्यक्तित्व के निर्माण में आत्मनिर्भरता की भूमिका सबसे अहम है। अपने पैरों पर खड़े व्यक्ति में ही किसी ठोस निर्णय लेने की क्षमता होती है। जो

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–83

[2] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, पृ– 78

[3] वही, पृ–100

व्यक्ति दूसरों पर मुहताज है वह समझौते के लिए विवश हो जाता है। हमारी सामाजिक व्यवस्था कुछ ऐसी है, जहाँ नारी पुरुषों पर निर्भर रहने के लिए विवश है। इसी कारण वह पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं है। किसी भी निर्णय लेते समय उसे अपने आश्रयदाता पुरुष का ध्यान रखना पड़ता है। अत: आत्मनिर्भर होना स्वतंत्रता के लिए पहली शर्त बनता है। नारी–शिक्षा के प्रचार ने जहाँ एक ओर नारी को अपनी वर्तमान स्थिति पर सोचने को बाध्य किया वहाँ दूसरी ओर उसे आत्मनिर्भर होने की प्रेरणा भी दी।

वर्तमान समय में प्रत्येक नारी आत्मनिर्भरता को अपने व्यक्तित्व की पहचान बनाना चाहती है। आर्थिक स्वतंत्रता को वह अपने जीवन का अनिवार्य अंग समझती है। नारी की इस पहचान की सूचना महादेवी ने कई वर्ष पहले ही दी थी, " आधुनिक परिस्थितियों में स्त्री की जीवनधारा ने जिस दिशा को अपना लक्ष्य बनाया है उनमें पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता ही सबसे अधिक गहरे रंगों में चित्रित है। स्त्री ने इतने युगों के अनुभव से जान लिया है कि उसे सामाजिक प्रामाणिक प्राणी बने रहने के लिए केवल दान की ही आवश्यकता नहीं है, आदान की भी है, जिसके बिना उसका जीवन जीवन नहीं कहा जा सकता। "[1]

समकालीन उपन्यासों में चित्रित नारियाँ आत्मनिर्भरता के महत्व को पहचानती है। वे अपने ही पैरों पर खड़ा होना चाहती हैं। ' आओ पेपे घर चलें ' की प्रभा कलकत्ता से अमरिका तक आयी है आत्मनिर्भर बनने के उद्देश्य को पूरा करने के लिए। वह उस आधुनिक नारी का प्रतिनिधित्व करती है जिसके अनुसार नारी की स्वतंतत्रता आर्थिक स्वतंत्रता से अभिन्न रूप से जुड़ी है। वह आर्थिक स्वतंत्रता को अपनी पहली ज़रूरत मानती है। वह कहती है,

---

[1] महादेवी वर्मा, महदेवी साहित्य समग्र–3(लेख का नाम–हमारी श्रृंखला की कड़ियाँ) पृ–352

“ आप नहीं जानतीं, बहन जी, औरत की सारी स्वतंत्रता उसके पर्स में निहित है। ”[1] इसी उपन्यास की हेल्गा प्रभा से एक स्थान पर कहती है, “ बिना अपने पैरों पर खड़े हुए तुम कोई लड़ाई नहीं लड़ सकतीं। ”[2] कृष्णा सोबती के ‘ ऐ लडक़ी ’ की अम्मू के विचार में भी नारी की हालत तब सुधरेगी जब वह अपनी जीविका खुद कमाने लगेगी। वह कहती है, “ उसका वक्त तब सुधरेगा जब वह अपनी जीविका आप कमाने लगेगी। ”[3] गीतांजली श्री के ‘ माई ’ उपन्यास की माई जो घर के अंदर हमेशा झुकी रहनेवाली है, एक साया की तरह इधर–उधर फिरती सबकी ज़रूरतों को पूरा करने में जुटी है वह भी नारी के आत्मनिर्भर होने की ज़रूरत को पहचानती है। वह कहती है, “ सबसे बड़ी बात है अपने पैरों पर खड़े होना, आज के ज़माने में वह सीख लिया तो बाकी सब अच्छा ही होगा। ”[4]

प्रभा खेतान के उपन्यास ‘ छिन्नमस्ता ’ की प्रिया के मन की सबसे प्रबल इच्छा है, अपने पैरों पर खड़े होना। घर में पड़े रहकर मिलने वाले दो वक्त के खाने से वह नाखुश है। वह आत्मनिर्भर बनना चाहती है। हर चीज़ के लिए पति के आगे हाथ फैलाना उसे अच्छी नहीं लगती। वह फिलिप से कहती है, “ सच कहूँ फिलिप, पैसे की कमी थी। अमीरी के आवरण में छिपे गरीब मन का ओछापन झेलते–झेलते मैं थक गई थी। हर चीज़ के लिए नरेंद्र से पैसा माँगना और फिर हिसाब देना । रोज़ की झकझक। ”[5] इसी उपन्यास की नीना हर महीना पापा से पैसा स्वीकार करने में एक

---

[1] प्रभा खेतान, आओ पेपे घर चलें, पृ–36

[2] वही, पृ–91

[3] कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, पृ–74

[4] गीतांजली श्री, माई, पृ–121

[5] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–191

प्रकार की झिझक अनुभव करती है। उसका मकसद भी आत्मनिर्भरता ही है। वह कहती है, " अपने पैरों पर खड़ी स्त्री का कोई निरादर नहीं कर सकता। भाभी! पापा का यों महीने का महीने रूपए देना? मुझे नफरत होती है उनसे। "[1] शाल्मली पढ़ाई के समय से ही अपना लक्ष्य निर्धारित करती है और वहाँ तक पहूँचने के लिए कठिन परिश्रम करती है। उसका सपना साधारण लड़कियों से एकदम भिन्न है, " वह समय से पहले जीवन संघर्ष में कूद पड़ी थी। कम उम्र में जब लड़कियाँ फिल्मों और कविताओं में डूबी अजीब–अजीब सपने देखती थीं, उस वक्त वह एक कामकाजी लड़की में ढल चुकी थी। "[2]

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में चित्रित नारियाँ शिक्षा के महत्व से भलीभाँति परिचित है। शिक्षित होना केवल आर्थिक स्वावलंबन की दृष्टे से ही नहीं स्वतंत्रता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। सुप्रसिद्ध लेखिका राजी सेठ के अनुसार शिक्षा स्त्री की मुक्ति–संघर्ष में रोशनी का काम करती है। वह लिखती है, " यह रोशनी शिक्षा और आत्मज़ान है। यही एक ऐसा साधन है, जिसके माध्यम से हर इनसान अपनी लड़ाई खुद लड़ने और अपना अँधेरा खुद दूर करने की ताकत पाता है। शिक्षित हो जाने पर दूसरों को हमारा जिम्मा लेने की ज़रूरत नहीं रहती। जब हमारी लड़ाई दूसरे लड़ते हैं तो वे इतने खरे, ईमानदार और निःस्वार्थ नहीं होते। "[3] ' कठगुलाब ' की स्मिता जीवन में पहला स्थान शिक्षा को देती है। वह कहती है, " मैं शादी नहीं करना चाहती। न अधेड़ से, न जवान से। मैं पढ़ना चाहती हूँ, "[4] स्मिता की बहन नमिता को

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ– 145

[2] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–13

[3] राजी सेठ, इक्कीस्वीं सदी की ओर, पृ–86

[4] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–14

आत्मनिर्भर न हो पाने का दुख है। इसलिए वह स्मिता को आत्मनिर्भर बनाना चाहती है, उसके लिए स्मिता को वह प्रेरणा भी देती है।

" माँ मेरी पढ़ाई चौपट न करतीं तो मैं इन पर (पति) इतनी आश्रित न होती। कम–से कम बी.ए. तो किए होती। थोड़ा–बहुत कुछ कमा सकती थी। अब तो इतने पैसे भी हाथ में नहीं होते कि तेरी फ़ीस जमा करवा दूँ। प्रदीप के (बेटा) शौक की एकाध चीज़ खरीद लूँ। हर चीज़ के लिए इनके आगे हाथ फ़ैलाना पड़ता है। पर तू फ़िक्र मत कर। जैसे भी होगा, मैं तेरी फ़ीस के पैसे दिलवा दूँगी। तू आगे पढ़। अपने पैरों पर खड़ी हो। हमारे भरोसे मत रह। काम–धाम करेगी तो एक नहीं, अनेक दोस्त मिलेंगे। अपनी मनपसंद शादी करना। मेरी तरह भिखारिन मत बनना........ "[1] ' पीली आँधी ' की सोमा का विश्वास ऐसा है कि व्यक्तित्व का पूर्ण विकास आत्मनिर्भर होने से ही होता है। शिक्षित होने के कारण उसे पूरा भरोसा है कि वह अपने पैरों पर खड़े हो सकेगी। उसका यह विश्वास उसके इन शब्दों में प्रकट होती है, " हाँ गौतम! मैं अपने पैरों पर खड़ी हो सकती हूँ। शायद इस घर से बाहर गौतम तुमको एक हज़ार रूपए की नौकरी नहीं मिले, लेकिन मुझे मिल जाएगी। "[2]

' अन्तर्वंशी ' की अंजी और वाना का अंग्रेज़ी पढ़ने का लक्ष्य अपने पैरों पर खड़ा होना ही है। अंजी तलाकशुदा औरत है। वह अपनी बूतीक खोलना चाहती है। बाद में वह वाना के साथ मिलकर बच्चों को पालने का डे केयर सेन्टर खुलती है। वाना को राहुल ने अपनी अकौंट से जितना भी पैसा चाहे, लेने की अनुमति दी है लेकिन वाना उसके पैसों से काम चलाना नहीं चाहती। उनके अकौंट के पैसे दिन प्रति दिन घटती जा रही है, " कैसे बीतेगा यह जाड़ा, यह लम्बे–लम्बे खाली दिन। बैंक का खाता

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–19

[2] प्रभा खेतान, पीली आँधी पृ–248

दिन पर दिन घट रहा है ; उसने राहुल के पैसों को हाथ नहीं लगाया है। वह गर्व और आत्माभिमान से जीना चाहती है। उसने अंजी को हाँ कर दी है। अंजी ने राहुल से आज्ञा ले ली है, जब तक वह नहीं है तब तक के लिए नीचे का घर वह प्रयोग में लाएँगी। ''[1]

' आवाँ ' की नमिता को स्थाई नौकरी नहीं है। फिर भी उसके मन में अपने पैरों पर खड़े होने की इच्छा है। वह तरह–तरह के कामों में जुड़ जाती है। नौकरी तलाशनेवाली आधुनिक नारी की प्रतिनिधि है वह। वह कहती है, '' दिन में एकाध फाल लगा लेती हूँ। सौ–सवा सौ के करीब पापड़ बेल लेती हूँ – ' श्रमजीवा ' संस्था में। समाजसेविका शाहबेन का नाम सुना होगा आपने। दो व्यूशन भी पढ़ा रही हूँ। ''[2]

आधुनिक नारी अपनी भूमिका को केवल गृहस्थी और मतृत्व तक सीमित रखने को तैयार नहीं है। वह अपनी दुनियाँ का विस्तार चाहती है। नौकरी की तुलना में वह विवाह जैसी संस्थाओं को गौण मानती है। कुछ नारियाँ ऐसी है जो विवाह के बाद भी आत्मनिर्भर बनने के अपने संघर्ष को ज़ारी रखती है। अविवाहित लड़की को परिवार के लिए बोझ समझनेवाली मानसिकता का विरोध वे खुलकर करती हैं। ' आवाँ ' की नमिता पवार की माँ के यह पूछने पर कि ' तू माँ का बोझ हलका करने की नई सोचती, बेटी? ' पर वह कहती है, '' बोझ होती तो हलका कर देती, आंटी। '' . . . . '' पाँव पर खड़ी हूँ अपने। खड़ी रहने को दृढ़

[1] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वंशी, पृ–231

[2] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–20

हूँ। मुनिया और छुन्नू को आत्मनिर्भर बनाना है। ब्याह का क्या है, हो जाएगा। नहीं हो पाया तो मुझे नहीं लगता कि बिना ब्याह के मेरी सारी दुनिया उजड़ जाएगी। ''[1]

' छिन्नमस्ता ' की नीना आत्मनिर्भर होने के बाद ही शादी के बारे में सोचने के पक्ष में है। वह प्राथमिकता शिक्षा को देती है। वह कहती है, '' देखा भाभी, पापा चाहते हैं कि मेरी शादी हो जाए लेकिन मैं नहीं करूँगी। मैं पहले अपने पैरों पर खड़ी होऊँगी। ''[2]

नासिरा शर्मा के उपन्यास ' शाल्मली ' की नायिका शाल्मली अपने व्यक्तित्व को केवल घर के कामों तक सीमित रखना नहीं चाहती। पढ़ी–लिखी औरत होने के कारण, मन में आत्मनिर्भर होने का निश्चय रखने के कारण विवाह के बाद यूँ ही घर बैठने को वह तैयार नहीं है। वह कहती है, '' मैं सच कहती हूँ, इतना पढ़–लिखकर इन कामों के सहारे मैं भी अपना दिन नहीं गुज़ार सकती हूँ। मेरे दुःख को, मेरी असमर्थता को समझो। ''[3] शाल्मली सदा एक ही कमरे में जीवन गुज़ारना नहीं चाहती। उनके भी अपने सपने हैं, जो वह साकार करना चाहती है। वह नरेश से कहती है, '' जब तक तुम ऑफिस में रहोगे, तब तक मैं भी बाहर रहूँगी, फिर सदा इस एक कमरे में थोडे ही जीवन गुज़ारना है। ईमानदार आदमी की अपनी सीमाएँ अपनी मर्यादाएँ होंगी। ''[4]

आधुनिक नारी पति या बेटे के सहारे से, उसकी छाँह में पूरी ज़िन्दगी गुज़ारना नहीं चाहती। वह अपनी रास्ता खुद चुन लेना चाहती है। उस रास्ते पर चलते

---

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–442

[2] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–144

[3] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ– 44

[4] वही, पृ–44

समय किसी भी कठिनाई का सामना करने के लिए वह तैयार है। ‘ छिन्नमस्ता ’ की प्रिया का विचार कुछ इस प्रकार है, “ मैं संजू के सहारे ज़िंदगी नहीं बिता सकती। न ही पति या बेटा या प्रेमी ही, ज़िंदगी के सहारे हो सकते हैं। इनके साथ–साथ चलते हुए कठिन मुकामों को पार करने में आसानी ज़रूर होती है, राहत मिलती है, मन को सुकून होता है कि चलो कोई साथ है। लेकिन यदि वे साथ न दें तब क्या एकतरफा आहुति भी देते चलो और सफर भी तय करो? मैंने अपने मन को समझा लिया था। चलो, थोड़ी और कठिनाई सही। अपनी राह चल रही हूँ, इसका तो संतोष रहेगा।”[1]

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में चित्रित कुछ नारियाँ ऐसी है जो स्वयं आत्मनिर्भर है साथ ही वे दूसरी औरतों को भी आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा देती है। वे दूसरों के मन में यह विश्वास जगाती है कि अपने पैरों पर खड़े होने की क्षमता हर औरत में है। ‘ अन्तर्वंशी ’ की सरिका स्वयं आत्मनिर्भर है। वह वाना को याद दिलाती है कि रसोई के आगे भी एक दुनिया है। वाना की कामयाबी के पीछे सरिका का महत्वपूर्ण योगदान है। वह कहती है, “ वाना–– रसोई के आगे भी एक संसार है ; फैला हुआ अनन्त। तुम हमेशा दाल–चावल के प्रश्न में उलझी रहती हो। ऊबती नहीं? ”[2] उषा प्रियंवदा के अन्य उपन्यास ‘ शेषयात्रा ’ की अनु को उसकी क्षमता का बोध दिलाती है दिव्या। वह कहती है, “ तुम बेपढी हो? हाईस्कूल व इंटर में फर्श्ट डिवीजन मेरा आया था? मैरिट लिस्ट में मैं थी? तुम कब तक अपने को घटाती रहोगी। तुम्हें अवसर मिलता तो तुम भी डॉक्टर हो सकती थीं। . . . . अनु, तुममें किसी चीज़ की कमी नहीं है। माई गॉड, वुमन! अपने को देखो तो ज़रा! ”[3]

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–170

[2] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वंशी, पृ–68

[3] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा 73-74

‘ कठगुलाब ’ की असीमा की माँ नर्मदा को भी आत्मनिर्भर होने की प्रेरणा देती है। असीमा की माँ आत्मनिर्भर तो है, साथ ही वह नर्मदा में भी यह विश्वास जगाना चाहती है कि आत्मनिर्भर बनने की क्षमता हर एक औरत में है। वह नर्मदा को सिलाई सिखाकर उसको अपने पैरों पर खडे देखना चाहती है। वह नर्मदा से कहती है, “ औरत अपने बच्चे खुद पाल सकती है। मैं अब भी कह रही हूँ, तू यहाँ आ जा, एक बार पूरा काम सीख जा, हमेशा के लिए आज़ाद हो जाएगी। ”[1] अपने अंतिम समय पर वह अपना कारोबार नर्मदा को सौंपना चाहती है, जिससे कुछ लड़कियों को अपने पैरों पर खड़े होने में सहायता मिलें। वह कहती है, “ मैंने पहले भी कहा था, नर्मदा, तू नहीं मानी। अब तेरी भी उम्र हो गई। मेरा काम सँभालेगी तो कितने ज़रूरतमंद बच्चों को काम सिखलाकर, अपने पैरों पर खड़ा कर सकेगी।”[2] ‘ आवाँ ’ की शाहबेन का मकसद है शोषित और प्रताड़ित औरतों को आत्मनिर्भर बनाना। उसके लिए वह ‘ श्रमजीवा ’ नामक एक संस्था चलाती है। नमिता उसके बारे में सोचती है, “ शाहबेन याद हो आईं। वे भी तो समाजसेविका हैं। शोषित, प्रताडित, ज़रूरतमंद स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाने की दिशा में उनसे सैकडों के हिसाब से पापड़ बिलवातीं। उड़द, हींगा, पापड़ खार की रली–मिली गंध लिए मसालदानी–सी महकती हुई शाहबेन जब भी दिखतीं, देह पर खादी की धोती धारण किए दिखतीं। ”[3]

आत्मनिर्भरता और अस्मिता

आत्मनिर्भरता नारी को आत्मविश्वास प्रदान करती है। जब नारियाँ पहले–पहल नौकरी के लिए घर से निकली थी तब उसके सामने मुख्य लक्ष्य आर्थिक

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–178

[2] वही, पृ–186

[3] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ– 23

स्वतंत्रता थी। किन्तु आज नारी के लिए नौकरी केवल आर्थिक सुरक्षा प्रदान करनेवाला एक माध्यम मात्र नहीं है, बल्कि वह उसके लिए एक पहचान है। नौकरी उसमें यह बोध जगाने में सहायक सिद्ध हुआ है कि वह भी इस समाज की इकाई है। श्री कमल कुमार के शब्दों में, '' पहली पीढ़ी आर्थिक दबाव से कामकाजी बनी थी वहीं नई पीढ़ी ' अस्तित्व की स्थापना ' के लिए कामकाजी होना चाहती है। आर्थिक रूप में आत्मनिर्भर बनना चाहती है। इनका मानना है कि आर्थिक निर्भरता आत्मविश्वास जगाती है और एक बृहतर समाज से जोड़ती है। ''[1]

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में भी इस प्रकार की नारियों का चित्रण हुआ है जो काम को अपनी पहचान के रूप में देखती हैं। ' आओ पेपे घर चलें ' की हेल्गा पति बेरी की कमाई से संतुष्ट नहीं है। वह नौकरी करके अपनी पहचान बनाना चाहती है, '' हां, बेरी तो कमाते ही थे, पर हेल्गा को अपनी अलग पहचान चाहिए थी। वह केवल पत्नी और माँ की भूमिका में सिमटकर नहीं रहना चाहती। ''[2] इसी उपन्यास की कैथी की आण्टी के विचार में नौकरी का लाभ केवल आर्थिक स्वतंत्रता नहीं है। उसके अनुसार बाहरी दुनिया के कामों से स्त्री की चेतना मजबूत होती है। ' छिन्नमस्ता ' की प्रिया के लिए अपना व्यापर जीने का एक संबल ही है। वह कहती है, '' लेकिन मेरी अपना काम, जिसमें मुझे सृजन और अभिव्यक्ति का सुख मिला है, मेरा सबसे बड़ा आलंबन है, यही वह एक बलिश्त ज़मीन है जिस पर कभी मैंने मुट्ठी पर बीज रोपे थे। यह पौधा छोटा ही सही, पर इसे मैंने सींचा है। बिना किसी लगाव के औरत जी नहीं सकती। ''[3] दूसरे स्थान पर भी वह अपने पति से कहती है,

---

[1] कमल कुमार, नए आयामों को तलाशती नारी, संपा:दिनेशनन्दिनी डालमिया, रश्मि मलहोत्रा, पृ–40

[2] प्रभा खेतान, आओ पेपे घर चलें, पृ–80

[3] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–212

“ नरेंद्र मैं पैसों के लिए काम नहीं कर रही।

. . . .

अपनी आइडेंटिटि, व्यक्तित्व के विकास के लिए . . .।[1]

समकालीन संदर्भ में नौकरी नारी के जीवन की दिशा को निर्धारित करने लगी है। नौकरीपेशा नारी को अपना जीवन उद्देश्यहीन नहीं लगती। इसका सबूत है ‘ छिन्नमस्ता ’ की प्रिया का प्रस्तुत कथन– “ नरेंद्र, मैं व्यवसाय रूपए के लिए नहीं कर रही। हाँ, चार साल पहले जब मैंने पहले–पहल काम शुरू किया था, मुझे रूपयों की भी ज़रूरत थी। पर आज मेरा व्यवसाय मेरी आइडेंटिटी है। यह आए दिन की विदेशों की उड़ान . . . यह मेरी ज़िंदगी के कैनवास को बड़ा करती है। नित्य नए लोगों से मिलना–जुलना, जीवन के कार्य–जगत को समझना। मुझे ज़िंदगी उद्देश्यहीन नहीं लगती। ”[2]

अत्मनिर्भर बनने के लिए नारी जो संघर्ष करती है, प्रस्तुत संघर्ष कभी–कभी उसे अपनी अस्मिता और क्षमता को पहचानने में सहायक सिद्ध होता है। ‘ शेषयात्रा ’ की अनु के व्यक्तित्व को निखारकर उसमें अस्मिता बोध जगाती है आत्मनिर्भर हो जाने की उसकी चाह। जब काफी अरस्से के बाद वह अपने तलाकशुदा पति से मिलती है तब वह अपनी कामयाबी की कहानी सुनाती है, “ मुझे उन दिनों बहुत गुस्सा था, आप पर, अपने पर, दोस्तों पर। यह बात मुझे हर वक्त कचोटती थी कि मैं एक व्यक्ति की हैसियत से कुछ भी नहीं रही ; जो कुछ थी, वह सब श्रीमती कुमार की हैसियत से। बार–बार लगता कि मैंने वह साल क्यों खो दिए, बिरियानी और कबाब बनाने में? कुछ किया क्यों नहीं, अपने को कुछ आगे क्यों नहीं बनाया। उसी मानसिक तनाव में मैंने

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–215

[2] वही, पृ–10-11

सोचा कि अच्छा, अभी तो सारी उमर पड़ी ही हुई है, चलो कुछ बनने की कोशिश तो कर लो। शुरुआत तो करो; देखो कि तुम भी प्रणवकुमार बन सकती हो कि नहीं? इत्तफाक से मेडिकल कालेज में एडमिशन मिल गया; माँ की इच्छा थी कि मैं डॉक्टर बनती; एंड हियर आई ऐम––नोबेल प्राइज़ विजेता की रिसर्च टीम में . . . ''[1]

आधुनिक नारी आत्मनिर्भरता को अपने जीवन के अभिन्न अंग के रूप में देखती है। आज नौकरी का अभाव उसके मन में कुंठा उत्पन्न करती है। ' अन्तर्वंशी ' की वाना का जीवन केवल गृहस्थी के कामों तक सीमित है। इसलिए नौकरीपेशा शालिनी और सरिका को देखकर उसके मन में हीनता–ग्रंथी उत्पन्न होती है। '' पलंगों पर साँगानेरी छापे के सस्ते भारतीय बेड़कवर थे जो सिमटे सिकुडे ही रहते थे। चाहे जितनी बार सलवटें मिटाओ, और अपने कपड़े, गिनी–चुनी स्कर्ट–ब्लाउज धोओ और पहनो। सुबह से लेकर शाम तक, घर, रसोई, बच्चे, मेहमानदारी। शालिनी हमेशा ही अच्छे पश्चिमी कपड़ों में आती थी। रेशमी या ऊनी फ्राकें, बुने हुए लम्बे–लम्बे स्वेटर, गले में स्कार्फ, सुएड़ के बूट। सारिका अभी साड़ी ही पहनती थी। कभी रेशम पर चारखाने, या चैउड़ा बॉंर्डर या प्रिंट। कोई साड़ी हज़ार रूपए से कम की नहीं होती थी। कानों में मोती के टॉप्स जो उनके साँवले चेहरे पर फबते थे। वाना ने अपने नकली मोती और प्लास्टिक की बाली बुन्दे और मालाएँ चुपचाप उतार कर अलग रख दी थीं। ''[2] किन्तु यही वाना आत्मनिर्भर होने के बाद अपनी ज़िन्दगी के बारे में खुद फैसला लेती है।

नौकरी नारी को एक विशेषप्रकार की सुरक्षा बोध प्रदान करती है। ' छिन्नमस्ता ' की प्रिया का कथन इसका प्रमाण है। वह कहती है, '' नहीं, मैं दुनिया में असुरक्षित

---

[1] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, पृ–107

[2] वही, पृ–64-65

नहीं। मेरे पास मेरा व्यवसाय है। इस व्यवसाय के माध्यम से मैं नित्य नए लोगों से मिल रही हूँ। ''[1] दूसरे स्थान पर वह कहती है, '' काम की दुनिया मुझे ताकत देती है। काम के कारण मेरा आत्मविश्वास बढ़ता है। ''[2] ' अकेला पलाश ' की नाहिद बाजी भी यह मानती है कि नौकरी नारी के आत्मविश्वास को जगाती है और उसके व्यक्तित्व को निखारती है। वह कहती है, '' कुछ भी कहो, औरत के बाहर काम करने से उसके मन में आत्मविश्वास आ जाता है। तुम्हारा डर अब धीरे–धीरे खत्म हो जाएगा, और तुम घरेलू और दब्बू किस्म की औरतों की हदों से बाहर आ जाओगी। अब तुम्हें अपना, अपनी शख्सियत का अन्दाज़ा रहेगा। ''[3]

आत्मनिर्भरता और निर्णय क्षमता

आत्मनिर्भर होने से पहले, जब नारी पुरुष पर निर्भर रहती थी तब वह अनचाहे समझौतों के लिए विवश होती थी। लेकिन जो नारी स्वावलंबी है वह अपना निर्णय खुद ले सकती है। काम की दुनिया निश्चय ही नारी को ताकत प्रदान करती है। आधुनिक नारी की चेतना को जगाने में नौकरी ने जो भूमिका अदा की है वह अत्यंत महत्वपूर्ण है। वस्तव में नारी को पुरुष किसी भी निर्णय लेने के अधिकार से उसके आर्थिक परावलंबन के कारण ही वंचित रखता है। गीताश्री के शब्दों में, '' वस्तुत: फैसलों में भागीदारी न मिलने के पीछे सबसे बड़ा कारण है स्त्री की आर्थिक परतंत्रता। स्त्री के भरण–पोषण के एवज में पुरुष उसकी स्वतंत्रता छीन लेता है। आर्थिक रूप से पुरुष पर निर्भर स्त्री केलिए फैसलों में दखल की कल्पना भी कठिन है। स्त्री की

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–213-14

[2] वही, पृ–216

[3] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ–23

आर्थिक असुरक्षा उसे फैसले सुनाने की नहीं, उन्हें स्वीकारने की भूमिका में आने को विवश कर देती है। यह कड़वा सच है, मगर सच है। ''[1]

जब तक स्त्री आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं होती तब तक समानता के बारे में सोचना संभव नहीं है। क्योंकि सारा निर्णय पुरुष ही लेता है। सिमोण के अनुसार आर्थिक परावलंबन की स्थिति में नारी द्वारा समानता का दावा करना एक भ्रम ही है। उसने लिखा है, '' कुछ ऐसे युवा दम्पति यह प्रदर्शित करना चाहते हैं कि उनके घर में बिलकुल समानता है। जब तक कि पुरुष के हाथों में आर्थिक ज़िम्मेदारी रहेगी तब तक समानता का यह दावा भ्रम ही रहेगा। अपने कार्य की सुविधा के अनुसार पुरुष निर्णय करता है कि वे कहाँ रहेंगे। पत्नी उसके साथ गाँव से शहर और शहर से गाँव जाती है। पति की आय और पेशे के अनुसार ही दैनिक, साप्ताहिक और वार्षिक बजट बनाता है। पुरुष के पेशे के अनुसार ही मित्रता और संबंध बनते हैं। ''[2]

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में ऐसी नारियों का चित्र उपल्ब्ध है जो काम की दुनिया से आत्मविश्वास हासिल करके अपने जीवन की दिशा स्वयं निर्धारित करती हैं। उसे अपनी क्षमता पर पूरा विश्वास है। आज आर्थिक स्वतंत्रता ने उसे एक ठोस ज़मीन प्रदान की है जहाँ खड़े होकर वह कोई भी फैसला लेने के लिए स्वतंत्र है। ' कठगुलाब ' की असीमा की माँ आत्मसम्मान के साथ जीना चाहती है। वह आत्मनिर्भर है। पति जब उसे छोड़कर दूसरी स्त्री के पास जाने लगता है तो वह पति से पैसा लेने को तैयार नहीं होती। वह कहती है, '' मेरे सिद्धांत मुझे ऐसे पति से एक पैसा लेने की इजाज़त नहीं देते, जो किसी और का पति बन चुका हो। ''[3] उसके पास

---

[1] गीताश्री, स्त्री आकांक्षा के मानचित्र, पृ–24

[2] सिमोन द बुआर, The Second Sex , स्त्री उपेक्षिता, अनुवादक– प्रभा खेतान, पृ–231

[3] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–157

सिर्फ एक सिलाई–मशीन है। उसी के सहारे वह अपने बच्चों की परवारिश करने का निश्चय लेती है, “ विवाहित स्त्री का अपने माँ–बाप से पैसे लेते रहना भी उसके सिद्धांत के खिलाफ़ था। सो हमारा रोटी–पानी माँ की सीमित शिक्षा और शून्य अनुभव के हत्थे चढ़ कर रह गया। कुछ सीना–पिरोना वह ज़रूर जानती थी। एक सिलाई मशीन भी थी उसके पास, काफ़ी बढ़िया, फ़ैशन डिजाइनर जैसी कुछ। उस पर सी–काढ़ कर उसने अपनी शादी के लिए पूरे इक्कीस पलंगपोश, इक्कीस मेजपोश और बयालीस तकियों के गिलाफ़ बनाए थे। अब तक भी वे शेष नहीं हुए। तो, उसी सिलाई मशीन के भरोसे, उसने हम मासूमों को पालना शुरू कर दिया था। ”[1]

‘ आवाँ ’ की नमिता के सामने जब अन्नासाहेब अपना घर मुफ्त में देने का प्रस्ताव रखता है तब नमिता स्पष्ट शब्दों में अपनी असहमति प्रकट करती है। उसे अपने आप पर पूरा भरोसा है। उसको लगती है कि ऐसा करने से उसके स्वभिमान को हानी पहूँचेगी। वह अपनी माँ से इस संबंध में कहती है, “ बस, इतनी कि वे चाहें तो अपनी अनुकंपा किसी बेघर–बार पर बरसाएँ। हमारा स्वाभिमान नहीं खरीद सकते। फिर हमें किराये की ज़रूरत ही क्या है? मैं साढ़े तीन हज़ार कमा रही है, पापड़ बेल तुम कम नहीं कमातीं? ”[2]

नौकरी नारी के व्यक्तित्व को दृढ़ बनाती है और फैसला लेने में उसकी मदद करती है। ‘ ठीकरे की मंगनी ’ की महरूख की ज़िन्दगी में जब रफत दुबारा प्रवेश करना चाहता है तो वह कहती है, “ मेरे पास कोई ख्वाब आपको लेकर नहीं है, जो

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–157

[2] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–249

कुछ मेरा है, उसे जो भी कह लें, ख्वाब या हकीकत वह यह गाँव है, यहाँ के लोग हैं, यह नौकरी, जो मेरी पहचान है, जो मेरा भविष्य और वर्तमान है। ''[1]

'शेषयात्रा' की अनु जो अपने पति से सलाह मशविरा किए बिना साँस तक न लेती थी, आत्मनिर्भर होने के बाद अपनी ज़िन्दगी के बारे में खुद फैसला लेती है। संबंधों को एक नई दृष्टि से देखने की क्षमता आर्थिक स्वतंत्रता उसे प्रदान करती है। वह सोचती है, '' इतने सालों की स्वतंत्रता, अनु सोच उठी। अपने निर्णय अपने आप लेने की ज़िम्मेदारी, अपनी कमाई का पैसा बचाया जाए या बहाया जाए, कहाँ रहे, कैसे रहे, यह सब अपनी मर्जी से करने का सुख, न किसी का दबाव, न जावाबदेही। उसने दीपांकर को देखा, अगर दीपांकर इस संबंध के लिए उत्सुक है तो वह भी निर्णय ले चुकी है, अब पीछे हटने का सवाल नहीं उठता। दीपांकर उसे हर तरह से सुखी रखने की कोशिश करेगा, वह यह जानती थी। वह अपने लिए महत्वाकांक्षी नहीं था, पर अनु को वह कभी कोई भी निर्णय लेने से नहीं रोकेगा। यह होगी बराबर की साझेदारी, न कोई बड़ा, न छोटा; न सुपीरियर, न इन्फीरियर। ''[2]

यद्यपि समकालीन संदर्भ में अनेक नारियों ने घर से निकलकर अपने कर्म क्षेत्र का चयन स्वयं किया है, तथापि नौकरीपेशा नारी के प्रति पुरुष का जो दृष्टिकोण है वह पूर्ण रूप से सामन्ती सोच से मुक्त नहीं हुआ है।

कामकाजी नारी : पुरुष की नज़र में

वैदिक युग में स्त्रियों को अपने विकास के लिए पूर्ण अवसर दिये जाते थे। सामाजिक कार्यों में भाग लेने के अधिकार से उस समय नारियाँ वंचित नहीं थी।

[1] नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, पृ–127

[2] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, पृ–128

मध्यकाल में सुरक्षा या वंशशुद्धि के नाम पर उसे घर के अंदर बंदी बनाये रखने की प्रवृत्ति शुरू हुई। उस समय तक घर के बाहर स्त्री की भूमिका के बारे में सोचने की कोई गुंजाईश ही नहीं हुई थी। नवजागरण काल में स्त्री–शिक्षा का प्रसार स्त्रियों की स्थिति में काफी सुधार लाया। उसमें पुरुषों का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा। किन्तु सबसे बडी विसंगति की बात यह थी कि जिन लोगों ने स्वयं स्त्री–शिक्षा को बढ़ावा दिया था उन्होंने ही स्त्री के नौकरी करने का विरोध किया था। यह अंतर्विरोध गाँधीजी के विचारों में भी देखा जा सकता है, '' स्वयं गाँधीजी स्त्रियों में शिक्षा, सामाजिक चेतना, साहस इत्यादि सभी चाहते थे लेकिन मूलतः इस सवाल पर भी उनका रवैया समझौतावादी ही था, जैसे वे बाल–विवाह के विरोधी थे लेकिन विधवा–विवाह के पक्ष में नहीं थे। स्त्रियाँ घर से बाहर सामाजिक–राजनैतिक आंदोलन में हिस्सा लें, पिकेटिंग करें यह तो उन्हें पसंद था लेकिन आर्थिक रूप से स्वनिर्भर हों, यह उनके गले नहीं उतर रहा था। ''[1]

समकालीन संदर्भ में पुरुष की मानसिकता में परिवर्तन आया है। घर के बाहर भी नारी का कर्म–क्षेत्र हो सकता है इस अवधारणा को वे स्वीकार करते हैं। किन्तु इस स्वीकृति के बावजूद पितृसत्तात्मक सोच की जड़ें उसमें वर्तमान है। इसी कारण आज भी इस प्रकार की मानसिकता रखनेवाले पुरुषों का भी अभाव नहीं है जिनके अनुसार स्त्री को घर के बाहर जाकर नौकरी करने की आवश्यकता नहीं है। स्त्री की नौकरी को गौण या हेय दृष्टि से देखनेवाले पुरुषों का भी अभाव नहीं है। पुरुष की इस सामन्ती सोच ने कामकाजी नारियों के जीवन में कई प्रकार की अड़चनें उपस्थित की है। समकालीन नारीवादी उपन्यासों में अपने को आधुनिक और सुशिक्षित माननेवाले पुरुषों की इस सामन्ती सोच का पर्दाफाश किया गया है।

---

[1] राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृ– 26

पुरुष केंद्रित समाज आज भी इस धारणा को बदलने के लिए पूर्णतः तैयार नहीं हुआ है कि किसी गंभीर कार्य करने की क्षमता नारी में नहीं है। भले ही नारी ने घर के चारदीवारी से निकलकर सभी क्षेत्र में अपनी दक्षता का परिचय दिया हो किन्तु पुरुष के विचार में कतिपय क्षेत्रों में उसकी कामयाबी की कोई गुंजाईश नहीं है। दूसरे अर्थ में उसने कुछ क्षेत्रों में अपने वर्चस्व को बरकरार रखने के लिए उस क्षेत्र में प्रवेश करने से नारी को रोक रखा है। ' कठगुलाब ' की नीरजा के साथ भी यही हुआ है। नीरजा ने डॉक्टरी का पेशा चुन लिया था। वह ब्रेन सर्जरी में विशेषज्ञ बनना चाहती थी। लेकिन गाइड उसे गायनेकॉलोजी करने का सुझाव देता है। इस संबंध में नीरजा सोचती है,

" इस देश में औरत डॉक्टरी में चाहे जितनी महारत हासिल कर ले, रहेगी बेचारी महज लेडी डॉक्टर, बच्चा जनवाने की फ़ैशनेबुल दाई। जिस गईड के पास जाती हूँ, गायनोकॉलोजी करने की राय थमा देता है। "[1] इसी उपन्यास में जब मारियान और इर्विंग के बीच उपन्यास के अधिकार को लेकर विवाद होता है तो समीक्षकों का मानना यह है कि उपन्यास इर्विंग का है। क्योंकि महत्वपूर्ण विषय को लेकर उपन्यास लिखना नारी के वश की बात नहीं है, " पूरे विवाद के दौरान, नामी समीक्षक–आलोचक यह कहते पाए गए हैं कि इतिहास को इतनी शिद्दत और समझदारी से पुनर्निर्मित करने का काम कोई पुरुष ही कर सकता था। स्त्रियाँ न उतनी तटस्थ हो पाती हैं, न फ़ैंटसी की उतनी ऊँची उड़ान ही भर पाती हैं। धरती से जुड़ी, इतनी घोर प्रेग्मेटिक होती हैं औरतें कि एब्स्ट्रेक्ट चिंतन और इतिहास–बोध, दोनों तात्कालिक अनुभूति के नीचे दब जाते

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–228-229

हैं। हाथ–पाँव मारकर भावना के ज्वर के साथ बह लें तो बहुत समझो। पर सैंसुअल और सेरबरल का समन्वय उनके बस का रोग नहीं है। ''[1]

' माई ' की सुनैना पास होने के बाद बायोलॉजी लेना चाहती है। पर उसके बाबू के अनुसार लड़कियों के लिए साइन्स में कोई भविष्य नहीं है। '' बाबू ने कहा अंग्रेज़ी लो। मैंने कहा, मैं डाक्टर बनूँगी, बायलॉजी लूँगी। दादा ने भृकुटी तानी। दादी खें–खें हँसीं, पचपन परसेन्ट की वाहवाही में आँखें मटकायीं। माई ने बाबू की दलील दोहरायी – लड़कियों के लिए साइन्स में कोई भविष्य नहीं है। ''[2]

पुरुष नारी की नौकरी को टुच्ची और हेय मानती है। उसके विचार में पुरुष जो काम कर रहा है उसकी तुलना में नारी की नौकरी बिलकुल नगण्य है। ' आवाँ ' का संजय नमिता से एक स्थान पर पूछता है, '' जिस टुच्चे–से कैरियर के लिए तुमने गर्भ गिराया . . . क्या कमा लोगी तुम दो कौड़ी की डिज़ाइनर बनकर, नमी! ''[3] ' एक पत्नी के नोट्स ' के संदीप की नज़र में भी पत्नी की नौकरी टुच्ची है। वह अपनी पत्नी से कहता है, '' तुम अपनी एक टुच्ची–सी नौकरी को इतना महत्व देती मुझे शर्म आ जाती है। ''[4]

पुरुष केन्द्रित समाज नारी के व्यक्तित्व के विकास में विश्वास नहीं रखता। वे उनके व्यक्तित्व को बहुत सीमित दायरे में रखना चाहते हैं। उसके जीवन का प्रथम लक्ष्य पत्नीत्व और अंतिम लक्ष्य मातृत्व है। इसलिए नारी को नौकरी करने की कोई ज़रूरत

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–94

[2] गीतांजली श्री, माई, पृ–72

[3] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–540

[4] ममता कालिया, एक पत्नी के नोट्स़, पृ–36

नहीं है। ' तत्–सम ' की वसुधा जब पति के सामने किसी नौकरी करने का प्रस्ताव रखती है तो वह कहता है, " क्यों तुम जीवन को बदरंग करने पर तुली हो। अच्छी स्त्रियाँ देयरफोर अच्छे बच्चे। कुछ समझ में आता है या नहीं? "[1]

' शेषयात्रा ' के प्रणव के विचार में कामकाजी नारी स्नेहशील बीवी नहीं हो सकती क्योंकि वह हमेशा पति से बराबरी करने की कोशिश करती है। उसकी यह मानसिकता चंद्रिका के साथ उसके संवाद से स्पष्ट होता है। चन्द्रिका जो प्रश्न अनु से पूछती है, उसका जवाब देता है प्रणव। उनके संवाद से–

" आप सिर्फ यही (गृहस्थी) करती हैं? "

" यही अनु को बहुत व्यस्त रखता है। इतना बड़ा घर, फिर मेरी देखभाल, इतना ही इनके लिए काफी है। "

" आप नहीं चाहते कि यह कुछ और करें? "

" मुझे कैरियर गर्ल नहीं चाहिए थी, . . . मैं चाहता था सरल, स्नेहशीला बीवी, जिसके साथ बैठकर मुझे सुख–चैन मिले। "

" यानी कि कामकाजी लड़की स्नेहशीला बीवी नहीं बन सकती? "

" कामकाजी लड़की को पति से बराबरी करने के बाद कुछ और करने का समय ही कहाँ रहता है? "[2]

---

[1] राजी सेठ, तत्–सम, पृ–143-44

[2] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, पृ–41

‘ अन्तर्वंशी ’ की वाना को उसके पति नौकरी करने की इजाज़त क्यों नहीं देता, वह वाना के इन शब्दों में प्रकट हुआ है, “ ये मुझे नौकरी करने देंगे? इन्हें तो गरम–गरम दाल–भात और बच्चों की लाँगडोरी चाहिए। ”[1]

नासिरा शर्मा के उपन्यास ‘ शाल्मली ’ में पत्नी की उच्च नौकरी पति को किस हद तक कुंठाग्रस्त बनाता है, इसका चित्रण किया गया है। शाल्मली केन्द्रीय सेवा विभाग में काम कर रही है। पत्नी का ऊँचा ओहदा नरेश के मन में एक प्रकार के हीनता बोध को जन्म देता है। नरेश हमेशा नारी के कामकाजी व्यक्तित्व का विरोध करता है। नौकरी में प्रवेश करने से पूर्व वह शाल्मली से कभी यह पूछता है कि ‘ क्या करोगी नौकरी करके? ’ तो कभी शालमली को हिदायत देता है कि ‘ पढ़ाई–लिखाई को अब गोली मारो! ’। नरेश के विचार में नारी अच्छे पति मिलने की प्रतीक्षा करने के लिए ही पढ़ती है, “ और नहीं तो क्या? खाली बैठने से तो कहीं अच्छा है कि लड़कियाँ अच्छा पति मिलने की ढंग से प्रतीक्षा करें? ”[2] दूसरे स्थान पर भी नरेश स्त्री का घर के बाहर जाकर काम करने की प्रवृत्ति का विरोध करता है। वह शाल्मली से पूछता है, “ तुम औरतें अपने को जाने क्या समझती हो? बाहर नहीं निकलेगी, काम नहीं करोगी, तो संसार के सारे काम ठप्प हो जाएँगे . . . ”[3]

मन में हीनता बोध पालने के कारण नरेश के मन में शाल्मली के व्यक्तित्व को लेकर एक प्रकार का भय है। अपने व्यक्तित्व से पत्नी का व्यक्तित्व ऊँचे उठ जाना उसके लिए असह्य है, “ नरेश भी क्या करे? हर दिन एक अनजाना भय उसे दबोचने लगा था कि शाल्मली का बढ़ता कद उसके अपने व्यक्तित्व से ऊँचा उठता जा

---

[1] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वंशी, पृ–68

[2] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–25

[3] वही, पृ–47

रहा है, उस पर छाता जा रहा है। यदि उसने शाल्मली की लगाम थामकर रखी, तो यह घोड़ी उसके अस्तबल में नहीं रह पाएगी। ''[1] पत्नी ऊँचे ओहदे पर काम करने के कारण नरेश के मन में उससे ईर्ष्या है। शाल्मली का स्वावलंबी हो जाना उसे फूटी आँखें न सुहाता। साथ ही उसकी हीन भावना के कारण वह पूछ बैठता है– '' इसी कमाई पर इतराती हो? यही बताना चाहती हो कि तुम ग्रेट, मैं पोजीश में तुम से कम हूँ? ''[2] नरेश की ईर्ष्या का और एक रूप तब प्रकट होता है जब वह दूसरों को जताना चाहता है कि शाल्मली के ओहदे तक पहूँचना उसके लिए आसान है। '' यदि वह मेहनत में जुट जाए, तो शाल्मली की तरह डिप्टी सेक्रेटरी बन जाना उसके बाएँ हाथ का खेल है। यूँ चुटकी बजाते ही शाल्मली देखती रह जाएगी, मगर वह बैक डोर एन्ट्री नहीं चाहता है। ''[3]

' एक पत्नी के नोट्स ' का संदीप श्रेष्ठता मनोग्रंथी के कारण सबको अपने से तुच्छ मानता है। लेकिन बावजूद इसके उसे अपनी पत्नी की कामयाबी पर ईर्ष्या है। वह हर हालत में उसकी सफलता को रोकना चाहता है। उसके क्रिया–कलाप का ज़िक्र उपन्यास में यों किया गया है– '' अपने विषय की ज्ञाता होने के करण उसे आकाशवाणी और दूरदर्शन से साहित्य संबंधी वार्ताओं के अनुबंध–पत्र आते रहते। जिस दिन संदीप डाक पहले देख लेता, इस तरह के सभी पत्र वह दबा लेता। पहले वह कविता की डाक खोलता, बाद में अपनी। ज़रूरी और निरापद लगनेवाली चिट्ठियाँ वह मेज़ पर रख देता कविता के लिए। बाकी डाक वह अपने ब्रीफकेस में छुपा लेता और दफ्तर जाकर कूड़ेदान में फेंक देता। ''[4]

---

[1] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–75

[2] वही, पृ–107

[3] वही, पृ–125

[4] ममता कालिया, एक पत्नी के नोट्स़, पृ–40

नीचता ग्रंथी के कारण ‘ शाल्मली ’ का नरेश हमेशा दूसरों को यह दिखाने की कोशिश करता रहता है कि शाल्मली पूर्ण रूप से उसके कब्जे में है। नरेश की इस रुग्ण मानसिकता के साथ संतुलन स्थापित करने में शाल्मली को दिक्कत होती है, “ उसका यह मुगालता बीमारी की हद तक बढ़ता जा रहा था कि वह शाल्मली को पूरी तरह से अपने कब्जे में रखे हुए है। वह उसकी पत्नी है, उसकी आज्ञा के बिना वह सांस भी नहीं ले सकती है। वह अपने सारे मित्रों, परिचित लोगों को बता देगा कि शाल्मली की कमाई पर ज़िन्दा नहीं है। वह उसके पद से लाभ नहीं उठाता है, बल्कि शाल्मली उसकी दी स्वतंत्रता का अनुचित लाभ उठाती गुलछर्रे उड़ा रही है। ”[1]

नरेश का विचार ऐसा है कि चाहे बाहर पत्नी कितनी भी कामयाबी हासिल करे, किन्तु घर में वह केवल गूँगी, अन्धी और बहरी होकर रहे। नरेश मित्रों के बीच बैठकर शाल्मली के जिस व्यवहार पर गौरव से भर उठता है, वही बातें घर में सहन करने के लिए तैयार नहीं है। इस संबंध में शाल्मली सोचती है, “ बाहर मैं एक सुशिक्षित, सुतायमान, चतुर–चुस्त जीवन संगिनी बनूँ, मगर घर में केवल एक गूँगी पत्नी जो गूँगी तो हो साथ–ही–साथ समय पड़ने पर अन्धी और बहरी भी बन सकती हो। ”[2] ‘ एक पत्नी के नोट्स ’ के संदीप को भी अपनी पत्नी की उच्च शिक्षा और नौकरी को लेकर गर्व है। लेकिन दूसरे लोगों द्वारा कविता के इन्हीं गुणों का तारीफ उसे पचता नहीं। कविता के बौद्धिक विकास से वह हमेशा आतंकित है, “ उसे कविता की उच्च शिक्षा, काँलेज की नौकरी और दिमागी जागरूकता सब गर्व के योग्य लगतीं, लेकिन वह यह नहीं चाहता था कि कविता के इन्हीं गुणों की तारीफ दूसरे भी करें। . .

---

[1] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–125
[2] वही, पृ–152

. . . . कविता के बौद्धिक विकास से वह आशंकित भी रहता मानो यह विकास ही एक दिन उनके संबंधों का विनाश करेगा। ''[1]

नारी जब नौकरी के लिए घर से बाहर निकलती है तब पुरुष दूसरों को दिखाना चाहता है कि नारी को नौकरी करने की इजाज़त देनेवाला पुरुष है। पुरुष की सहमति के बिना नौकरी के लिए घर से निकलना नारी के लिए संभव नहीं है। ' शाल्मली ' का नरेश तो दूसरों को यह भी दिखाने की कोशिश करता है कि शाल्मली की कामयाबी के पीछे उसका हाथ है, '' इस कारण शाल्मली को मुट्ठी में दबाकर रखना है और शाल्मली उसके इशारों पर नाचती है। यहाँ तक कि बिना उसकी इच्छा के वह ऑफिस भी नहीं जाती है। उसे बनानेवाला, स्वतंत्रता देनेवाला, उसे इस शिखर पर पहूँचानेवाला और कोई नहीं वह है, यानी शाल्मली का पति नरेश . . .। ''[2]

प्रभा खेतान का उपन्यास ' छिन्नमस्ता ' का मुख्य विषय एक औरत द्वारा आत्मनिर्भर होने के लिए किया जानेवाला संघर्ष है। इस संघर्ष में यद्यपि प्रिया सफल निकलती है, किन्तु उसके सामने सबसे बड़ा रोड़ा था उसके पति का व्यवहार। अपने पैरों पर खड़ी नारी नरेन्द्र की सारी कल्पनाओं से परे है। जब प्रिया नरेश के सामने कुछ काम करने की अपनी इच्छा प्रकट करती है तो नरेन्द्र कहता है, '' कोई काम कर लूँ . . . पर कौन–सा? कैसा? पढ़ाने का काम? नरेंद्र से पूछा। उत्तर था–– तुम्हारा दिमाग खराब हुआ है! तुम गुप्ता हाउस की बेटी नहीं, अग्रवाल हाउस की बहू हो! ''[3] स्त्री नौकरी के लिए जब घर से निकलती है तब ही पुरुष कर्म–क्षेत्र में उसे कितना आगे बढ़ना है, इसका निश्चय करता है। वह हमेशा स्त्री को उसके दायित्वों का स्मरण

---

[1] ममता कालिया, एक पत्नी के नोट्स़, पृ–38

[2] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–125

[3] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–156

दिलाता रहता है। नरेन्द्र एक स्थान पर कहता है, " और देखो प्रिया! जिस दिन तुमने काम शुरू किया था, उसी दिन मैंने कह भी दिया था –– काम करो पर यह मत भूलो कि तुम विवाहिता हो, एक बच्चे की माँ हो, अग्रवाल हाऊस की बहू हो। "[1] इस बात को लेकर आज नरेन्द्र को दुख है कि उन्होंने प्रिया को व्यवसाय शुरू करने की इजाज़त देखकर बहुत बड़ी गलती की, " दर असल तुम्हें इतनी खुली छूट देने की गलती मेरी ही थी। मुझे पहले ही चिड़िया के पंख काट डालने चाहिए थे। पर मैं तुम्हारी बातों में आ गया। तुम्हारे इस भोले चेहरे के पीछे एक मक्कार औरत का चेहरा है। "[2]

' एक पत्नी के नोट्स ' के संदीप को भी लगता है कि उसने पत्नी को नौकरी दिलाकर बड़ी गलती की है। उसको लगता है कि अब कविता का ध्यान उससे हट गया है और अब पत्नी को उसकी ज़रूरत नहीं है, " संदीप की हस्ती में संतुलन एक सहज प्रक्रिया नहीं बल्कि सायास उपक्रम के रूप में ही आता था। जाने बचपन की वह कौन–सी ललक थी जिसके तहत वह हर समय किसी का ध्यान अपने ऊपर केन्द्रित चाहता था। अगर ऐसा न होता तो वह अपने को बुझा हुआ, बीमार और हताश महसूस करता। फिर कविता तो उसकी पत्नी थी। उसके दिल, दिमाग और देह के सभी शेड्स वह पहचानता था। जल्द ही उसे लगा उसने कविता को नौकरी दिलाकर भारी भूल की है। अब कविता को उसकी ज़रूरत नहीं है। एक फ्लैश की तरह यह विचार उसके दिमाग में एक दिन कौंधा और फिर एक बैखलाहट की तरह उसके रोज़मर्रा के कर्यकलाप में समा गया। "[3]

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–11

[2] वही, पृ–11

[3] ममता कालिया, एक पत्नी के नोट्स़, पृ–22

‘ छिन्नमस्ता ’ की प्रिया की दृष्टि में उसका व्यवसाय अपनी पहचान है। किन्तु नरेन्द्र के विचार में प्रिया का लक्ष्य केवल पैसा कमाना ही है। इसलिए पैसों से भरा सूटकेस प्रिया के सामने उलटता है। नारी की नौकरी को और उसके कामकाजी व्यक्तित्व को गौण माननेवाला पुरुष की मानसिकता ही यहाँ प्रकट होता है। प्रिया उस घटना की याद करती है–“ उस दिन मेरे सामने रूपयों से भारी ब्रीफकेस उलटते हुए नरेंद्र चीखा था, “ तुम्हें रूपए चाहिए ना? बोलो कितने रूपए? लाख, दस लाख, करोड़? रूपए . . . रूपए . . . रात–दिन रूपए के पीछे भागती रहती हो। चुप क्यों हो? बोलो, जवाब दो। लो, यह लो! ”[1] ‘ आओ पेपे घर चलें ’ की कैथी भी नौकरी को एक पहचान के रूप में देखना चाहती है। उसके पति ब्रैड़ी के पास पैसों का अभाव नहीं है और उस पैसों से जितना भी खर्च करने के लिए कैथी आज़ाद है फिर भी उसके मन में कोई न कोई काम करने की इच्छा है। किन्तु उसे पति की सहमति प्राप्त नहीं है। वह कहती है–“ . . . मैं भी चाहती हूँ कि अपने किसी काम में ऐसी डूब जऊँ कि मुझे ब्रैडी की ज़रूरत ही महसूस न हो, मगर वह मुझे काम नहीं करने देगा। ”[2]

स्त्री की आत्मनिर्भरता को पुरुष अहंकार की संज्ञा देता है। ‘ छिन्नमस्ता ’ की प्रिया का व्यवसाय दिन–ब–दिन विकास की ओर अग्रसर हो रहा है तो उसके पति नरेश को लगता है कि वह उससे होड़ करने में लगी है। वह प्रिया के भाई से उसकी शिकायत करता है,

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–10

[2] प्रभा खेतान, आओ पेपे घर चलें, पृ–132

“ पूछिए अपनी बहन से। काम फैलाती जा रही है। काम करने का सवाल ही नहीं . . . अरे इनको तो मुझसे होड़ करनी है . . . ‘ तुम्हीं कमा सकते हो, मैं कमाकर दिखा दूँगी। ’ इतना अहंकार। ”[1]

जब स्त्रियाँ घर के चारदीवारी से निकलकर अपने ही पैरों पर खड़ी होने लगी तो उसके पारिवारिक जीवन में भी परिवर्तन आने लगा। आत्मनिर्भर होने से पूर्व जहाँ नारी कई अनुचित समझौते करने के लिए विवश थी वहाँ आत्मनिर्भरता ने उसे अपने बारे में फैसला लेने को सक्षम बनाया। यह स्थिति तलाक जैसे मामलों में वृद्धि लायी। किन्तु वहाँ भी पुरुष घर टूटने की पूरी ज़िम्मेदारी औरत पर आरोपित करना चाहता है। ‘ आवाँ ’ के पवार के शब्दों में पुरुष की यही सोच प्रकट है, “ स्वालंबन ने स्त्री को संरक्षक की आवश्यकता से मुक्त कर दिया। पति की जगह उसे एक अदद कठपुतली नौकर की ज़रूरत–भर शेष रह गई, जो उसे आटे–दाल के जंजाल से मुक्त रखे। उसकी स्वच्छंदता को पोसे। गूँगे दर्शक–सा। परस्परता विकसित होनी चाहिए थी। संतुलित। हो रहा है उलटा। घर टूट गए। टूट रहे। टूटेंगे। त्रिशंकू बनी संतानें अपने अस्तित्व के अपरिचय से झूझ रहीं। जूझेंगी। समस्या विकराल से विकरालतर होती जा रही। ”[2]

कामकाजी नारी और उसके व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से स्वीकारने में उसके पति या पुरुष तैयार नहीं हुए हैं। कहना न होगा कि कामकाजी नारी के प्रति एक स्वस्थ और प्रगतिशील दृष्टिकोण अभी तक पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुआ है। क्षमा शर्मा के शब्दों में, “ आज भी जब ज्यादा –से ज्यादा औरतें बाहर निकल रही हैं, पुरुषों के मन को खरोंचकर देखिए तो उन्हें नौकरीपेशा औरतें पसन्द नहीं हैं। एक तो पैसे

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–173

[2] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–129

कमानेवाली पत्नी दबकर नहीं रहती, सौ फीसदी सेविका नहीं बन पाती; दूसरे वे समझते हैं कि वे जो व्यवहार अपनी महिला साथियों के साथ करते हैं वही व्यवहार उनकी स्त्रियों को झेलना पड़ सकता है। ''[1]

कामकाजी नारी और समाज

हमारा समाज कामकाजी नारी के ऊपर जो दृष्टिकोण रखता है, वह उतना वाँचनीय नहीं है। आखिर हमारा समाज पितृसत्तात्मक मूल्यों के आधार पर ही निर्मित है। कामकाजी नारी को समाज संदेह भरी दृष्टि से ही देखता और आंकता आया है। समकालीन संदर्भ में समाज के विचारों में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है किन्तु कामकाजी नारी को आज भी शंका और झिझक भरी दृष्टि से देखनेवालों का आज भी अभाव नहीं है। पितृसत्तात्मक साँचे में ढलने के कारण स्वयं नारियों के मन में भी कामकाजी नारियों के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण विकसित नहीं हुआ है। समकालीन नारीवादी उपन्यासों में समाज की नज़र में कामकाजी नारी का जो रूप है उसका वास्तविक चित्रण हुआ है।

नारी–शिक्षा को लेकर समाज का विचार खासकर, गाँव–केंद्रित समाज का विचार उतना स्वस्थ नहीं है। यह सही है कि शहरों के उच्च और मध्यवर्गीय परिवारों में लड़की–शिक्षा संबंधी विचारों में काफी सुधार आया है किन्तु गाँव केन्द्रित समाजों में आज भी पुरानी मानयताओं का ही अनुसरण हो रहा है। लड़की को शिक्षा के नाम पर घर से बाहर घूमने का अवसर देना बेवकूफी होगा, ' कठगुलाब ' के कुछ गाँववाले ऐसा विचार रखता है, '' गाँव के पिताओं ने बतलाया कि इस देहाती स्कूल में केवल कन्याओं को इसलिए पढ़ाया जाता था, क्योंकि सरकारी स्कूल गाँव की सरहद से बाहर, सड़क पार करके था। लड़कों को तो वहाँ भेजा जा सकता था पर लड़कियाँ

[1] क्षमा शर्मा, स्त्रीवादी विमर्शः समाज और साहित्य, पृ–49

ठहरीं घर की इज्जत। उन्हें जवान–जहान छोकरों के सामने इतनी दूर कैसे घुमाया जा सकता था? खुली हवा में घूमने की आदत पड़ जाती तो खूँटे से बाँधकर रखना मुश्किल हो जाता न। ''[1]

' आओ पेपे घर चलें ' की प्रभा आत्मनिर्भर बनने के लिए ही अमरिका आयी है। वह मारवाड़ी समाज की लड़की है। मारवाड़ी समाज में लड़की की कमाई को बहुत ही हेय दृष्टि से देखा जाता है। क्योंकि वहाँ बेटी दान की वस्तु है। प्रभा की कमाई से एक भी पैसा लेने को उसकी माँ तैयार नहीं है। प्रभा कहती है, '' मेरी माँ मेरी कमाई से एक पैसा भी नहीं लेंगी। हमारे समाज में बेटी दान की वस्तु है, इसलिए माँ जीजी के घर से यदि एक गिलास पानी भी पीना पड़े, तो बदले में ग्यारह रूपए देकर आती हैं। ''[2] प्रभा खेतान के अन्य उपन्यास ' छिन्नमस्ता ' के केन्द्र में है मारवाड़ी समाज की लड़की प्रिया की आत्मनिर्भर होने की कहानी । प्रिया के विचार में नौकरी के मामले में भी समाज स्त्री–पुरुष के लिए भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण अपनाता है। वह कहती है, '' यही कि बाद में एक दिन मैंने सोचा कि एक पुरुष पैसे कमाता है और दो–चार लोगों को पाल देता है, लेकिन स्त्री यदि सीमाएँ लाँघ जाए तो वह पारंपरिक समाज उसके लिए खत्म हो सकता है। ''[3]

' आवाँ ' की कुंती के अनुसार लड़की की नौकरी उसके अच्छे वर मिलने का विकल्प मात्र है। आजकल शादी–बाज़ार में नौकरीपेशा नारियों की माँग बढ़ रही है। अच्छी नौकरी जिस लड़की के पास है उसका भविष्य भी उज्वल होने की संभावना है, '' कुंती मौसी का कहना है कि अच्छे घर के लोग आजकल नौकरी–पेशा

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–223-224

[2] प्रभा खेतान, आओ पेपे घर चलें, पृ–90

[3] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–210

लड़कियों को बहू बनाने को अधिक लालायित रहते हैं। जितनी ऊँची नौकरी, ब्याह का भविष्य उतना ही उज्ज्वल! "[1] लेकिन नमिता इस प्रवृत्ति की आलोचना करती है। उसके अनुसार लड़कियों की आत्मनिर्भरता को अच्छे घर–वर मिलने के विकल्प के रूप में स्वीकारना लड़कियों के साथ अन्याय करना है। इसलिए वह उन विज्ञापनों का विरोध करती है जिसमें नौकरी–पेशा लड़कियों को प्रथमिकता देने की बात कही है, " विवाह के लिए दिए गए विज्ञापनों में सौ में से नब्बे फीसदी प्रस्तावों में नौकरी–पेशा लड़कियों को प्राथमिकता देने की बात होती है। तय है कि लड़कियों के लिए आत्मनिर्भरता उनके अच्छे ब्याह का विकल्प मात्र है। खूब हँसी आती है उसे। कई दफे उसे लगता है कि लड़कियों को सामूहिक रूप से ऐसे विज्ञापनों के खिलाफ मोर्चेबंदी करनी चाहिए कि वैवाहिक विज्ञापनों में तत्काल ऐसी बेहूदगियाँ बंद होनी चाहिए। यह सरासर लड़कियों का अपमान है कि वे इसलिए आत्मनिर्भर बनें कि उन्हें एक अदद अच्छा घर–वर मिले। आत्मनिर्भर लड़की को घर–बार साधारण भी मिले तो क्या फर्क पड़ता है? न भी ब्याह करे तो कौन–सी आफत! नौकरी करे, खुश रहे। "[2]

कामकाजी नारी को शक भरी दृष्टि से देखना समाज की आदत सी पड़ गई है। कामकाजी नारी के चरित्र को लेकर समाज काफी परेशान है। नारी की नौकरी और उसकी स्वतंत्रता को उसकी दुश्चरित्रता के प्रमाण के रूप में देखते हैं समाज। कामकाजी नारी से संबंधित अफवाहें समाज में बहुत आसानी से फैल जाती हैं। यही बात ' एक ज़मीन अपनी ' की अंकिता के साथ भी होती है। वह सोचती है, " स्वयं अपने विषय में उसे बड़ा कचोट–भरा अनुभव है कि औरत की स्वतंत्रता उसकी सबसे बड़ी दुश्मन है, दुश्चरित्रता का प्रमाण पत्र! सुधांशु से अलग हो जब वह घर लौटी थी, आस–पड़ोस ने ही नहीं पूरे शहर ने छींटाकशी की थी –– " नौकरी करने वाली

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ– 63
[2] वही, पृ–63

लड़की कहीं घर में बंद होकर टिक सकती है? अरे इसका तो अपने फुफेरे भाई के साथ पुराना चक्कर था, दुल्हे ने रंगे हाथ पकड़ा तो . . . ”[1]

‘ अकेला पलाश ’ की तहमीना को भी लगती है कि वह बाहर काम करने के कारण, बाहर उसके नाम होने के कारण लोग उसके बारे में अफवाहें उड़ा रही हैं। उसे लगती है कि एक साधारण स्त्री की ज़िन्दगी जीना कामकाजी स्त्री की नसीब में नहीं है। वह कहती है– “ हर युग में औरत को अग्नि–परीक्षा देनी होती है। दुनिया जब किसी को कुछ नहीं दे सकती, बदनामियाँ देकर ही अपना दामन झाड़ लेती है। आज मैं क्योंकि बाहर काम कर रही हूँ, मेरा बाहर नाम है, तब यह लोग मेरे बारे में उल्टी–सीधी अफवाहें उड़ा रहे हैं, पर यह दुनिया और उसके लोग तब कहाँ गए थे जब एक मासूम लड़की का उसकी अपनी माँ, एक बड़े उम्र वाले आदमी के साथ सौदा कर रही थी अपने ही सुखों की खातिर? बोलो, तब यह लोग कहाँ गए थे? जब मैंने घुट–घुटकर एक–एक पल बिताया था और क्या आज मुझे अपने मन से जीने का हक नहीं? सिर्फ इसलिए कि मैं एक अच्छे ऊँचे पद पर काम करती हूँ, लोगों में मेरा नाम है, क्या इसलिए मैं एक आम औरत होकर जी नहीं सकती? ”[2]

पितृसत्तात्मक समाज के साँचे में ढलने के कारण कामकाजी नारी के प्रति सामन्ती नज़र रखनेवाली स्त्रियों का भी अभाव नहीं है। इन केलिए कामकाजी नारी की स्वतंत्रता उसकी बिगड़ने का प्रमाण है। ‘ अपने–अपने चेहरे ’ की मिसेज गोयन्का एक स्थान पर कहती है, “ और सच बात तो यह है भाभीजी कि मुझे तो खुद ज़्यादा

---

[1] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–25

[2] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ151

स्वतंत्रता अच्छी नहीं लगती। कहीं बिगड़ न जाए? आजकल तो जिसको देखो वही ऑफिस जाने के लिए तैयार बैठा है। ''[1]

कामकाजी नारी को स्वयं अन्य महिलाएँ भी एक झिझक भरी दृष्टि से ही देखती हैं। कुछ नारियाँ तो संकोच के कारण कामकाजी नारियों से एक प्रकार का फासला रखना चाहती है। शाल्मली को लगती है कि दूसरी स्त्रियाँ जो कामकाजी नहीं है, उसके साथ बातें करते समय एक संकोच का अनुभव कर रही है। वह सोचती है, '' मगर पता नहीं क्यों उससे बातें करते एक संकोच का अनुभव विशेषकर महिलाएँ कर रही थीं? शायद उनको अपने घरेलू होने की कुंठा और शाल्मली के काम-काजी होने का भय संकोच में डाल रहा था और शाल्मली सोच रही थी कि औरत तो सब कुछ प्राप्त करने के बाद भी घरेलू रहती है और इस एक धरातल पर खड़े होकर आपसी झिझक क्यों? ''[2]

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि कामकाजी नारी के प्रति समाज का एक स्वस्थ दृष्टिकोण अभी तक विकसित नहीं हुआ है। समाज की मानसिकता को समझने के लिए ' छिन्नमस्ता ' की प्रिया का यह कथन ही पर्याप्त है कि '' फिलिप! अपने पैरों पर खड़ी एक औरत को स्वीकार कर पाने में अभी हमारे समाज को समय लगेगा। ''[3]

कामकाजी महिला की दोहरी भूमिका : घर और ऑफिस में

घर और ऑफिस की दोहरी ज़िम्मेदारी निभाना कामकाजी महिला की सबसे बड़ी समस्या है। इस दोहरी भूमिका निभाते समय उसे प्राय: पति और परिवर के

[1] प्रभा खेतान, अपने-अपने चेहरे, पृ-31

[2] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ-81

[3] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ-208

अन्य सदस्यों का सहयोग उतना नहीं मिलता जितना वह अपेक्षा करती है। जब पुरुष पूरे घर की आर्थिक ज़िम्मेदारी निभा रहा था तब घर के अंदर के कामों की ज़िम्मेदारी स्त्री निभा रही थी। आज कामकाजी नारी परिवार की आर्थिक ज़िम्मेदारी में सहयोग दे रही है किन्तु बदले में उसे घर के अंदर के कामों को निभाने में किसी का सहयोग नहीं मिलती। परिवारवाले कामकाजी नारी से आज यही उम्मीद रखती है कि वह घर के सभी कामों का निर्वाह करे और नौकरी भी करे, " हमारे देश में औरत यदि पढ़ी–लिखी है और काम करती है, तो उससे समाज और परिवार की उम्मीदें अधिक होती हैं। लोग चाहते हैं कि वह सारी भूमिकाओं को बिना किसी शिकायत के निभाए। वह कमा कर भी लाए और घर में अकेले खाना भी बनाए, बूढ़े सास–ससुर की सेवा भी करे और अपने बच्चों का भरण–पोषण भी। "[1]

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में घर और ऑफिस की दोहरी भूमिका निभानेवाली औरतों का चित्रण हुआ है। कामकाजी नारी घर के कामों और ऑफिस के कामों के बीच पड़कर हर क्षण पिसती जा रही है। घर के कामों को निभाकर वक्त पर ऑफिस पहूँचने के लिए उसे हर रोज़ एक दौडधूप ही करना पड़ती है। मेहरुन्निसा परवेज़ की ' अकेला पलाश ' में घर और ऑफिस की दोहरी भूमिका निभानेवाली नारी का चित्रण उपलब्ध है, " सोचते–सोचते अचानक उसने घड़ी की ओर देखा तो चौंक गयी, ओह तो ऑफिस का टाइम हो गया था, अब क्या होगा! वह जल्दी से रसोई की ओर दौड़ी। "[2] तबियत बिगड़ने पर भी घर के काम करने को मजबूर हो जाती है तहमीना। पिछले दिन काम से संबंधित दौरा करने के कारण वह थकी हुई है और सिर दर्द से परेशान है। फिर भी वह आराम के बारे में सोच नहीं सकती क्योंकि उसके सामने घर का सारा काम पड़ा है, " सुबह वह उठी तो सर में

---

[1] प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता– प्रस्तुति संदर्भ, पृ–15

[2] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ–30

बहुत भारीपन था, तबियत भी गिरी–गिरी–सी थी, जैसे रात को बुखार आया हो। सर को उसने दो–तीन बार हल्का करने के लिए झटके दिए पर भारीपन बना ही रहा। उठाना तो था ही, गृहस्थी के सारे काम उसका इन्तज़ार कर रहे थे। चाय बनानी थी, नाहिद बाजी के लिए नाश्ता बनाना था, रिंकू को स्कूल भेजना था, और दिन–भर के सारे काम थे। "[1]

पति और परिवारवालों के सहयोग के बिना घर और ऑफिस की दोहरी भूमिका निभाना कामकाजी औरत के लिए संभव नहीं है। किन्तु देखने में तो यही आया है कि सहयोग तो दूर की बात है, छोटे से समझौते के लिए भी वे तैयार नहीं होते। ' अकेला पलाश ' का जमशेद ऐसा ही पति है जो किसी समझौते के लिए तैयार नहीं है। तहमीना काम संबंधी दौरे के बाद घर देरी से आयी है, वह थकी हुई है। इस स्थिति में भी खाना पकाने के लिए तहमीना विवश है।

तहमीना–जमशेद संवाद से––

" मेरे सर में बहुत दर्द हो रहा है, आपके लिए कूकर में खिचड़ी बना दूँ? "

" तुम्हें पता है मैं रात को चावल नहीं खाता, " . . . . " मेरे लिए तो तुम रोटी और सब्जी बना दो। "

" इतना सब बनाते हुए तो काफी टाइम हो जायेगा, आज के लिए प्लीज खिचड़ी खा लो न, " . . . . .

" मैं कुछ नहीं जानता, मुझे खाना है और अच्छा खाना खाना है। इतनी रात हो गयी और खाने का पता नहीं है, चाय तक नहीं पी, " . . . .

---

[1] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ–32

" मगर गैस पर चाय तो बनाकर पी सकते थे आप। "

" अच्छा सीख देने की अब आवश्यकता नहीं "[1]

कामकाजी महिलाएँ घर और ऑफिस की दोहरी ज़िम्मेदारी निभाते समय तनाव और दबाव झेलने को मजबूर हो जाती है। घर या ऑफिस किसी एक जगह कोई समस्या होने पर दोनों के बीच का संतुलन नष्ट हो जाती है। नासिरा शर्मा के 'शाल्मली' उपन्यास में नरेश और शालमली के पारिवारिक जीवन में जो विघटन है इसका प्रभाव शाल्मली के कामों में भी छा जाता है, " यह प्रभाव उसके कार्यकलापों में झलकने लगा था, जो फैसले वह क्षण भर में एक हस्ताक्षर से कर लेती थी, वे अब ' हाँ ' और ' नहीं ' के झूले में झूलते हफ्तों फाइल में अटके पड़े रहते रहते। मीटिंग में भी कभी–कभी वह बड़ी शंकित–सी हो अटपटे प्रश्न उठाती और मातहतों के साथ वह अब उतनी सहज और उनमुक्त नहीं रह पाई थी। "[2]

घर और ऑफिस, दोनों जगहों की व्यस्तता कामकाजी नारी के तनाव को बढ़ाता है। इस व्यस्तता के समय भी पति या घरवालों की उपेक्षा भाव उसके तनाव को और बढ़ाता है। श्रीमति कुमुद शर्मा के शब्दों में, " कामकाजी स्त्री अपनी नई और पुरानी भूमिका का एक साथ निर्वाह करते–करते कभी–कभी टूटन की कगार तक पहूँच जाती है। परंपरागत तथा पुरुष–प्रधान वातावरण में उसके लिए कोई संवेदना नज़र नहीं आती। शारीरिक और मानसिक सामर्थ्य के चुक जाने पर वह तनावग्रस्त रहने लगती है। "[3] ' शाल्मली ' उपन्यास में शाल्मली को व्यस्तता के कारण बीमार माँ के पास जाने की भी फ़ुरसत नहीं मिलती। उसका जीवन घर और ऑफिस के बीच पड़कर नीरस हो जाता है। किसी भी प्रकार के मनोरंजन के लिए भी उसके पास समय नहीं

---

1 मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ–43

2 नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–168

3 कुमुद शर्मा, स्त्रीघोष, पृ–65

है। वह सोचती है, " शाम को घूमना–मिलना–जुलना सब कुछ बंद हो गया है। घर, ऑफिस, घर। मनोरंजन के नाम पर फिल्म भी गए साल से ऊपर हो गया है। नाटक चित्रप्रदर्शिनी इत्यादी तो सपना लगने लगी है। "[1] सुप्रसिद्ध लेखिका क्षमा शर्मा भी इस बात से सहमत है कि दोहरी भूमिका स्त्री के तनाव को बढ़ाती है। वह लिखती है,

" जो स्त्रियाँ नौकरी करती हैं, घर चलाती हैं, उनकी ज़िम्मेदारी दोहरी है। इन महिलाओं से भी अच्छी पत्नी, अच्छी माँ, और अच्छी आतिथेय करनेवाली की उम्मीद अधिक की जाती है। इस कारण नौकरीपेशा स्त्रियों में तनाव अधिक बढ़ता है। "[2]

कभी–कभी ऑफिस में निर्धारित समय के बाद भी काम करने को विवश हो जाती है कामकाजी महिलाएँ। उसके बाद घर लौटने पर उसे परिवारवालों की सवालिया नज़रों का सामना करना पड़ता है। इसके अलावा घर के कामों को संभालने में भी उसे दिक्कत होती है। फिर भी मजबूरी के कारण उसे निर्धारित समय के बाद भी ऑफिस में रुकना पड़ता है।

' अन्तर्वंशी ' की वाना कभी–कभी देर रात तक ऑफिस में काम करने को मजबूर हो जाती है। लेकिन मजबूरी के कारण उसे खामोश रहना पड़ता है, " लम्बा दिन! ग्रेस बहुत व्यस्त है, वह वाना को आँफीस में ओवर टाइम करने को कहती है। हमें ऑफिस देर तक खुला रखना चाहिए–– वाना कहना चाहती है, उसकी गृहस्थी है, बच्चे हैं, वह रात को आठ–नौ बजे तक दफ्तर में नहीं रुक सकती। "[3]

' ठीकरे की मंगनी ' की महरूख, जो अध्यापिका है, की ज़िन्दगी स्कूल और घर के कामों के बीच का एक दौड़ ही है। उसके जीवन में घर के काम और नौकरी के अलावा और किसी बात के लिए समय नहीं है, " बाड़ के इम्तहान शुरू हो

---

[1] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–92

[2] क्षमा शर्मा, स्त्रीवादी विमर्श: समाज और साहित्य, पृ–69

[3] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वंशी, पृ–171

गए थे। महरूख की सुबह कब शुरू होती, दिन कब खत्म होता और रात कब गुज़र जाती, उसे किसी बात का होश नहीं था। घर का काम, स्कूल और फिर बच्चों को शाम से लेकर रात गए तक पढ़ाना, इसी ढर्रे पर उसकी ज़िन्दगी दौड़ती गुज़र रही थी। ”[1]

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि घर और ऑफिस की दोहरी भूमिका निभाते समय नारी को पूरे परिवार के सहयोग की सख्त ज़रूरत है। लेकिन वर्तमान स्थिति ऐसी है कि उसे उतना सहयोग नहीं मिलता जितना कि उसे मिलना चाहिए। समकालीन नारीवादी उपन्यास इस मामले में भी पुरुष की मानसिकता में एक बदलाव की माँग प्रस्तुत करते हैं।

कामकाजी महिला और आर्थिक शोषण

वर्तमान सामाजिक और अर्थ व्यवस्था में एक व्यक्ति की आय से पूरे परिवार का भरण–पोषण संभव नहीं है। मनुष्य आज अधिक से अधिक भौतिक सुविधाएँ इकट्ठा करना चाहता है। इस कारण आज पुरुष स्त्री के कामकाजी स्वरूप को स्वीकर करने लगा है। स्त्री की कमाई को आज उतनी हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता जितना कि कुछ वर्ष पहले थी। विवाह से पूर्व कामकाजी नारी की कमाई पर माँ–बाप का और शादी के बाद पति का हक बना रहता है। इस प्रकार आज कामकाजी नारी अर्थोपार्जन का एक अच्छा साधन बन गया है। लेकिन कामकाजी नारियाँ नौकरी करते हुए भी आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर नहीं हो पाती। क्योंकि अपनी कमाई पर उसका कोई हक है, यह देखने में बहुत कम ही आया है। समकालीन नारीवादी उपन्यासों में कामकाजी नारी पर होनेवाले आर्थिक शोषण के विभिन्न रूपों का चित्रण हुआ है।

---

[1] नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, पृ–97

हर मामले में पुरुष स्त्री को उपयोगिता की दृष्टि से ही देखना चाहता है। सेक्स् के मामले में वह महज देह है तो धनोपार्जन के मामले में वह धन पैदा करने की मशीन है। आजकल लड़कियों की नौकरी को दहेज के विकल्प के रूप में स्वीकार किया जाता है। ' शाल्मली ' के नरेश की मानसिकता भी कुछ इस तरह है। वह कहता है, '' देखो, लड़की पढ़ी–लिखी है, तो धन का लालच छोड़ो, क्योंकि धन पैदा करने की मशीन तो वह है ही। मेरा ही किस्सा लो। ''[1] शाल्मली के कामकाजी व्यक्तित्व का विरोध करनेवाला नरेश उसकी कमाई से ऐशोआराम आर्जित करने से किसी भी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करता। वह शाल्मली की आय से कभी नयी फ्लैट खरीदना चाहता है, कभी मोटर कार खरीदना चाहता है तो कभी शेयर खरीदना चाहता है। शाल्मली की कमाई को लेकर नरेश की सोच दूसरे स्थान पर भी प्रकट हुआ है। शाल्मली की नौकरी के बारे में वह सोचता है, '' केवल काम करने में उसे कौन–सा सुख प्राप्त हो रहा है, जो इस नौकरी से मिलती सुविधाओं का लाभ उठाने से कतराती है, लेकिन मैं धीरे–धीरे करके उसको राह पर ले आऊँगा। यह औरतें होती मेहनती हैं, मगर बुद्धि का प्रयोग एकदम नहीं करती हैं। बस जुट जाती है काम में। ''[2]

' अकेला पलाश ' की विमला एक आश्रम में रहती है। उसका आर्थिक शोषण करता है वहाँ का स्वामीजी। विमला ग्रेजुयेट है। स्वामीजी के साथ रहने के कारण उसका पूरा खर्च विमला को उठाना पड़ता है। स्वामिजी यहाँ दूसरे आश्रम से विमला को बचाने के बहाने, जहाँ इसका यौन शोषण हो रहा था, इसका आर्थिक शोषण कर रहा है, '' तहमीना समझ गयी स्वामीजी ने इसे कमाई का आधार बनाया है, इसकी बिगड़ी का उपयोग कर रहे हैं, वरना साधु–संन्यासियों को नौकरी करने की क्या

---

[1] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–81

[2] वही, पृ–57

आवश्यकता? दूसरे आश्रम में इसके शरीर का उपयोग किया गया, और यहाँ डिग्री का हो रहा है। मतलब यह कि हर व्यक्ति अपने–अपने ढंग से इसे बहका रहा है। ”[1]

आर्थिक उपलब्धि पर नज़र रखते हुए लड़की के विवाह को टालने की प्रवृत्ति भी आजकल समाज में पनप रहा है। घर की आर्थिक स्थिति न गिर जाए, इस उद्देश से लड़कियों की शादी स्वयं माँ–बाप ही टालना चाहते हैं। इस संबंध में श्रीमति कुमुद शर्मा का कथन उल्लेखनीय है, “ उपभोक्तावादी संस्कृति के विस्तार ने कामकाजी औरत के शोषण के नए–नए हथियार पैदा किए हैं। मध्य वर्गीय जीवन में कामकाजी स्त्री का शोषण ससुराल में नहीं होता, अब इसमें मायका भी शामिल हो गया है। नौकरीशुदा लड़की की आय परिवार की अतिरिक्त आय समझी जाने लगी है। ऐसे उदाहरण भी सामने आने लगे हैं, जहाँ माँ–बाप नौकरीशुदा लड़की के विवाह में दिलचस्पी लेना बंद कर देते हैं। परिवारवालों की विवाह के प्रति उदासीनता के बाद अगर वह स्वयं विवाह की घोषणा करती है तो वह घोषणा एक अजूबा बन जाती है। हालाँकि यह भारतीय लड़कियों की बहुत सामान्य स्थिति नहीं है, अपवाद स्थिति है। लेकिन अब इन अपवादों की संख्या बढ़ने लगी है। मध्य वर्गीय जीवन की जटिलताएँ, विसंगतियाँ मानवीय संवेदना को तार–तार कर रही हैं। माँ–बेटी, पिता–पुत्री का पारंपरिक रिश्ता भी उपभोक्तावादी समय की भेंट चढ़ने लगा है। उन्हें लगता है, लड़की जब तक अविवाहित है तब तक घर की आर्थिक ज़िम्मेदारियों में हाथ बँटाती रहेगी, शादी हो जाने पर यह आर्थिक सहायता खत्म हो जाएगी। ”[2]

‘ अकेला पलाश ’ की नाहिद बाजी पेशे से डॉक्टर है। वह काफी अरस्से तक घर की आर्थिक ज़िम्मेदारी निभाती रही। लेकिन उसकी शादी की ख्याल किसी को नहीं

---

[1] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ–65

[2] कुमुद शर्मा, स्त्रीघोष, पृ–65-66

थी। जब वह अपने साथ काम करनेवाले महेश से विवाह करने का निश्चय करती है तो घर के लोग उसके विरुद्ध खड़े हो जाते हैं। नाहिद बाजी कहती है, " मैं आखिर कब तक घर के पीछे अपने को मारती रहूँगी? जो फर्ज भाइयों का है उसे मैं अब तक निभाती आयी, पर तब भी किसी को मेरा ख्याल नहीं हुआ, और अगर आज मैंने खुद अपनी पसंद से किसी को चुन लिया तो इसका यह मतलब नहीं कि लोग मेरा अपमान करें। "[1] ' तत–सम ' की कल्पना जो परिवार की बड़ी लड़की है, की स्थिति भी इससे कुछ भिन्न नहीं है। दायित्व उठाने की उसकी तत्परता ने दूसरों को दायित्वहीन बनाया है, " घर भर पर पिता बनकर छाया है उसका प्रौढ़ कुँवारापन। वह गुरुता जब चुनी थी तब मजबूरी थी। अब नियति बन गई। अक्षुण आर्थिक नियति। दो भाइयोंवाले घर को अभी तक भी अनुकूल पड़ता है उसका अभय आशीर्वादी हाथ। बेमाँग सयानापन। दायित्व उठाने की उसकी तत्परता ने दूसरों को दायित्वहीन ही बनाया था। छोटी बहिन बौराई थी प्रेम दीवानी . . . उसकी पीर को पहिचानना ही पड़ा। ब्याही गई। कृतार्थ हुई। भाई पढ़े–लिखे भी। फूले–फले भी। ब्याहते–बच्चेदार भी हुए। कल्पना वहीं–की–वहीं . . . रिसने से व्यथित कभी कलेजे की दाह से पीडित। "[2]

' कठगुलाब ' की नर्मदा की सारी कमाई उसके जीजा और बहन छीन लेते हैं। नर्मदा को बचपन से ही जीजा ने चूड़ी–कारखाने में बेचा था। नर्मदा की सारी कमाई छीनने के बाद भी जीजा का दावा यह था कि नर्मदा और उसके भाई का देखभाल करने वाला वह है। नर्मदा कहती है, " बस हो गया मेरा बचपन खतम। वो खेल नहीं, बीबी, काम था। किये के पैसे मिले थे। उनसे मेरे और भाई के वास्ते

---

[1] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ98

[2] राजी सेठ, तत्–सम, पृ–142

दाल–रोटी बनी थी। पूरे ना पड़ते होंगे, तभी जीजा जब–तब सुनाया करे था, " तेरे हरामी बहन–भाई पर सारी कमाई लुट गई मेरी। "[1]

कामकाजी स्त्री को अपनी कमाई स्वेच्छा से खर्च करने का अधिकार नहीं है। उस का अधिकार पुरुष में ही निहित है। पुरुष स्त्री को स्वतंत्रता, यानि घर से बाहर काम करने की छूट अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही देता है। ' अकेला पलाश ' के तुषार के शब्दों में, " तुम्हें भी जानता हूँ तहमीना, तुम किसी के हाथ में नाचती महज कठपुतली हो। हम पुरुष–वर्ग जो अपने आपको स्त्री का स्वामी कहते हैं, वह दर असल झूठ है। हम अपने स्वार्थ के लिए ही स्त्री को इतनी स्वतंत्रता देते हैं ताकि वह घर के लिए पैसा कमा सके। तुम से ही पूछता हूँ, तुमने इतना कमाया, पर क्या तुम्हें अपनी इच्छा से खर्च करने की इजाज़त है? "[2] इस संदर्भ में क्षमा शर्मा की टिप्पणी भी उल्लेखनीय है, " अभी भी शहरों में बहुत से घरों में औरतों की कमाई पर उनका हक नहीं रहता। उनका पैसा घर वाले ले लेते हैं। बहुत–सी औरतों के कोई बैंक एकउंट तक नहीं होते। "[3]

कामकाजी नारी का आर्थिक शोषण इसी बात को सूचित करता है कि केवल अर्थ आर्जित करने से नारी की अस्वतंत्रता की स्थिति में कोई गंभीर परिवर्तन होने की संभावना नहीं है। जब तक कामकाजी स्त्री की कमाई से उसे वंचित रखती है तब तक उसकी मुक्ति की कल्पना करना व्यर्थ ही है।

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–121

[2] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ167

[3] क्षमा शर्मा, आजकल, मार्च–2008, पृ–13

कामकाजी महिला और यौन–शोषण

आज घर से बाहर काम करनेवाली औरत को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उसमें सबसे प्रमुख है कार्यस्थल पर होनेवाला यौन शोषण। वर्तमान प्रसंग में कार्यालयों में स्त्रियों के साथ होनेवाले अत्याचारों पर चर्चा की प्रासंगिकता का अपना अलग महत्व है। क्योंकि पिछले दो दशकों में कार्यस्थलों पर स्त्री के ऊपर होनेवाले यौन शोषणों की संख्या में काफी वृद्धि हुई हैं। कभी नौकरी मिलने के लिए, कभी अस्थाई नौकरी को स्थाई करने के लिए और कभी आर्थिक विवशता के कारण नारी इस शोषण का शिकार हो जाती है। कामकाजी महिलाओं के ऊपर होनेवाले शोषण को दृष्टि में रखते हुए, उसे रोकने   तथा नारी को सुरक्षा देने के उद्देश से उच्चतम न्यायालाय ने गृह मंत्रालय को अनेक निर्देश दिए हैं, “ संरक्षण विषयक नीति संबंधी इन निर्देशों में कहा गया है कि सरकारी और गैरसरकारी संस्थानों, उपक्रमों, विभागों में काम करनेवाली महिलाओं को यौन व्यवहारों के लिए कोई भी अधिकारी, सहकर्मी अथवा अन्य कोई बाहरी व्यक्ति विवश नहीं करेगा। इनमें काम करने वाली महिलाओं को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से यौन इच्छाओं की पूर्ती के लिए उकसाना, छूने का प्रयास करना, कामुक दृष्टि से देखना, द्विअर्थी बातचीत करना, अश्लील साहित्य अथवा चित्र दिखाना, फाइल, कागज़ अथवा अन्य कोई वस्तु लेते–देते समय अंगों का स्पर्श करना आदि ऐसी क्रियाएँ हैं, जिन्हें आपत्तिजनक व्यवहारों की परिभाषा में रखा गया है . . .। ”[1]

कामकाजी महिलाओं पर होनेवाले शोषण को रोकने के लिए दफ्तरों में सैक्सुअल हैरेसमेंट कमेटियाँ भी बनाई गई हैं। किन्तु उच्चतम न्यायलय के इन सारी कोशिशों के बावजूद कार्यस्थलों पर नारी का यौन शोषण ज़ारी है। इस संबंध में क्षमा

---

[1] शीला सलूजा, चुन्नीलाल सलूजा, कामकाजी महिलाएँ समस्याएँ एवं समधान, पृ–32

शर्मा लिखती है, " कामकाजी स्त्रियों को यौन उत्पीड़न झेलना न पड़े इसके लिए उच्चतम न्यायालय के आदेश पर दफ्तरों में सैक्सुअल हैरेसमेंट कमेटियाँ भी बनाई गई हैं। लेकिन प्राय: ये पीडित स्त्रियों को न्याय नहीं दिला पातीं। दफ्तरों के बीच चलनेवाली ऐसी बहुत सी बातें हैं जिन्हें यह सोचकर कि आदमियों की दुनिया तो है ही ऐसी, अनसुना ' कर दिया जाता है। "[1] स्पष्ट है दफ्तरों पर होनेवाले शोषणों को कई कारणों से झेलने के लिए नारी मजबूर हो जाती है। समकालीन नारीवादी उपन्यासों में भी नारी की इस मजबूरी को वाणी मिली है। साथ ही कार्यालयों पर होनेवाले शोषण के विभिन्न आयाम भी इन उपन्यासों में प्रस्तुत हुए हैं।

अत्मनिर्भर बनने के मोह ही नारी को घर की चारदीवारी से बाहर लाया। किन्तु इस तरह बाहर निकलते समय शोषण के नए–नए दाँव–पेचों को पहचानने में नारी असफल हुए। ' आवाँ ' उपन्यास का मूल कथ्य नौकरी खोजनेवाली नारी का यौन शोषण है। नौकरी दिलाने के एवज में अंजना वासवानी नमिता को सिर्फ संजय के सामने परोसता ही नहीं उसकी कोख को एक निवेश भी बनाती है। इस शोषण को पहचानने में नमिता असमर्थ निकलती है। उपन्यास के अंत में ही उसे मालूम पड़ता है कि उसका शोषण ही हो रहा था। इसी उपन्यास का मशहूर फोटोग्राफर सिद्धार्थ नमिता के सामने मॉडल बनाने के एवज में उसके साथ सोने का प्रस्ताव रखता है। वह कहता है, " देखो, पोर्टफोलियो मैं तुम्हारा तैयार करवा दूँगा। फीस की शक्ल–भर बदल जाएगी। अन्यथा न लेना। मैं बेहद स्पष्टवादी, ईमानदार, पेशेवार रवैये का व्यक्ति हूँ। तुम्हें लक्ष्य तक पहूँचाने में कोई कोर–कसर नहीं रखूँगा। लेकिन प्रत्येक अनुबंध में साठ प्रतिशत मेरा––चालीस तुम्हारा। पोर्टफोलियो बनाने की एवज में तुम्हें मेरे साथ दैहिक संबंध रखने होंगे। हिसाब बराबर। और कोई चिंता है? "[2]

---

[1] क्षमा शर्मा, स्त्रीवादी विमर्श: समाज और साहित्य, पृ–49

[2] चित्रा मुद्‌गल, आवाँ, पृ–293

उपभोक्तावादी संस्कृति ने नारी जीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया है। नारी की महत्वाकांक्षा ने लक्ष्य तक पहूँचने के लिए किसी भी रास्ते को अपनाने को उसे प्रेरित की है। कामयाबी हासिल करने के लिए बिस्तर गरम करने के लिए भी कुछ नारियाँ तैयार हो जाती हैं। वास्तव में पुरुष के शोषक तत्वों को पहचानने की उसकी असमर्थता ही यहाँ स्पष्ट होती है।

' आवाँ ' के सिद्धार्थ दूसरे स्थान पर कहता है, '' ऐसी–ऐसी कार्टून घाटिनें चली आती हैं हीरोइन बनने की उनकी ' स्वेच्छा ' से बिस्तर गरमा लेने के बावजूद होश आते ही मुझे कुएं–बावड़ी की दरकार महसूस होने लगती है। उन्हें चरका देने के लिए मैं संजीदगी ओढ़, कुछ पते–ठिकाने नोट करवा देता हूँ। ढीठ हो, कुछ को स्पष्ट कह भी देता हूँ। रात सोने की एवज में मैं उन्हें उनके एकाध फोटो खींचकर दे सकता हूँ, जिन्हें मढ़वाकर वे अपनी बैठक की शोभा बढ़ा सकती हैं। ''[1]

कामकाजी नारी को फँसाने के लिए पुरुष कभी प्रेम का नाटक करता है। ' छिन्नमस्ता ' का नरेन्द्र हर छह महीने एक से एक हसीन सेक्रेटरी को बदलता रहता है। एक बार वह छह महीने के बदले डेढ़ साल एक लड़की को रखती है और वह गर्भवति हो जाती है। लेकिन नरेन्द्र पैसा देखकर उससे निपटना चाहता है, '' वह हर छह महीने में एक से एक हसीन सेक्रेटरी बदलता रहता है और उसकी भूख मिट जाती है। यह तमाशा तो जब पापा थे, तभी से चल रह था। पापा के जाने के बाद तो लड़कियों को कभी–कभी घर पर भी ले आता है। . . . . एक बार तो एक लड़की छह महीने के बदले साल–डेढ़ साल भी टिक गई थी और सच में नरेंद्र के प्रेम में पागल थी वह। उसके गर्भ में नरेंद्र की संतान थी पर इस जालिम ने

---

[1] चित्रा मुद्‌गल, आवाँ, पृ–437

उसे भी निकाल दिया था। हँसते हुए कहा था, “ अरे भूल जाओ इन कसमों–वादों को! बोलो कितना रूपया लेकर जान छोड़ोगी? ”[1]

महिलाओं को जब नौकरी से संबंधित दौरा करना पड़ता है तो उसकी सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं होती। ‘ अकेला पलाश ’ की तहमीना से पहले जो स्त्री उसके स्थान पर काम कर रही थी उसका दौरे के समय यौन शोषण होता है और अंत में वह मर जाती है। विमला तहमीना को इसकी सूचना देती है– “ मैडम, जब हमें टूर करना पड़ता है, तो वहाँ देहातों में हमारी कोई सेफ्टी नहीं है, ... कुछ यहाँ के नेता लोगों ने भी उसे फँसा रखा था, बी०डी०ओ तथा डाक्टर का करेक्टर भी ठीक नहीं था। इन सबने मिलकर उसे शेयर किया। वह सबकी हवस की शिकार हुई, और जब पाप पलने लगा तो उससे ही उसकी डैथ हो गयी। पोस्ट मार्टम करवाकर जल्दी से जल्दी उसे दफना दिया गया। ”[2]

कभी–कभी रात को भी काम करने को नारी मजबूर हो जाती है। ऐसी स्थिति में उसका शोषण होने की संभावना ज़्यादा है। अस्पतालों में नर्सों को रात को भी काम करना पड़ता है। उनके साथ होनेवाले यौन शोषण का रूप ‘ अकेला पलाश ’ में देखा जा सकता है। नाहिद बाजी कहती है– “ कुछ बदमाश डॉक्टरों का अड्डा बना है यह अस्पताल। ट्राँसफर होते हैं, पर दौड़–धूप करके कैन्सिल करवा लिए जाते हैं। नाइट ड्यूटी में तमाशे होते हैं। रात को अस्पताल में बाहर से इनके दोस्त आते हैं, जो नर्सों से अपनी भूख मिटाते हैं। नर्सें बेचारी डॉक्टरों की उँगलियों पर नाचती हैं। बड़ा ही अजीब हाल है यहाँ, ”[3] दूसरे प्रसंग में भी चिकित्सकों द्वारा होनेवाले शोषण

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–167

[2] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ–18

[3] वही, पृ–71

नाहिद बाजी के शब्दों में व्यक्त हुआ है, “ कल रात डॉक्टर खान की नाइट ड्यूटी थी, ... हमारे यहाँ एक नयी–नयी लड़की आयी है नर्स बनकर। काफी सुन्दर भी है। डॉक्टर खान ने उससे प्रेम प्रदर्शन किया। सोचा था शायद आसानी से राजी हो जाएगी, पर डॉक्टर खान की इस हरकत पर वह लड़की चिल्लाती हुई बाहर आयी और बाहर आकर उसने शोर मचाना शुरू कर दिया। आसपास के कमरों के सारे लोग निकल आये। समझो एक अच्छा–खासा–सा तमशा ही हो गया। गुस्से और अपमान से भरे हुए डॉक्टर खान अपने कमरे में ही बैठे रहे। बात सी० एस० के कान तक भी पहूँची। डॉक्टर खान की अच्छी–खासी परेड हुई, पर कुछ लोगों ने बीच–बचाव कर मामले को रफा–दफा कर दिया और लड़की को चेतावनी दे दी गयी कि अभी तुम्हारी नयी–नयी नौकरी है, तुम्हें अनुभव नहीं है, आइन्दा ऐसी गलती नहीं होनी चाहिए। ”[1]

विज्ञापन जैसे क्षेत्रों में काम करते समय काम की सुरक्षा या स्थायित्व के लिए औरत को पुरुष के किसी भी कार्य से हामी भरना पड़ता है। अन्यथा उसको नौकरी से तत्काल निकाल दिया जाता है। ‘ एक ज़मीन अपनी ’ की अंकिता के साथ भी यही हुआ है। एक पार्टी में सक्सेना उसके साथ बदतमीज़ी करता है तो अंकिता इसका प्रतिरोध करती है। नतीजतन काम करनेवाली एजंसी से उसे बाहर जाना पड़ती है। नीता अंकिता से कहती है, “ उसने (सक्सेना) भी मैथ्यू से तुम्हारी हिमाकत बयान की थी और इस घटना को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया था कि कैसी–कैसी बेशऊर लड़कियाँ भर लेते हो तुम अपनी एजेंसी में जिन्हें सोसाइटी में उठने–बैठने तक की तमीज़ नहीं और प्रतिक्रिया में कुछ ही समय के भीतर उसने ‘ आब्जर्वेशन

---

[1] मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ–95

एडवरटाइज़िंग से अपना खाता वापस ले लिया था। ''[1] इस कारण मैथ्यू तुरंत ही अंकिता को अपनी एजंसी से बाहर कर लेता है। मैथ्यू तो एजंसी ' सुचारू ढंग ' से चलाने के लिए लड़कियों को परोसने के लिए भी तैयार बैठा है। अंकिता उससे कहती है, '' बाद में इसके सबूत भी उपलब्ध हुए कि आप खातों को मुट्ठी में रखने के लिए मजबूर लड़कियों की मजबूरी का फायदा उठाकर उन्हें उनके मनोरंजन के लिए परोसा करते हैं . . . .मैं उन लड़कियों से भी परिचित हूँ, जिनका इस्तेमाल आप आवश्यकता पड़ने पर करते रहते हैं। ''[2]

यौन शोषण के मामले में मज़दूर स्त्री की दशा कामकाजी नारी से भी बदत्तर है। ज़्यादातर महिला मज़दूर अशिक्षित हैं, इसलिए इन्हें फँसाना पुरुष के लिए आसान है। मज़दूर स्त्री के शोषण का मुख्य कारण उसके रोज़गार की अनिश्चितता है। अपने रोज़गार की रक्षा के लिए मालिक या ठेकेदार के हर माँगों की पूर्ति करने के लिए मज़दूर स्त्री विवश हो जाती है। ' इदन्नमम ' की तुलसिन एक स्थान पर ठेकेदार जगेसर से कहती है, '' अरे हमारी तो बेबसी है ठेकेदार, हमें पेट के लाने दिन में ही पथरा नहीं तोड़ने पड़त, रात में देह भी . . . हमें बिना रौंदे–चीथे तुम्हारी बिरादरी के लोग पत्थरों से हाथ नहीं लगाने देते। बिटियाँ का करें, बूढ़ी मताई को, बाप को काम नहीं देता कोई . . . और जनी की जात मरद बिरोबर काम नहीं कर पाती सो सहद के छत्ता की तरह निचोरत हैं मालिक लोग . . . ''[3]

गरीबी के कारण पुरुष के वायदों में मज़दूर स्त्रियाँ जल्दी से फँस जाती हैं।

[1] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–34-35
[2] वही, पृ–222

[3] मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ–241

‘ इदन्नमम ’ के अभिलाखसिंह इसी प्रकार एक मज़दूर स्त्री की गरीबी का फायदा उठाकर उसका शोषण करता है। उसके पति बीमार है, उसे दवा दारू की ज़रूरत है। अभिलाखसिंह इसी अवसर का फायदा उठाता है और दूसरी जगह अच्छी नौकरी दिलाने का वादा देकर उसे उज्जैन ले जाकर बेचता है। इसकी सूचना मज़दूर गुबरैला मंदा को देता है, “ हमारी जनी–मानसें बेंची जाने लगी हैं अब। जिन्दे आदमियन का व्योपार करने लगे हैं अभिलाख! . . . . किसनुआ बैमार गिर गया। जनी ने रात–दिन मेहनत करी। आदमी बिरोबर काम उठाया। क्या जाने क्या ओरि आयी मालिक को, सो बोले, तुम्हारा काम दूसरी जगह लगा आते हैं, वहाँ मजूरी का रेट जास्ती है। औरत को भी आदमी के बिरोबर मिलती है दिहाड़ी। अपने बच्चा पाल लेगी। आदमी की दवा दारू करा लेगी।

गोपालपुरा के पहाड़ पर लगा राउत कहता है कि अभिलाखसिंह अज्जैन में बेच आये थे बाच। पैंतीस सौ रुपइया में! ”[1]

कामाकाजी नारी के यौन शोषण का मुख्य कारण पुरुष द्वारा स्त्री को महज देह माननेवाली मानसिकता ही है। जब तक पुरुष की इस मानसिकता में परिवर्तन नहीं आयेगा तब तक कामकाजी स्त्री के लिए उसके कार्यस्थलों में एक स्वस्थ माहौल का अभाव रहेगा। दुखद बात यह है कि ‘ आवाँ ’ के अन्ना साहेब जैसे लोग हमारे समाज में उपस्थित है जो मज़दूर नेता होकर भी मज़दूर स्त्री का शोषण करता है। कामकाजी महिलाओं के यौन शोषण की चर्चा करते हुए श्रीमति मणिमाला ने जो बात कही है, वह चिंतनीय है, “ कामकाजी महिलाओं के यौन–शोषण की घटनाओ में आयी तेजी से इतना तो स्पष्ट है ही कि अगर नौकरी करनी है तो अपने से ‘ बड़ों ’ की हर माँग पूरी करे। हर तरह की सेवाएँ मुहैया करे। यौन–सेवाएँ भी। औरत पहले भी सिर्फ ‘ शरीर ’

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ–282

थी, आज के आधुनिक दौर में भी वह ‘ शरीर ’ ही है। पहले शरीर, बाद में कुछ और। इससे क्या फर्क पड़ता है कि वह सिकुड़ी–सिमटी, ढँकी हुई अपने औरतपन पर रोती हुई हो, या बीच बाज़ार में खड़ी होकर अपने हाथ–पाँव नाक–नक्शा दिखाकर सुंदर होने का गुमान करती हुई हो, नौकरी बचाने के लिए, धन कमाने के लिए नाप–तौलकर मुस्करा रही हो और औरतपन पर गर्व कर रही हो। इस रोने और हँसने में कोई फर्क नहीं है। ”[1]

कामकाजी महिला और सहकर्मी

पुरुष सहकर्मी का व्यवहार कभी–कभी कामकाजी नारी को परेशान करता है। कामकाजी महिला को सहकर्मियों की ओर से द्विअर्थक और अश्लील बातों से लेकर छेड़छाड़ तक झेलना पड़ता है। इसके अलावा कामकाजी नारी को सहकर्मियों की ओर से यौन शोषण के प्रयास का भी सामना करना पड़ता है। सहकर्मियों का व्यवहार मानसिक रूप से नारी को बहुत अधिक प्रभावित करती है जिसका असर उसके कामकाज में भी पड़ते हैं। कामकाजी महिलाओं के जीवन में सहकर्मियों के दुर्व्यवहार के कारण उत्पन्न होनेवाली समस्याओं का चित्रण समकालीन नारीवादी उपन्यासों में किया गया है।

समाज में कॉलेज अध्यापक जैसे लोगों की अपनी प्रतिष्ठा है। ऐसा माना जाता है कि वे आम तौर पर शरीफ होते हैं। लेकिन मौका मिलने पर ऐसे लोग भी अपने साथ काम करनेवाली नारियों से किस तरह का व्यवहार करता है इसका पर्दाफाश ‘ तत्–सम ’ उपन्यास में हुआ है। वसुधा कॉलेज की अध्यापिका है, उसके ही विभाग का अध्यापक है जतीन सहगल। वह वसुधा को सिनेमा देखने के लिए निमंत्रण देता है,

---

[1] मणिमाला, इक्कीस्वीं सदी की ओर, पृ–67

अनिच्छा के बावजूद जाने के लिए वसुधा मजबूर हो जाती है। लेकिन सिनेमा हाँल में जतीन की असली नीयत प्रकट हो जाता है। वह वसुधा के साथ छेड़छाड़ करता है,

" पर अँधेरे में जतीन की ज़बान नहीं देह बोलने लगती है। चंचलता से भरी बेचैनी। कभी दाईं तो कभी बाईं करवट। खिऽऽश! कभी पैरों का फर्श पर बेमतलब घिसटना। कभी जेब से रूमाल निकालना और वापिस रखना। यह कलाबाज़ियाँ बगल में बैठे खिझा देनेवाली लगती हैं। फिर दाएँ कंधे का उसके बाएँ कंधे पर अचानक झुकता हुआ दबाव। वह थोड़ा सीधा होकर बैठ जाती है। संकेत के न समझे जाने से क्षुब्ध हो जाता है जतीन। उँगलियाँ अधिक प्राणवान हो उठती हैं उसकी। टटोलती हुई। क्षण–भर में ही दाईं बाँह एक घेरा बनकर उसके दाएँ कंधे की भीतर–ही–भीतर तनती जाती मांसपेशियों का विकट कसाव बन जाती हैं। "[1]

जतीन के इस व्यवहार से तंग आकर वसुधा उससे एक फासला रख लेती है। लेकिन तब वह उसके खीज का पात्र बन जाती है। वह विभागाध्यक्ष के सहारे से वसुधा के कामों में नई–नई समस्यायें उत्पन्न करता है और उस पर अनुचित दबाव डालने की कोशिश करता है, " बचा नहीं जा सकता। एक ही विभाग। एक ही विषय। रोज़ की भिड़न्त। सहा नहीं गया तो एक दिन उठाकर झाठ दिया। अपनी समरनीति पर अपने को ही महँगी पड़ी। भड़ास उसने निकाली विभागाध्यक्ष के साथ पीने–पिलाने की अहम दोस्ती के रस को पूरे–का–पूरा अपने जाम में निचोड़कर। पीरियड्स की योजना फिर कुछ ऐसे हुई . . .।

एक घंटा सुबह। दूसरा दोपहर। तीसरा शाम। बीच में मक्खियाँ मारता भिन भिनाता टुकड़े–टुकड़े समय। न घर जा सकने की संभावना न यहाँ काम करने की सुविधा।

---

[1] राजी सेठ, तत्–सम, पृ–216

“ है ऽ ऽ ऽ। सैंडविच्ड? . . . आई फील बैड . . . तुम कहो तो मैं मि. पाठक से बात करूँ –– तुम्हें कुछ एकोमोडेट करें। ”

बुलाओ। पुचकारो। फिर मर्हम लेकर दौड़ आओ। ऐसा हुए बिना नरम मुलायम उँगलियों का इश्तेमाल कैसे हो पाएगा। ”[1]

यह एक कटु यथार्थ है कि कॉलेज जैसे उच्च शैक्षणिक संस्था और प्राथमिक विद्यालय, सब कहीं नारी सहकर्मीयों के प्रति पुरुष के सलूक में कोई खास अन्तर नहीं है। ‘ ठीकरे की मंगनी ’ में स्कूल की अध्यापिकाओं के साथ अध्यापकों के बदसलूक चित्रित हुआ है। महरूख के साथ संजय और ईशरत जैसे अध्यापकों का आचरण मर्यादा की सारी सीमाओं का उल्लंघन करता है। महरूख पढ़ाई में कमज़ोर बच्चों को घर ले आकर पढ़ाने की कोशिश करती है। इस पर संजय कहता है, “ यह भी ठीक कहते हो, यार, जहाँ जवान लौंड़ों की भीड़ रहती हो, वहाँ पर हम . . .। रखै, छोड़ो, कोई क्या करता है, उससे हमें क्या? ”[2]

संजय और ईशरत कभी उसे बैरंग खत भेजता है, कभी उसे साली जल्लद आदि कहते हैं। इतना ही नहीं वे रात को महरूख की कुंड़ी खटखटाते हैं। कभी संजय अपने आप को महरूख के सामने ज़बर्दस्ती से पेश करके उसको दबाव में डालने की कोशिश करता है। जब महरूख बच्चों के साथ बात करती है तो वह बच्चों को भगाता है और कहता है, “ आज तो हम आपके हाथ से बनी चाय पीएँगे, महरूख साहिबा, आप लाख इनकार करें तो भी आज हम टलने वाले नहीं, न कोई बहाना सुनने वाले

[1] राजी सेठ, तत् –सम, पृ–217

[2] नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, पृ–98

हैं। " . . . . " बस, अब चलिए, घर चल कर आराम से बातें करेंगे। खुदा कसम, आप बहुत सताती है। "[1]

नारी घर के काम किसी न किसी प्रकार निबटाकर ही ऑफिस जा सकती है। इस कारण कभी–कभी उसके वक्त पर ऑफिस पहूँचने में विलंब होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में नारी परिहास का पात्र बन जाती है। ' एक ज़मीन अपनी ' के हेडक्लर्क वर्मा पाँच या दस मिनट देर से पहूँचने पर हमेशा अंकिता का परिहास करता है, " काम वितरित करनेवाले हेडक्लर्क वर्मा ने तो टुच्चेपन की हद कर दी। जिस दिन भी पाँच–दस मिनट वह विलंब से पहूँचती, वर्मा गुर्राए स्वर में टका–सा जवाब ठमा देता–– " मैडम, हमने सोचा . . . आज आप आएँगी ही नहीं इसलिए आपका काम सिन्हा को सौंप दिया . . . सक्सेना को दे दिया, मिस शर्मा ने कर दिया, आप चाहें तो बैठें . . . चाय–वाय पिएं . . . गप–शप्प करें . . . " हर रोज़ किसी न किसी बहाने उसे लटका देना वर्मा की आदत–सी हो गई। बड़ी उलझन में पड़ गई कि इस कांइयों से कैसे निबटे। "[2]

नारी के सहकर्मी पर शक करना समाज की आदत सी पड़ गई है। कामकाजी नारियों से स्वस्थ और मैत्रीपूर्ण व्यवहार करनेवाले पुरुष से उसकी घनिष्ठता होना स्वाभाविक है। लेकिन पति और समाज द्वारा इसका गलत अंदाज़ा ही लेता है जो कामकाजी नारी को अनुचित दबाव में डालती है। इस संबंध में डॉ० जयप्रकाश यादव का कथन उल्लेखनीय है, " कामकाजी स्त्री के ऊपर शक करना पुरुष की फितरत–सी बन गयी है, जो नहीं होनी चाहिए। स्त्री के लिए काम पर घर से निकलना बड़ा चुनौती भरा कार्य है। घर के बाहर, अकेली स्त्री के लिए अभी कोई

---

[1] नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, पृ– 99

[2] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–12-13

जगह महफ़ूज़ नहीं है। घर के बाहर आफिस हो या बाज़ार या रास्ता हर जगह वह हमेशा असुरक्षित ही महसूस करती है ऊपर से पति यदि उसे किसी पुरुष से बातचीत करते देख लेता है तो उसके चरित्र पर संदेह करना लगता है और आपस में मारपीट की नौबत आ जाती है। ”[1]

‘ शाल्मली ’ के नरेश को पत्नी के सहकर्मियों के बारे में सोचना एक धक्का सा लगता है। पत्नी के पुरुष सहकर्मी भी होते हैं, यह बात उसे बिलकुल पचता नहीं, “ पत्नी के सहकर्मी, उसके साथी, वे भी पुरुष! यह धक्का इतने दिनों तक दिल्ली में रहने के पश्चात् भी वास्तविक जीवन अनुभव के स्तर पर सहना और उसे पचाना नरेश जैसे मर्द के लिए ज़रा कठिन काम था। कुछ कहकर वह यह भी दिखाना नहीं चाहता था कि संकीर्ण दृष्टि रखने वाला, एक रूढ़ीवादी परिवार से आनेवाला, पिछड़े विचार वाला पुरुष, एक ईर्ष्यालू पति है। ”[2] लेकिन बाद में अपनी संकीर्ण दृष्टि को छुपाने में वह असमर्थ हो जाता है। एक दिन बारिश के समय शाल्मली का सहकर्मी मिश्रा उसे अपनी गाड़ी में घर छोड़ता है और नरेश इस छोटी सी घटना से नाराज़ हो जाता है, “ नरेश के विचार में मिश्रा ही नहीं, बल्कि शाल्मली के साथ काम करने वाले सभी परिचित–गण बहुत ओछे और टुच्चे लोग हैं। मिश्रा के घर तक छोड़ने की इस छोटी–सी घटना ने राई का पहाड़ बना दिया। ”[3]

दूसरी स्त्रियाँ भी कामकाजी नारी के सहकर्मियों को शक भरी दृष्टि से ही देखती हैं। शालमली के सास की मृत्यु हो जाने पर उसके सहकर्मी जिनमें पुरुष भी शामिल है घर आ जाते हैं। यह बात उसकी जेठानियों को हज़म नहीं होती। बड़ी जेठानी और छोटी जेठानी के संवाद से–

---

[1] डॉ० जयप्रकाश यादव, वाड्मय, जुलाई–दिसम्बर–2007, पृ–80

[2] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ– 48

[3] वही, पृ– 126

" पुरुष मित्र भी होते हैं, यह हमें आज ही पता चला "

" हमारी तो सखियाँ थीं, सो हम क्या जानें भाई, पूछना हो तो अपनी छोटी देवरानी से पूछो। "[1]

सहकर्मियों के सहयोग के अभाव में कर्म–स्थल में सफलता प्राप्त करना कामकाजी नारी के लिए संभव नहीं है। अतः पुरुष की मानसिकता में एक स्वस्थ परिवर्तन होना निहायत ज़रूरी है। समाज की ओर से भी कामकाजी नारी के सहकर्मी को शक भरी दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति का अंत होना चाहिए।

भूमण्डलीकरण और कामकाजी महिला

कामकाजी महिला के जीवन पर भूमण्डलीकरण का असर गंभीर रूप से पड़ा है। स्त्रियों को नौकरी के नए–नए अवसर प्रदान करने में भूमण्डलीकरण की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। किन्तु वास्तविकता यह है कि भूमण्डलीकरण ने लाभ की तुलना में स्त्री को हानी ही अधिक पहूँचायी है। स्त्रियों को जिन क्षेत्रों में नौकरी मिली वे अधिकांशतः अस्थाई और कम मज़दूरी की थी। नौकरी के नए अवसर स्त्रियों को इसलिए मिला क्योंकि उसकी मज़दूरी कम थी। फलतः भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से उसका कोई लाभ नहीं हुआ है। प्रभा खेतान के शब्दों में, " ऐसा माना जाता है कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने लचीली श्रम व्यवस्था को लागू किया है और उससे स्त्रियों को ज़्यादा रोज़गार मिलने लगा है। और ब्रिटेन, कानड़ा, फ्रांस, स्वीडेन, जर्मनी, ईटेली आदि देशों में पाया गया कि श्रम बाज़ार में स्त्रियों की माँग तो बढ़ी है मगर स्त्री को लाभ नहीं हुआ। "[2] इसके अलावा भूमण्डलीकरण ने स्त्री के यौन वस्तुकरण को बढ़ावा दिया जिससे उसे वस्तु के रूप में देखने की प्रवृत्ति को भी

---

[1] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–124

[2] प्रभा खेतान, बाज़ार के बीच : बाज़ार के खिलाफ, पृ–69

बढ़ावा मिला। स्पष्ट है भूमण्डलीकरण ने कामकाजी नारी के जीवन को काफी जटिल बनाया है।

भूमण्डलीकरण ने स्त्री देह को भी पूँजी के रूप में तब्दील किया। उपभोग संस्कृति ने स्त्री के मन में भी महत्वाकांक्षा को जन्म दिया। किसी भी प्रकार पैसा कमाने का मोह स्त्री में पलने लगा। फलस्वरूप इसके विज्ञापन जैसे क्षेत्रों में काम करनेवाली नारी नग्नता–प्रदर्शन के लिए भी तैयार हुई। माल की बिक्री बढ़ाने के लिए स्त्री–नग्नता का इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति ने नारी शोषण के और एक आयाम को खुला। लेकिन बाज़ार के इस नए दाँव–पेंच को समझने में नारी कुछ असमर्थ ही दिखाई देती है। ' एक ज़मीन अपनी ' उपन्यास में इस प्रकार नारी नग्नता के प्रदर्शन का बयान है, " ––देह पर है मात्र . . . वक्षस्थल को ढंकता हुआ अंगोछे–सा कोई कपड़े का टुकड़ा और घुटने के नीचे तक फैली हुई लहंगा स्कर्ट है . . .

–– लड़की की निर्वस्त्र पीठ कैमरे की आँखों में है . . .

. . . .

यह कैसी पोशाकें हैं? कपड़े होते हुए भी नग्न! . . . "[1]

चुटकी में पैसा कमाने के और प्रतिष्ठा अर्जित करने का मोह नारी को मॉडलिंग जैसे कामों को चुनने के लिए प्रेरित करता है। नारियों पर ' आवाँ ' के सिद्धार्थ जैसे लोगों का यह प्रस्ताव कि " कैरियर बना भी लोगी तो भविष्य में पछताओगी नहीं। मॉडलिंग वह सब कुछ दे सकती है जीवन में, जिसे पढ़ाई पूरी करके भी हासिल कर पाना संभव नहीं, "[2] बहुत दूरगामी प्रभाव छोड़ता है। साथ ही उन्हें

---

[1] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–105

[2] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–284

अंजना वासवानी जैसी महिलाओं का यह उपदेश भी मिलता है कि पैसा की ताकत ही सब कुछ है। वह कहती है,

" पैसे की ताकत मनुष्य की सबसे बड़ी ताकत है। पैसे की ताकत से एक बुद्धिहीन, अपाहिज, असमर्थ व्यक्ति बुद्धिमान का मस्तिष्क और सबल की शक्ति खरीद, बड़ी आसानी से अपने हितों के लिए उसका उपयोगकर, समाज और संसार का सर्वाधिक समर्थ व्यक्ति बन सकता है। सत्ताधारी बन सकता है। प्रतिष्ठा अर्जित कर सकता है। लोगों पर शासन करने के लिए नोट की शक्ति पहचानो। सुख–सुविधाएँ जुटाने में उसकी भूमिका की कद्र करो। "[1] वास्तव में इसप्रकार के उपदेश नारी को किसी भी मार्ग अपनाने को प्रेरित करती है और अपने शोषक तत्वों को पहचानने में वह चूकती है। ' आवाँ ' की नमिता उपन्यास के अंत में ही पहचान लेती है कि उसका इस्तेमाल हो रहा था। स्पष्ट है नौकरी के चयन के समय नारी को अतिरिक्त सतर्कता भरने की आज ज़रूरत है।

निष्कर्ष

नारी के सामाजिक एवं व्यक्ति जीवन में सकारात्मक परिवर्तन लाने में नौकरी ने जो भूमिका अदा की वह अत्यंत महत्वपूर्ण है। आज कोई भी कर्मक्षेत्र नारी के लिए अछूता नहीं है, प्रत्येक क्षेत्र में वह अपनी दक्षता का परिचय दे रही है। नौकरी के लिए स्त्री के घर से बाहर निकलने के साथ नई–नई समस्याओं का भी सामना उसे करना पड़ा। श्रम–विभाजन के समय स्त्री के लिए केवल घर के अंदर के काम की व्यवस्था करना और उसे आर्थिक सुविधा से वंचित रखना वास्तव में पितृसत्तात्मक समाज का षडयंत्र है। नारी में आत्मविश्वास जगाकर उसको निर्णय–क्षमता प्रदान करने में

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–201

आत्मनिर्भरता की भूमिका अहम थी। वर्तमान समय में नारी अत्मनिर्भरता को ही अपनी पहचान मानती है।

कामकाजी नारी और उसके व्यक्तित्व को स्वीकारने के लिए पुरुष की मानसिकता अब तक पूर्णतः तैयार नहीं हुई है। समाज के दृष्टिकोण में कामकाजी नारी के प्रति जो विचार है उसमें परिवर्तन तो अवश्य आया है किन्तु उसके प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण विकसित होने का काम अब भी बाकी है। पति और परिवार के अन्य सदस्यों के सहयोग के बिना घर और ऑफिस की दोहरी भूमिका एक साथ निभाने में कामकाजी नारी को दिक्कत होती है। कामकाजी नारी को धन पैदा करने की मशीन समझनेवाले पुरुषों का भी अभाव नहीं है। कामकाजी नारी का आर्थिक शोषण इस बात का संकेत देता है कि केवल आर्थिक स्वतंत्रता से नारी पूर्ण स्वतंत्रता हासिल नहीं कर सकती। उच्चतम न्यायालय की सारी कोशिशों के बावजूद कर्मस्थानों पर नारियों पर होनेवाले यौन शोषण बढ़ता जा रहे हैं जो वास्तव में विचारणीय है। भूमण्डलीकरण ने नारी को नौकरी के नए–नए क्षेत्र प्रदान किए। किन्तु भूमण्डलीकृत संस्कृति ने लाभ की तुलना में स्त्री को नुक्सान ही अधिक दिया है। भूमण्डलीकरण के समर्थक इस समय भी नारी शोषण के नए–नए हथियार लेकर उपस्थित है जिसे पहचानने में नारी कुछ असमर्थ ही दिखाई देती है। इसप्रकार कामकाजी महिलाओं की समस्यायें और संघर्ष बहु आयामी है। किन्तु इस बात में कोई संदेह नहीं है कि अपने जकड़–बंदियों को तोड़ने में नौकरी नारी के लिए मददगार सिद्ध हुई है।

अध्याय –पाँच

नारीवादी उपन्यासों में विद्रोही नारी

अध्याय–पाँच

नारीवादी उपन्यासों में विद्रोही नारी

नारीवादी आंदोलन जहाँ एक ओर स्त्री की दशा में सुधार लाया तो दूसरी ओर उसने आत्मसजग स्त्री को रूढ़ियों एवं रुग्ण परंपराओं का विरोधी भी बना दिया। वस्तुतः प्रस्तुत विरोध इस पहचान से उपजा था कि ये रूढ़ियाँ और रुग्ण परंपराएँ ही स्त्री के व्यक्तित्व–विकास के बाधक तत्व हैं। शिक्षित नारी को यह समझने में देर न लगी कि वर्तमान पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के कारण ही समाज में स्त्री को दोयम दर्जे की स्थिति हासिल करनी पड़ी है। इस तरह की सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध नारीवादियों ने गहरा असंतोष प्रकट किया है और इस असंतोष ने नारी को विद्रोही बना दिया। वास्तव में सामाजिक नियमों का आविष्कार मनुष्य की असत् वृत्तियों को नियंत्रण में रखकर उसे एक स्वस्थ जीवन बिताने के काबिल बनाने के उद्देश्य से किया गया था। किन्तु स्त्री के मामले में ये सामाजिक नियम ही सबसे बड़ी बाधा सिद्ध हुईं। जो व्यवस्था विश्व की आधी आबादी के साथ न्याय नहीं कर पायी, उसके विरुद्ध विद्रोह का होना अस्वाभाविक भी नहीं है।

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में पितृसत्तात्मक समाज के नियम और रूढिग्रस्त परंपरा के विरुद्ध विद्रोह करनेवाली नारियों का चित्रण स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इन उपन्यासों में चित्रित नारी अपने व्यक्तित्व–विकास के बाधक रूढियों एवं सामाजिक नियमों का खुलकर विरोध करती है। धार्मिक रूढियाँ स्त्री के व्यक्तित्व–विकास और स्वतंत्रता के लिए किस हद तक बाधक जाती हैं, इसका चित्रण समकालीन नारीवादी उपन्यासों में हुआ है। इन धार्मिक रूढियों के खिलाफ विद्रोह समकालीन नारीवादी उपन्यास की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है। पुरुष द्वारा बनाए गए

सामाजिक नियम ही नारी की अस्वतंत्रता का मूल कारण है। सामाजिक नियमों के गढन के समय जहाँ पुरुष अपने लिए विशेष अधिकारों को सुरक्षित रखते हैं, वहाँ नारी को अपने अधीन में रखने के लिए उस पर कड़े नियंत्रण की व्यवस्था भी करते हैं। समकालीन नारीवादी लेखिकाओं ने सामाजिक नियमों के इन दोहरे मापदण्डों के विरुद्ध अपना सख्त विद्रोह प्रकट किया है।

स्त्री किससे स्वतंत्रता चाहती है? इसका क्या स्वरूप है जैसे सवालों की चर्चा भी इस समय के उपन्यासों में हुई है। लेखिकाओं ने इस बात को स्पष्ट करने की कोशिश की है कि दीर्घ काल तक पुरुष के अधीन में रहने के कारण ही नारी का सहज विकास संभव न हो सका। किन्तु इस समय की लेखिकाओं की दृष्टि कोरा पुरुष विद्वेष पर आधारित नहीं है। उपन्यासों में नारी द्वारा पुरुष के अनुकरण करने की प्रवृत्ति की अलोचना भी की गई है। अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए ठोस कदम उठानेवाली नारी का चित्रण इस समय के उपन्यासों की अन्य विशेषता है। अपने व्यक्तित्व की स्थापना के लिए नारी द्वारा किए जानेवाले संघर्षों का चित्रण इस समय के सभी उपन्यासों में हुआ है। अपने सामाजिक सरोकार से पूरे समाज को प्रभावित करनेवाली नारियों का चित्रण भी इस समय के उपन्यासों में उपलब्ध है। कतिपय उपन्यासों में परिस्थिति के प्रति नारी की सजगता को भी चित्रित किया गया है। वस्तुत: यह नारी चेतना की व्यापकता का प्रमाण है। संक्षेप में, वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध नारी द्वारा किए जानेवाला संघर्ष समकालीन नारीवादी उपन्यास का महत्वपूर्ण पहलू है।

नारी और सामाजिक नियम

महदेवी वर्मा ने समाज की परिभाषा करते हुए कहा, '' समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जिन्होंने व्यक्तिगत स्वार्थों की सार्वजनिक रक्षा के लिए, अपने विषम आचरणों में साम्य उत्पन्न करने वाले कुछ सामन्य नियमों से शासित होने का

समझौता कर लिया है। ”[1] प्रस्तुत परिभाषा पर ध्यान देने से यह महत्वपूर्ण सवाल उठता है कि इन नियमों का गढ़न किसने किया? इस सवाल पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक नियमों के गढ़न में पुरुष का योगदान ही महत्वपूर्ण रहा था। विश्व के अधिकांश समाज प्रारंभ में मातृसत्तात्मक थे जो बाद में पितृसत्तात्मक में परिवर्तित हो गए। वास्तव में नारी की अधीनस्थता की स्थिति इस परिवर्तन के साथ शुरू हुई थी। नारी के ऊपर अपना अधिकार बरकरार रखने के लिए पुरुष ने समय–समय पर ऐसे सामाजिक नियमों का निर्माण किया कि नारी के अलग व्यक्तित्व–विकास की कोई गुंजाईश न हो। नारीवाद के प्रचार ने नारी को पितृसत्तात्मक समाज द्वारा निर्मित सामाजिक व्यवस्था के बारे में एक पुनर्विचार के लिए बाध्य कर दिया। नतीजतन उसने पाया कि स्त्री–स्वतंत्रता और उसके व्यक्तित्व–विकास में सबसे बड़ा अवरोध पुरुष द्वारा संचालित सामाजिक व्यवस्था ही है। इस तरह पितृसत्तात्मक समाज की स्त्री–विरोधी व्यवस्थाओं के विरुद्ध संघर्ष नारीवाद का एक अभिन्न अंग बन जाता है।

हिन्दी के समकालीन नारीवादी लेखिकाओं ने पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध अपना गहरा असंतोष दर्ज किया है। पुरुष द्वारा निर्मित सामाजिक नियमों के, जिसमें पुरुष के लिए विशेष अधिकार की व्यवस्था है, पोल उन्होंने खोल दिया है। सामाजिक नियम की आड़ में नारी के ऊपर लगाए जानेवाले प्रतिबंधों और उसके ऊपर होनेवाले शोषणों के विविध आयाम इनके उपन्यासों में खुल गए हैं।

पुरुष स्त्री को हमेशा यह बोध दिलाना चाहता है कि उसके बिना नारी सुरक्षित नहीं है। ‘ सुरक्षा ’ के नाम पर वे नारी को हमेशा घर के अंदर ही रखना चाहते हैं। किन्तु इसप्रकार की ‘ सुरक्षा ’ में स्त्री की स्थिति एक बंदिनी के समान है। वास्तव में इस तथाकथित सुरक्षा–व्यवस्था में उसकी और जानवरों की स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं है। ‘ एक ज़मीन अपनी ’ की अंकिता एक स्थान पर कहती है, “ स्त्री न हुई

---

[1] महादेवी वर्मा, महदेवी साहित्य समग्र–3(लेख का नाम–समय, समाज और जीवन) पृ–269

गाय–भैंस हो गई ! खतरे अवश्य रहे होंगे पर उन खतरों से सुरक्षित बने रहने के लिए पशुओं की भाँति उसे बाड़े में कैद करने के बजाय, परिस्थितियों का सामना कर आत्मरक्षा का साहस क्यों नहीं प्रदान किया पुरुष ने? नहीं बना सकता था उसे समर्थ . . . ! उसका राजपाट छिन जाने की आशंका थी ! . . . उसकी निरंकुशता पर अंकुश लग जाने का भय था . . . ! ''[1] स्त्री के व्यक्तित्व–विकास की संभावनाओं को रोकने के उद्देश्य से ही पुरुष उसे घर के अंदर ही रखना चाहता है। ' चाक ' के रंजीत के शब्दों में पुरुष की यही मानसिकता प्रकट हुई है। वह नारी की भूमिका को एक सीमित दायरे में देखना चाहता है, '' रंजीत कहते हैं औरतों जैसे आचरण करो। अपनी सीमाएँ देखो – गहने–कपड़े माँगो। पीहर–प्यौसार जाने के लिए लड़ो–रूठो, सच मैं तुम्हारी इस तरह की हर एक बात पर निछावर हो जाऊँगा। तुमको कंचन की तरह अपने घर की हदों में सुरक्षित रखनेवाला मैं, चौखटे के बाहर का खतरनाक दायरा कैसे नापने दूँ? ''[2]

' आवाँ ' के पवार के विचार में भी स्त्री के लिए सुरक्षा का सबसे उचित विकल्प पुरुष की साया में रहना ही है। वह हर्षा की इस सुझाव की आलोचना करता है कि नारी को भीड़ में सुरक्षा के लिए पर्स में से सूजा निकालकर चलना होगा। वह नमिता से कहता है, '' फेंटे में तलवार कसकर निकलने पर भी समाज में तुम लोगों का सुरक्षित रह पाना संभव नहीं। सुरक्षा इसी में है कि समय रहते किसी योग्य घर–वर के संग सप्तपदी कर लो। घर–आंगन में झाड़ू–बुहारू करते पति के बच्चे जनो और जने हुओं का काजल–टीका करते हुए उन्हें देश–समाज का दृढ़ नैनिहाल बनाओ। मेरी बात को अन्यथा न लो, हर दूसरे–तीसरे वर्ष नौ महीना पेट फुलाकर औरत किस बूते मर्द का मुकाबला करेगी? लिखकर रख लो। इक्कीस्वीं सदी के पहले दशक के बीतते,

---

[1] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–102

[2] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–374

न बीतते संपूर्ण विश्व की सन्नारियाँ गहरे चिंतन–मनन करने लगेंगी कि उनका एकमात्र श्रेष्ठ स्वरूप जननी है– केवल जननी ! माँ होना ही उनके स्त्रीत्व की सार्थकता है। अजेय शक्ति है और पुरुष आश्रय में ही उनकी संपूर्ण सुरक्षा। ''[1]

पुरुष सामाजिक नियमों के गढ़न के समय अपने लिए कई छूटों की व्यवस्था करना नहीं भूलता। समाज में पुरुषों को जो विशेष अधिकार दिया गया है, इसका परिणाम भी नारी को झेलनी पड़ती है। ' अल्मा कबूतरी ' में इस बात का संकेत है कि पुरुष के पास अपनी बेटी को भी गिरवी रखने का अधिकार है। रामसिंह दुर्जन के यहाँ अल्मा को गिरवी रखता है। यहाँ पुरुष का अधिकार नारी को केवल एक वस्तु के रूप में तब्दील करता है। दुर्जन अल्मा से कहता है, '' अल्मा तू गिरवी धरी है, समझे रहना। भला। इसमें बुराई भी नहीं। हम कबूतराओं में तो यह चलन रहा है–– जेवर–गहना–बासन और बेटी मुसीबत के समय काम आते हैं। अब तू मेरी खरीदी हुई . . .। ''[2]

' शाल्मली ' के नरेश के विचार में पुरुष होने के कारण वह कुछ भी करने के लिए आज़ाद है। लेकिन स्त्री को पुरुष का नकल करने का अधिकार नहीं है। वह शाल्मली से कहता है, '' अब तुम मेरी नकल मत करो ! मैं मर्द हूँ, कहीं भी आ–जा सकता हूँ। तुम औरत हो और अपनी मर्यादा को पहचानो ! ''[3]

पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था हर गुनाह के लिए स्त्री को ही ज़िम्मेवार ठहराती है। क्योंकि इस व्यवस्था का निर्माता स्वयं पुरुष है। ' अपने–अपने चेहरे ' की रमा रीतू से कहती है, '' देखो रीतू, पुरुष की व्यवस्था ने हर गुनाह के लिए औरत को ज़िम्मेवार ठहराया है। जबकि गुनाह खुद पुरुष करता है। यह व्यवस्था उसने बनाई है।

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–257

[2] मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ–244

[3] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ– 74

वह रीति–रिवाज़, रिश्ते–नाते सब उसके खेल हैं। हम तो केवल बिसात में बिछी मोहरे मात्र हैं। ”[1]

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में सारे अधिकार पुरुष के पास सुरक्षित है। इतना ही नहीं स्त्री के अधिकारों की सीमा का निर्धारण करने का अधिकार भी उसी को प्राप्त है। वह नारी के ऊपर अनुशासन की कड़ी निगाह रखकर उसके विकास को अवरुद्ध करने की कोशिश करता है। पुरुष के विचार में नारी को किसी भी सामाजिक कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। ‘ चाक ’ के फत्तेसिंह के अनुसार इस प्रकार करने से गाँव की व्यवस्था का भंग हो जाता है। गुलकंदी और उसके परिवार के लोग एक आगजनी में मर जाते हैं। इस सिलसिले में गाँव आनेवाले दारोगा से लैंगसिरी बीबी और सारंग बात करती हैं। फत्तेसिंह को इस तरह नारी का नेता बनना फूटी आँख न सुहाता। वह कहता है, “ लौंगसिरी को देखो, बने–बनाए काम में अड़ंग ! रंजीत की बहू नेता बनना चाहती है। आड़–पर्दा त्याग दिया। सीतापुर की सावित्री देवी, जिसने जेठ–ससुओं के सिरों में हँड़िया मारकर प्रधानी पर कब्जा कर लिया था। भाई खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है। सावित्री बेनाथ–पगहा की औरत, विधवा राँड। कोई रोका न टोका। मर्दवाली औरत के मर्द का मरना हो जाता है। समझाना चाहिए सारंग को। ये बातें भले घरों की औरतों को शोभा नहीं देतीं। गजाधर बाबा(सारंग के ससुर) से कहना पड़ेगा, गाँव को पतुरियाघर न बनाऔ। ”[2]

औरत के विद्रोही रूप को स्वीकारने के लिए पितृसत्तात्मक समाज तैयार नहीं है। क्योंकि पितृसत्तात्मक समाज अपने सामाजिक नियम हर हालत में सुरक्षित

---

[1] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ–124

[2] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ– 366-67

रखना चाहता है जिसमें नारी कैद है। स्त्री के और पुरुष के विद्रोहीपन नापने के लिए समाज के पास भिन्न–भिन्न मापदंड है। ‘ छिन्नमस्ता ’ की प्रिया के शब्दों में,

“ व्यवस्था को तोड़नेवाली औरत को जहाँ समाज सौ कोड़े लगाता है, वहीं पुरुष को मंच पर क्रांतिकारी कहकर बैठता है। ”[1] यदि कोई औरत पुरुष द्वारा निर्मित इस व्यवस्था का उल्लंघन करती है तो पुरुष केंद्रित समाज उसे दण्ड देना चाहता है ताकि दूसरी स्त्रियाँ इसकी नकल न करें। प्रिया को लगती है कि उसके साथ भी यही हुआ है। वह कहती है, “ एक वक्त ऐसा भी आया जब समाज की हर नज़र केवल सलीब की ओर थी। वे चाहते थे कि ऐसी घरफोड़ औरत को सज़ा मिलनी चाहिए, क्योंकि कहीं न कहीं उन्हें मेरी सफलताओं से भय था। शायद वे मठाधीश सोचते हों कि एक औरत लड़कर कुछ हासिल कर लेती है तो दूसरी औरतें भी तो उन्हीं रास्तों पर चलेंगी। और तमाम बातें शब्दों से ही नहीं कही जाती थीं। बहुत कुछ लोगों के हाव–भाव से मैं समझ जाती थी। ”[2]

पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत औरत सिर्फ अर्ध–मानव है। इस व्यवस्था में उसने एक व्यक्ति की हैसियत अब तक अर्जित नहीं की है और इस बात में अमीर और गरीब वर्ग की नारियों के बीच कोई खास फरक नहीं है। ‘ आओ पेपे घर चलें ’ की कैथी प्रभा से कहती है–– “ प्रभा, औरत अभी मनुष्य श्रेणी में नहीं गिनी जाती और तुम अमीर–गरीब का सवाल उठा रही हो? राष्ट्र का भेद समझा रही हो? माई स्वीट हार्ट ! तुम अर्ध–मानव हैं। पहले व्यक्ति तो बनो, उसके बाद बात करना। ”[3]

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ187

[2] वही, पृ 206

[3] प्रभा खेतान, आओ पेपे घर चलें, पृ109

सामाजिक नियमों के गढ़न में धर्म की भूमिका सबसे अहम रही है। किन्तु धार्मिक व्यवस्थायें भी स्त्री के ऊपर कड़े नियंत्रण रखकर उसके विकास को रोकने का प्रयास ही करके आयी हैं। धर्म के नियम रूढ़ियों का रूप धारण करके स्त्री–जीवन की सबसे बड़ी बाधा बन चुके हैं।

धार्मिक रूढ़ियाँ

भारतीय समाज में धर्म का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारत निश्चय ही एक धर्म–केंद्रित समाज है। भारत के प्रत्येक व्यक्ति के आचरण और क्रिया कलापों को निर्धारित करने में, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, धर्म का स्थान निर्विवाद का है। किन्तु धर्म द्वारा गढ़ित व्यवस्थाओं के अंतर्गत भी पुरुष के लिए विशेष अधिकार सुरक्षित है। इतना ही नहीं विश्व के सभी धर्म स्त्री के ऊपर कड़े नियंत्रण रखने की व्यवस्था रखते हैं। इसका मूल कारण यह है कि हमारे सारे धर्म पितृसत्तात्मक हैं। स्त्री की भूमिका को केवल घर तक सीमित रखकर, उसके विकास को रोकने में विश्व के सभी धर्मों के बीच कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं देता। इसप्रकार आज धर्म स्त्री के लिए एक शोषक तत्व साबित हुआ है। डॉ० अलका प्रकाश के विचार में स्त्री–जीवन का जितना शोषण धर्म के नाम पर हुआ है उतना कोई अन्य वस्तु के नाम पर नहीं हुआ है। वह लिखती है, ‘‘ नारी को आपत्ति है कि धर्म ने उसकी सुप्त चेतना को कभी जागृत नहीं होने दिया। स्त्री का जितना शोषण धर्म के नाम पर हुआ, उतना किसी ओर चीज़ के नाम पर नहीं। जिस धर्म ने मानव को ऊँचाई और पुण्य का मार्ग दिखाया था, वही धर्म नारी के मार्ग का रोड़ा बना, उसे धर्म के नाम पर गुलाम बना दिया गया और साथ ही साथ पुरुष को ईश्वर बना दिया गया। नारी को बचपन से ही ऐसे संस्कार दिये जाते हैं कि

वह बड़ी होकर पति को प्रसन्न रख सके, उसे सिखाया जाता है कि पत्नी का धर्म है पति की चौखट पर पहूँचने के बाद उसकी अर्थी ही वहाँ से उठे। ”[1]

धार्मिक रूढियों के नाम पर होनेवाले शोषण का चित्रण समकालीन नारीवादी लेखिकाओं के उपन्यासों का प्रमुख अंग है। नारी चेतना के उदय ने धर्म को एक नई दृष्टि से देखने की प्रेरणा उन्हें दी। परंपरा से चली आ रही धार्मिक मान्यताओं को उन्होंने कठघरे में खड़ा कर दिया। आज की जागृत नारी धर्म का अंधानुसरण करने को तैयार नहीं है। समकालीन लेखिकाओं ने धार्मिक रूढ़ियों के खोखलेपन और उसमें निहित स्त्री–विरुद्धता को बेनकाब करने में विशेष ध्यान दिया है।

सभी धर्म स्त्रियों के ऊपर बहुत सारी पाबंदियाँ लगाकर उसकी स्वतंत्रता की सीमा को संकुचित बनाते हैं। नासिरा शर्मा का उपन्यास ‘ सात नदियाँ एक समंदर ’ का परिवेश खुमैनी के समय का ईरान है। कट्टर धर्मवादी होने के कारण स्त्री–पुरुष के एक साथ चलने में भी उन्होंने प्रतिबंध लगा दिया था। भाई और बहनों को भी एक साथ चलने का अधिकार नहीं था। “ उनका (पासदार के) दहक़नी नज़रिया सड़कों पर लड़के–लड़कियों के साथ चलने पर भी संदेह करता था। उन्हें आरोप के घेरे में डाल वे सीधे कमेटी पहूँचा देते थे। उनकी इन हरकतों से भाई–बहनों ने एक साथ सड़कों पर निकलना बंद कर दिया था। ”[2] नासिरा शर्मा का अन्य उपन्यास ‘ ठीकरे की मंगनी ’ की महरूख की ज़िन्दगी में धार्मिक रूढ़ियों का हस्तक्षेप उसके जन्म के साथ ही शुरू हो जाता है। उपन्यास का प्रस्तुत नाम ही, ‘ ठीकरे की मंगनी ’ धर्म संबंधी रूढी का संकेत देता है। उसकी पैदाईश के फौरन बाद उसकी खाला ने गनदगी से भरे ठीकरे पर चाँदी का चमचमाता रूपया फेंक दिया था। “ यह ‘ टोटके ’ की रस्म थी, ताकि लड़की

---

[1] डॉ० अलका प्रकाश, नारी चेतना के आयाम, पृ–66

[2] नासिरा शर्मा, सात नदियाँ एक समंदर, पृ–90

जी जाए, इसके ददिहाल में तो लड़कियाँ जीती ही न थीं। शाहिदा ने पैदा होते ही उसे गोद ले लिया था, मगर यह टोटके की रस्म सच पूछो, ‘ ठीकरे के मंगनी ’ में बदल डाली थी। ”[1] इस तरह महरूख के जन्म के तुरंत बाद ही उसकी मांगनी हो जाती है जो बाद में उसके जीवन में कई समस्याओं का कारण बन जाता है।

धार्मिक रूढियाँ और कुप्रथाएँ निश्चय ही स्त्रियों के व्यक्तित्व विकास में बाधक हैं। ‘ एक ज़मीन अपनी ’ की अंकिता को लगती है कि अन्य प्रदेशों की तुलना में हिन्दी प्रदेश की स्त्रियों के जीवन में इन रूढ़ियों का प्रभाव गहरा है। वह कहती है,

“ अन्य प्रदेशों की तुलना में हिन्दी प्रदेश स्त्रियों के मामले में अनेक कुप्रथाओं और रूढ़ियों से गहरे जकड़ा हुआ है . . . इस पिछड़ेपन और संकीर्णता के ऐतिहासिक, सामाजिक कारण हो सकते हैं। लेकिन ये सारी चीज़ें निश्चित ही उसके लिए सीमाएँ बन गई हैं। ”[2]

धार्मिक अनुष्ठानों का निर्वाह करने के लिए क्या नारी ही बाध्य है? हमारे समाज में सारा व्रत स्त्री को ही करना पड़ता है। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि कोई भी व्रत स्त्री अपने लिए नहीं करती। सारा व्रत या तो वह पति के लिए करती है नहीं तो पुत्र के लिए। इस संबंध में क्षमा शर्मा का कथन उल्लेखनीय है, “ हर समस्या के निदान के लिए एक व्रत मौजूद है। परिवार के ढ़ाँचे में चाहे स्त्री सबसे अन्तिम सीढी पर खड़ी हो, व्रत करने–कराने के लिए उसे सौ फीसदी आगे रखा गया है। परिवार में भी पति और पुत्र के लिए किए गए व्रत सबसे महत्वपूर्ण हैं। यानी कि मर्द की सत्ता बनी रहे इसकी कामना भी स्त्री को ही करनी है। यही नहीं उनकी सत्ता की

---

[1] नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, पृ–17
[2] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–98

कामना के लिए अपनी इच्छाओं को मारना है। भूखा रहना है, व्रत करना है। ”[1] गीतांजली श्री की ‘ माई ’ की सुनैना के मन में यह प्रश्न उठता है कि पत्नी की मंगलकामना के लिए कौन व्रत रखता है? उसकी माई तो पति और संतानों के लिए सारे के सारे व्रत रखती है। सुनैना सोचती है, “ त्याग करना और कुछ पाना हमारे यहाँ की सदियों पुरानी प्रथा है। माई कष्ट सहके त्याग करती, दूसरे कुछ पा जाते। व्रतों की ही लम्बी फेहरिस्त थी जो सारे वह रखती थी। अहोई, तीज, ललहीछट, बृहस्पत, सोमवार, शिवरात्री, गणेशचतुर्थी, च्यूतिया। कोई पति की मंगलकामना के लिए, कोई पुत्र के लिए, सन्तान के लिए। ”[2]

पितृसत्तात्मक धर्म के साँचे में ढलने के कारण स्त्री के मन में धर्म और धार्मिक संस्कारों के प्रति आस्था होना स्वाभाविक है। इसी आस्था के कारण ‘ झूला नट ’ की सीलो अपने ऊपर उपेक्षा भाव रखनेवाले पति को वश में लाने के लिए व्रतों का सिलसिला ज़ारी रखती है। वह महमाई के मंदिर तक और मंदिर से शिवाले तक ब्रह्म वेला में पेट के बल लेट–लेटकर पहूँचती है, तुलसी का चौरा और पीपल का पेड़ ढारती है, घर में सुंदर कांड का पाठ करती है। लेकिन इन सब का कोई असर नहीं हुआ। सुमेर दूसरी स्त्री से शादी कर लेता है। मैत्रेयी के ‘ चाक ’ में कुछ ऐसी नारियों का चित्रण किया गया है जो बीमार होने पर भी करवा चौथ के दिन दवा लेने को तैयार नहीं होतीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि धर्म का स्त्री–जीवन पर कितना असर है,

“ धुंधी के बेटा की बहू को पीलिया हो गया। दवा खाती है। आज दवा नहीं खाएगी। दवा के साथ पानी भी तो जाएगा। बरत खंडित हो जाता है ऐसे। एक दिन में मर तो नहीं जाएगी। देख लो चरनसिंह के बेटा की बहू को ! पेट काटकर अपरेशन हुआ था। कल ही गाड़ी में धरकर लाए हैं, पर बरत नहीं तोड़ा। निर्जला रही। कहनी है–

---

[1] क्षमा शर्मा, स्त्रीवादी विमर्श: समाज और साहित्य, पृ–36

[2] गीतांजली श्री, माई, पृ–50

हम मर जाएँ तो हमारा सौभाग्य। सुहागिन मरना कितनों को मिलता है? पति के कंधों पर हैं सति। ऐसी सतियों से ही चल रहा है संसार, नहीं तो अब तक दुनियाँ रसातल को चली गई होती। ”[1]

बिरादरी के नियम भी स्त्रियों के अनुकूल नहीं है। हाँलाँकि प्रत्येक बिरादरी के नियम भिन्न–भिन्न है किन्तु स्त्रियों के ऊपर कड़े नियंत्रण रखने के मामले में इनके बीच कोई खास अंतर नहीं है। बिरादरी के नियमों में भी पुरुष के लिए विशेष अधिकारों की व्यवस्था है। ‘ चाक ’ की रेशम बिरादरी के इस प्रकार के नियमों की अलोचना करती है। वह कहती है, “ हाँ, हुक्का–पानी छिकेगा इनका। पाँत–पंगत से अलग किए जाएँगे। सारंग बीबी, बिरादरी भी अजब चीज़ है ! मेरे बच्चे की हत्या करवाकर ही इन्हें अपने में शामिल रखेगी ! हद के ही नहीं? हत्यारों को माफी है, जनम देनेवाली औरत को नहीं? ”[2] पुरुष से अलग स्त्री के व्यक्तित्व की कल्पना करना किसी भी बिरादरी के लिए संभव नहीं है। ‘ चाक ’ के रंजीत पत्नी सारंग को इसी बात की याद दिलाता है,

“ तुम यह नहीं जानतीं कि ग्यारह साल नहीं, ग्यारह दिन ही बहुत होते हैं गाँव को समझने के लिए। गाँव की निगाह में तुम रंजीतसिंह जाट की बहू हो, यही तुम्हारी पहचान है।और हम जिस कौम, जिस समाज से जुड़े हैं, उससे अलग वजूद नहीं रखते। बिरादरी से बाहर रहकर हमारी क्या औकात? उसके नियम इसलिए ज़रूरी हैं। ”[3]

बिरादरी के नियमों का उल्लंघन करनेवाली नारियों को दण्ड देने का अधिकार भी बिरादरी में निहित है। ‘ अल्मा कबूतरी ’ की कदमबाई और भूरी को इसप्रकार के दण्ड का सामना करना पड़ता है। बिरादरी के नियमों का उल्लंघन

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–188

[2] वही, पृ–21

[3] वही , पृ–143

करनेवाली भूरी को बिरादरी जल–समाधी की सज़ा देता है। जल–समाधी से बचना ही भूरी की पवित्रता का प्रमाण है,

“ भूरी के लिए सजा– जल समाधि ! अग्नि परीक्षा। पुराने समय से चली आ रही रिवाज़ों के हिसाब से लोग गहरे तालाब के किनारे जुड़ते हैं – रात के समय। जल–परीक्षा लेनेवाला आदमी ताल की दूसरी ओर पथर फेंकेगा। जहाँ पथर गिरे, वहाँ लाल कपड़े के रूप में औरत की ज़िन्दगी रख दी जाती है। सजायाफता औरत को तब तक पानी में डूबा रहना पड़ेगा, जब तक कि सामने के छोर पर नैनात आदमी जल परीक्षक को वह लाल कपड़ा उठाकर न दे दे। उतनी दूर आना और जाना . . . साँसों से साँसों तक की दूरी। ज़िंदगी और मौत का दाँव। प्राणों को डुबाकर भी स्त्री बच जाए तो उसका भग्य उसकी पवित्रता का सबूत। ”[1]

धार्मिक रूढ़ियाँ और बिरादरी के नियम किस हद तक स्त्री के विकास के लिए बाधक है इसका खुलासा समकालीन नारीवादी उपन्यासों में हुआ है। किन्तु समकालीन नारीवादी लेखिकाएँ समस्याओं के चित्रण मात्र से संतुष्ट नहीं है। वे इन स्त्री–विरुद्ध रूढियों और सामाजिक नियमों के विरुद्ध सख्त विद्रोह भी प्रकट करती हैं।

विद्रोह

विद्रोह का जन्म असंतोष से होता है। डॉ० महीप सिंह के शब्दों में, “ विरोध या विद्रोह का जन्म असंतोष से होता है। व्यक्ति या एक वर्ग जब अपनी स्थिति से असंतुष्ट होता है, तो वह उससे उबरना चाहता है। परन्तु स्थापित मान्यताएँ और व्यवस्थाएँ उसे उबरने नहीं देतीं, क्योंकि इससे निर्धारित सीमाएँ टूटती हैं। ”[2] किसी भी विद्रोही का जन्म एक दिन से नहीं होता। स्त्री–विरुद्ध रूढियों और सामाजिक

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ–76

[2] डॉ० महीप सिंह, समकालीन साहित्य चिन्तन, पृ–21

नियमों के विरुद्ध स्त्रियों का विद्रोह भी एक दिन से शुरू नहीं हुआ था। वास्तव में यह विद्रोह इस पहाचन से हुआ था कि इन नियमों का वास्तविक उद्देश स्त्री–शोषण है। इस पहचान ने शताब्दियों से चली आ रही चुप्पी को तोड़ा। आज की नारी चाहती है कि संस्कृति और धर्म के नाम पर उसका शोषण न हो।

हिन्दी उपन्यासों में प्रेमचंद के समय से ही नारी–शोषण के विभिन्न आयामों का चित्रण होता आया है। किन्तु इस समय के अधिकांश उपन्यासकारों का उद्देश्य नारी शोषण के तमाम रूपों को पाठकों के सामने प्रस्तुत करना मात्र था। इस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन की कामना बहुत कम ही हुआ था। जहाँ तक महिला उपन्यास लेखिकाओं की बात थी वे भी शोषण के ज़िक्र करने के बाद अपने काम से निवृत्त होती थीं। किन्तु समकालीन नारीवादी लेखिकाएँ केवल वस्तु–स्थिति के वर्णन से संतुष्ट नहीं है। वे इस व्यवस्था में परिवर्तन की कामना करती हैं और इसके लिए संघर्ष भी। नारी के बदलते रूप के संबंध में दिनेश धर्मपाल का कथन यहाँ उल्लेखनीय है,

“ उसके व्यक्तित्व का सबसे मज़बूत पक्ष जो आज विद्यमान है वह यह है कि आज वह अभिव्यक्त होना चाहती है। वह परदे और बुर्के की संस्कृति से पूर्णतः मुक्त हो खुले में आने को उद्यत है। इसी दिशा में प्रयत्नशील है। प्रत्येक विषय पर आज उसके अपने विचार हैं : स्वतंत्र विचार . . . उनमुक्त विचार। अतीत से विपरीत स्वर लिये। उत्पीड़न की लीक तोड़ते। उपेक्षा के सूत्रों से भिड़ते। शोषण की मर्यादाओं की धज्जियाँ उड़ाते। बलात्कार, अश्लीलता के प्रति अपना विरोध दर्ज करते। दो–दो हाथ करने को उत्सुक दिखते। ”[1]

[1] दिनेश धर्मपाल, स्त्री, पृ–72

सामाजिक नियम के विरुद्ध विद्रोह

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में चित्रित नारियाँ उन सामाजिक नियमों के विरुद्ध सख्त विद्रोह प्रकट करती हैं जो पुरुष द्वारा स्त्री को काबू में रखने के लिए बनाये गए हैं। इन सामाजिक नियमों के दोहरे मापदण्डों के विरुद्ध गहरे असंतोष की अभिव्यक्ति इस समय के सभी उपन्यासों में हुई हैं। ' इदन्नमम ' की कुसुमा इस सामाजिक व्यवस्था के सामने प्रश्नचिह्न लगाती है। वह मंदा से पूछती है, " बिन्नू, हमें एक बात समझाओ, अरथाओ कि ये रिस्ते–नाते, संबंध और मरजाद किसने बनाई? किसने सिरजी है बंधनों की रीत? जो नाम लेती हो उनने? मनु–व्यास ने? रिसियों मुनियों ने? देवताओं ने कि राच्छसों ने? "[1] ' तत्–सम की वसुधा की भाभी भी सामाजिक नियमों के इन दोहरे मापदंडों के विरुद्ध आक्रोश करती है। वसुधा से माँ की यह पूछने पर कि " तुम क्यों मर्दों से होड़ लेने में लगी हो? " पर भाभी कहती है – – " औरत हूँ तभी तो . . . ज़रा न्याय तो देखो अपने भगवान का। भकुआ आदमी अकेला रह जाए तो तूफान खड़ा हो जाए और औरत के लिए पत्ता भी न हिले जबकि वह हर तरह से ज़्यादा मजबूर है। तुम्हें बुरा लगता है तो लगे। मैं तो कहूँगी, तुम्हारे भगवान की दुनिया में इंसान नहीं है कोई। दो धर्म हैं . . . दो जातियाँ हैं . . . और दोनों के लिए अलग–अलग तरह के नियम। "[2]

' छिन्नमस्ता ' की प्रिया आदिकाल से चली आ रही परंपरा का विरोध करती है क्योंकि वह जानती है कि इसका मुख्य उद्देश स्त्री–शोषण है। वह सोचती है, " मुझे प्रेम, सेक्स्, विवाह, ये सारे सदियों पुराने घिसे हुए शब्द लगने लगे थे। नहीं, माँस के ताज़े टुकड़े, लहू टपकते हुए। इन शब्दों के पीछे की दीवानगी और आदिकाल

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ– 83

[2] राजी सेठ, तत्–सम, पृ–29

से चली आ रही परंपराओं का चेहरा सिर्फ औरत के आँसुओं से तरबतर है। "[1] दूसरे स्थान पर भी प्रिया पुरुष द्वारा बनायी गयी सामाजिक व्यवस्था के वास्तविक उद्देश्य की सूचना देती है। नरेन्द्र और उसके संवाद से–

" यानी आपसी ईमानदारी, वफादारी, प्यार, समर्पण . . . यह सब कुछ नहीं? "

कुछ नहीं ! सच कहूँ नरेंद्र, ये शब्द भ्रम हैं। औरत को यह सब इसलिए सिखाया जाता है कि वह इन शब्दों के चक्रव्यूह से कभी नहीं निकल पाए ताकि युगों से चली आती अहुति की परंपरा को कायम रखे। "[2]

हमारे समाज में पुरुष की गलती को अनदेखा करने और गौण मानने की प्रवृत्ति प्रचलित है। किन्तु नारी की छोटी–सी गलती को भी बर्दाश्त करने के लिए समाज तैयार नहीं है। सामाजिक नियमों के उल्लंघन करनेवाली स्त्रियों को कभी–कभी सामाजिक बहिष्कार तक का सामना करना पड़ता है। किन्तु पुरुष की स्थिति इससे ठीक विपरीत है। महदेवी वर्मा के शब्दों में, " किसी भी पुरुष का कैसा भी चारित्रिक पतन उससे सामाजिकता का अधिकार नहीं छीन लेता, उसे गृह–जीवन से निर्वासन नहीं देता, सुसंस्कृत व्यक्तियों में उसका प्रवेश निषिद्ध नहीं बनाता, और धर्म से लेकर राजनीति तक सभी क्षेत्रों में ऊँचे–ऊँचे पदों तक पहूँचने का मार्ग नहीं रोक लेता। साधारणतः महान दुराचारी पुरुष भी परम सती स्त्री के चरित्र का आलोचक ही नहीं न्यायकर्ता भी बना रहता है। "[3]

पुरुष की गलती को अनदेखा करने की प्रवृत्ति की आलोचना समकालीन नारीवादी उपन्यासों में देखा जा सकता है। ' झूला नट ' के सुमेर पत्नी सीलो के रहते

---

[1] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–124

[2] वही, पृ–12

[3] महादेवी वर्मा, महदेवी साहित्य समग्र–3 हमारी श्रृंखला की कड़ियाँ, पृ–316

हुए दूसरी स्त्री के साथ संबंध स्थापित करता है। किन्तु गाँव के लोग इसमें कोई दोष नहीं देखता। इस संबंध में सीलो सत्ते की अम्मा से कहती है, “ ऐं काकी जी, पुलिसिया बेटा की बछिया की पाँत खा ली? पूछा नहीं कि बरकट्‌टो(बाल कटी) ब्याही है या रखैल? बेटों के चलते रसम–रीत भूलकर बहुओं की पीठों के लिए कोड़े लिए फिरती हो तुम बूढ़ी जनी। ”[1] ‘ चाक ’ की सारंग कठोर अनुशासन कायम रखनेवाले गुरुकुल में भी इस तरह केवल नारी को दण्ड देने की प्रवृत्ति के विरुद्ध क्रांति का आह्वान करती है। शास्त्रीजी अपनी शिष्या के साथ बदतमीज़ी करता है। किन्तु सज़ा केवल शारदा को ही मिलती है, उसे कोढ़े में बंद किया जाता है। तब सारंग बाकी लड़कियों से कहती है, “ मेरी साँसें मगज को चढ़ने लगीं। सारा दोष शारदा पर . . . पुरुष तुम कितने अन्यायी ! उसके बाद शास्त्रीजी की सूरत से घृणा होने लगी। मैंने लड़कियों में आवाज़ उठाई– कोई खाना खाने मत जाओ। विद्यालय, यज्ञशाला में पाँव तक न धरो। ये सब सूलीधर हैं। यहाँ के लोग ढोंगी हैं। ”[2] मैत्रेयी का अन्य उपन्यास

‘ इदन्नमम ’ की कुसुमा भी पुरुष की गलती को अनदएखा करने की प्रवृत्ति की अलोचना करती है।

पितृसत्तात्मक समाज नारी को हमेशा याद दिलाता रहता है कि वह किसी न किसी पुरुष की सुरक्षा में ही अपनी ज़िन्दगी बिता सकती है। यह पुरुष कभी पिता होता है, कभी पति होता है तो कभी पुत्र। इस अवधारणा में ‘ मनुस्मृति ’ का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इस व्यवस्था के कारण स्त्री इन पुरुषों की इच्छा के अनुसार अपने आप को ढ़लने के लिए विवश हो जाती है। लेकिन आधुनिक नारी इस प्रकार अपने आप को ढ़लने को तैयार नहीं है। ‘ शाल्मली ’ उपन्यास में इस बात को व्यक्त

[1] मैत्रेयी पुष्पा, झूला नट, पृ–80

[2] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–91

किया गया है कि औरत गीली मिट्टी नहीं है। शाल्मली नरेश से कहती है, “ मान लो आज मैं सारे जतन करके तुम्हारी दृष्टि को आँख बन्द करके अपना लूँ और एक लम्बे समय तक तुम्हारी खुशी के लिए अपना पिछला जीवन भूल जाऊँ। जब तुम्हारी मेहनत की महक की आदत पड़ जाएगी, तो एक दिन बेटा अपनी इच्छा के अनुसार मुझे ढालने की कोशिश करेगा। बताओ, हम औरतें क्या है? गीली मिट्टी? कितनी बार हम अपने को मिटाकर नए–नए रूप में ढले? यानी हमारा कोई अस्तित्व नहीं, अधिकार नहीं, विवाह का अर्थ है, अपना जन्म–स्थान भुला देना और एक मनुष्य की इच्छा और रुचि का दास बन जाना? ”[1]

‘ तत्–सम ’ की वसुधा के विचार में नारी में आत्मविश्वास जगाने का कोई श्रम समाज की ओर से नहीं हो रहा है जिससे अपनी सुरक्षा वह स्वयं कर सके। इतना ही नहीं उसे हमेशा बाहर के खतरों की सूचना देकर एक खौफनाक जीवन जीने को विवश भी किया जाता है। वह सोचती है, “ जानती है हमारे चिंतन का हिस्सा हो गई हैं इस प्रकार की चिंताएँ। इज़्ज़त–अस्मत के संभावित खतरों के विरुद्ध हर समय की चौकसी। पता नहीं क्यों हर समय संदिग्ध मानी जाती है स्त्री की। वर्जित हुआ रहता है उसे अभय। किसी–न–किसी भय की तलवार तले काँपा करता है जीवन। किसी–न–किसी आक्रमण के खौफ में ठिठुरा आत्मविश्वास ! यह कभी मन में स्पष्ट ही नहीं होने पाता कि क्या मुख्य है क्या गौण। आत्मरक्षा बड़ी है या आत्मविश्वास। सारा यत्न संभावित खतरों से बच पाने के पैंतरों को जानने का है कुछ अर्जित कर सकने का नहीं। आत्मबल पा लिया जाए तो अपनी रक्षा अपने आप नहीं हो सकती क्या? ”[2]

नारी को बचपन से ही दया, करुणा, प्रेम, त्याग, समर्पण आदि का पाठ पठाया जाता है। उसे सिखाया जाता है कि पुरुष के सामने समर्पण करना ही नारी का

[1] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–75

[2] राजी सेठ, तत्–सम, पृ–68

सबसे बड़ा गुण है। किन्तु आधुनिक नारी इसप्रकार के समर्पण में विश्वास नहीं रखती। ‘ पीली आँधी ’ की सोमा ऐसे त्याग में कोई विश्वास नहीं रखती। ताई और सोमा के संवाद से –

“ बेटा! लुगाई की जात को सुख नहीं खोजना चाहिए। त्याग में शांति है। ”

“ मैं नहीं ऐसे त्याग में विश्वास करती। ”[1]

आगे वह यह भी व्यक्त करती है कि दुनिया और समाज का लिहाज करने के लिए वह तैयार नहीं है। ‘ आवाँ ’ की हर्षा पितृसत्तात्मक समाज के विचारों को कोई महत्व नहीं देती। लड़की के धैर्य को पुरुष मेधा समाज ने जो परिभाषा दी है, उसे मानने को वह तैयार नहीं है। वह नमिता से कहती है कि नारी को अपनी परिभाषा स्वयं गढ़नी चाहिए। उसके और नमिता के संवाद से–

“ अब आया ऊँट पहाड़ के नीचे। बोल्ड बन। ”

“ सो नहीं होने का। मैं एक अच्छी लड़की हूँ। ”

“ बोल्ड लड़कियाँ अच्छी नहीं होतीं? ”

“ यह मेरी नहीं औरों की धारणा है। ”

“ औरों को मार गोली। कुएँ के मेंढक वर्जनाहीनता को बोल्ड की परिभाषा गढ़े हुए बैठे हैं। उनकी दूरबीन उनको मुबारक। अपने अनुभवों से तू अपनी परिभाषा गढ़। आत्मविश्वास आर्जित कर। ये दीन–हीनता झटक, उतार फेंक केंचुल। ”[2]

---

[1] प्रभा खेतान, पीली आँधी पृ–253

[2] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–55

धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह

स्त्रियों द्वारा धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह समकालीन नारीवादी उपन्यास की प्रमुख प्रवृत्ति है। भारत जैसे देश में जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में धर्म की गहरी पकड़ है, इस विद्रोह का विशेष महत्व है। आज़ादी के बाद नारी में जो नवीन चेतना आयी, उसने नारी को अपने विकास के बाधक रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज़ उठाने की प्रेरणा दी। डॉ० अलका प्रकाश के शब्दों में, '' ' चेतना संपन्न ' होने पर सर्वप्रथम नारी ने यह विचार करना प्रारंभ किया कि समाज में अब तक उसे उसका वास्तविक स्थान नहीं मिल पाने का क्या कारण है? इसका उत्तर उसने समाज में व्याप्त विभिन्न प्रकार की विसंगतियों में खोजना चाहा। ये विसंगतियाँ ' धर्म एवं आस्था ' तथा ' परंपरा एवं मूल्यों ' के प्रति समाज के दोहरे मानदण्ड के कारण हैं जो पुरुष एवं स्त्री के लिए एक समान नहीं है। सभी संबंधों में नारी की स्थिति अधीनस्थ की है इसलिए उसके मन में समाज के प्रति असंतोष है। शोषण के प्रति उसकी अभिव्यक्ति मुखर हो उठी है। ''[1]

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में ऐसी नारियों का चित्रण उपलब्ध है, जो धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध अपना सख्त विद्रोह प्रकट करती हैं। वे इन रूढियों के अन्धानुसरण करने को तैयार नहीं है। ' पीली आँधी ' की सोमा करवा चौध व्रत रखने को तैयार नहीं है। यह व्रत तो पति की दीर्घायुता के लिए रखा जाता है। करवा चौध रखने के लिए जब ताईजी सोमा को मजबूर करती है तो वह उससे पूछती है, '' लेकिन ताईजी, इतने नियम–आचरण के बावजूद आप कैसे विधवा हो गईं और देखिए ना निमली बाई को और फिर रेवा बाई को। ''[2] उत्तर भारत के गाँवों में स्त्री का दूसरा विवाह बछिया दान के साथ ही संपन्न होता है। किन्तु ' झूला नट ' की सेलो

---

[1] डॉ० अलका प्रकाश, नारी चेतना के आयाम, पृ–62

[2] प्रभा खेतान, पीली आँधी पृ–183

इसप्रकार बछिया दान करने को तैयार नहीं होती और अंत में वह अपना विचार खुलकर प्रकट करती है, “ अंत में शीलो ने अपने दिल की बात कह दी , “ अम्मा जी, रीत–रस्म लिखा हुआ रुक्का तो नहीं होती। ”[1]

‘ ठीकरे की मंगनी ’ की महरूख धर्म द्वारा निर्धारित मान्यताओं को पूर्णतया कबूल करने को तैयार नहीं है। वह ठीकरे की मंगनी को तोड़ती है जबकि मंगनी तोड़ने वाली लड़की को दुबारा कोई संबंध मिलना आसान नहीं है। एक स्थान पर वह कहती है,“ पता नहीं, मेरे पास है क्या जो खुद से उसकी हिफाज़त के लिए कुछ माँगूँ? थोड़ा–बहुत जो पढ़ा है, उससे मजहब की अफीमी कैफियत से भी आज़ाद हूँ। मैं कोई भी चीज़ पूरी तरह कबूल नहीं कर पाती हूँ। ”[2]

‘ आवाँ ’ की विमला बेन सुनंदा की मय्यत को अपने कंधे पर टेक लेती है।वह इस नियम का पालन करने को तैयार नहीं होती कि औरत को मय्यत को कंधा देने का अधिकार नहीं है। वह दूसरी स्त्रियों को भी मय्यत को कंधा लेने का आह्वान देती है। वह कहती है, “ कूपमंडूक पुरुषों से हमें सीखना होगा कि स्त्रियों के लिए क्या शास्त्र–सम्मत है, क्या नहीं? निर्दोष स्त्री की नृशंस हत्या करना शास्त्र–सम्मत है, पाटिल? नहीं, तो पूछो अपने हृदय से कि क्यों हमसे किसी ने उसके प्राण ले लिए? मैं कंधा किसी औरत की मय्यत को नहीं दे रही, उस स्त्री–चेतना को दे रही हूँ जिसका गला घोंटने की कोशिश हत्या के बहाने हुई है ! मैं हर जाति, धर्म, वर्ण की स्त्रियों का आह्वान करती हूँ कि वे सबकी सब श्मशान चलें और बारी–बारी से सुनंदा की मय्यत को कंधा दें। ”[3] इसी उपन्यास में नमिता की ताई भी परंपरा से चली आ

---

[1] मैत्रेयी पुष्पा, झूला नट, पृ–75

[2] नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, पृ–140

[3] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–153

रही उन रूढ़ियों का विरोध करती है जो स्त्रियों को उनके अधिकारों से वंचित रखती है। नमिता पिता की मृत्यु के बाद उसके शरीर को मुखाग्नि देना चाहती है। किन्तु इसका हक पुत्री को नहीं है इसलिए सब उसका विरोध करती है। तब ताई उसका समर्थन करती है। वह कहती है, " जो कभी हुआ नहीं, वह हो ही नहीं सकता -- ज़रूरी नहीं ! रूढि टूटनी ही चाहिए। बाल-विवाह हुआ करते थे पहले। लड़कियाँ घर में होती ही नहीं थीं। ऊपर से उन्हें पराया मान लिया जाता था। कमज़ोर भी। बस, हो गया स्त्रियों के लिए मुखाग्नि देना वर्जित। शास्त्रियों ने लिख दिया। पंगा पंथियों ने लगा दिया ठप्पा। इतना तो हो सकता है -- विधि-विधान में छोटे भाई के संग बड़ी-बहन खड़ी रहे या उसमें भी आपको आपत्ति है, पंडितजी? "[1]

हमारे समाज में विधवा को साधारण जीवन बिताने का अधिकार नहीं है। विधवा स्त्री के मामले में धार्मिक रूढ़ियाँ कुछ अधिक कठोर रूप धारण करती है और उस पर कई सारी पाबंदियाँ लगाती हैं। ' दिलो-दानिश ' की छुन्ना, इस प्रकार की पाबंदियों का अनुसरण करने के लिए तैयार नहीं होती। शौहर के जाते ही यमुना के किनारे जाकर बैठने को वह तैयार नहीं है। जब सास उससे रंग-बिरंगी धोतियाँ मत पहने की बात करती है तो वह कहती है,

" अम्माँ, इन रिवाज़ों में क्या रखा है ! हम ऐसी दुश्मनी अपने पर कभी न लादेंगे। "[2] दूसरे स्थान पर भी वह विधवा के ऊपर लादी गयी पाबंदियों के विरुद्ध आक्रोश करती है। " हम न किसी से कुछ पूछने गए और न कहने। जाने क्या से क्या कहानी गढ़ रही हैं। एक नाम धर दिया हमारा, विधवा। वह तो हर सगुण शास्त्र के बाहर,

---

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ-400

[2] कृष्णा सोबती, दिलो-दानिश, पृ-95

उस पर इनकी सब खामियों – नाकामियों के ज़िम्मेवार भी हमी। इनके लिए दुबारा से निकाल लें बिछुए और टिकुली। हद है अंधविश्वास की ! ”[1]

सीता की तरह अग्नि परीक्षा देने के लिए आधुनिक नारी तैयार नहीं है। वह सामाजिक स्वीकृति के बारे में सोचकर परेशान भी नहीं है। वह सामाजिक और नैतिक नियम की तुलना में अपने व्यक्तिगत नियम पर ज़्यादा विश्वास रखती है। ‘ अपने–अपने चेहरे ’ की रमा की सोच ठीक इसी प्रकार है, “ लेकिन रमा का कहना है कोई यदि खड़िया के घेरे को समाज–समाज कहे तो यह उसका समाज है, पूरा मानव समाज तो नहीं। आप जिनकी नज़र से जीते हैं, वे केवल सौ–दो सौ जोड़ी आँखें हैं। रमा को अब इन आँखों से डर नहीं लगता। पहले लगता था। लेकिन तब वह छोटी थी। . . . . हाँ, शायद इसलिए वह कहती है कि अब भी यदि मुझे अपने किए की कैफियत देनी पड़े, तब जहन्नुम में जाएँ आप और आपका समाज। मेरी अपनी पगडंडी भली। क्या इतनी बड़ी दुनिया में मुझे अपने जैसे दो–चार लोग नहीं मिलेंगे? कोई मुझे चुनाव तो लड़ना नहीं है कि मुझे एक लाख लोगों की सहमति चाहिए। दी होगी सीता ने अग्नि–परीक्षा। आज की अकेली औरत को हर रोज़ अग्निपरीक्षा देनी पड़ती है। ”[2]

‘ अन्तर्वंशी ’ की वाना अपनी बच्ची को कोई पौराणिक नाम देना नहीं चाहती। वह उन नामों का खण्डन करती है, जो एक समय स्त्रियों के लिए आदर्श समझा जाता था। अंजी उसे बच्ची को ‘ उमा ’ नाम रखने का सुझाव देती है। इस पर वह कहती है, “ मुझे ऐसे नाम नहीं देने हैं। ” वाना कहती है, “ उनके जिन्होंने पुरुषों के कारण दुःख झेले, कितनी तपस्या की थी। पार्वती ने, शकुन्तला ने भी अकारण इतना दुःख

[1] कृष्णा सोबती, दिलो–दानिश, पृ–121
[2] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ– 142

सहा। सीता, राधा – दमयन्ती ऐसा कुछ नहीं – ”[1] ‘ समय सरगम ’ की अरण्या बूढ़ी हो चुकी है। किन्तु इस अवस्था में भी किसी भी प्रकार के अन्धविश्वासों के लिए उसके मन में कोई स्थान नहीं है। अंधकार और अंधविश्वास को उचित समझने और ठहराने को वह गलत समझती है। वह कहती है, “ मुझसे यह सब न कहिए। मुझे अंधविश्वासों में ज्योतियाँ नहीं दीखती हैं, न ही वह अंधकारी देवताओं के नाम पर आदिम वृत्तियों की प्रज्ज्वलित होती सात जिह्वाओंवाली अग्नि–लपटें। ”[2]

‘ अल्मा कबूतरी ’ की भूरी उस पंचायत को मानने को तैयार नहीं होती जो उसके पतो को बचाने में असमर्थ निकला था। जाति में उसका कोई विश्वास नहीं है। जब बिरादरी उसे छेंकती है तो वह कहती है, “ बिरादरी का ज़ोर बिरादरी तक ही रहा कि भूरी को छेक दिया –– “ छेक दो, मैं तो खुद ही जाति तोड़ देना चाहती थी रे . . . मुझे क्या गम? ”[3]

सामाजिक नियम और धार्मिक रूढियों के पोल खोलकर समकालीन नारीवादी लेखिकायें साबित करना चाहती हैं कि शताब्दियों इन रूढ़ियों और नियमों के जकड़न में बंदी रहने के कारण ही नारी के व्यक्तित्व का समुचित विकास न हो सका था। इस जकड़न से मुक्ति हासिल करने के सारे प्रयासों के बावजूद आज भी वह पूर्णतया मुक्त नहीं हुआ है। ‘ एक ज़मीन अपनी ’ की अंकिता के विचार में आज स्त्री की जो दुर्दशा है उसका मूल कारण सामाजिक नियमों के नाम पर उसे बंदी बनाने वाली पितृसत्तात्मक व्यवस्था ही है। इस व्यवस्था के कारण ही स्त्री में एक कुंद दृष्टि विकसित नहीं हुई। वह कहती है, “ जाहिर है कि उसकी कुंद दृष्टि और प्रतिद्वंद्वी मानसिकता के पीछे

---

[1] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वंशी, पृ–233

[2] कृष्णा सोबती, समय सरगम, पृ–87

[3] मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ–76

सदियों पुराना वह दासीत्व भाव है जो उसे सुरक्षा, सम्मान, ‘ पूजित ’ जीवन जीने के भ्रम में झुनझुना–सा पकड़ा दिया गया ताकि वह संकीर्णताओं के कुहासों में जकड़ी हुई कृतज्ञ और समर्पित–सी पुरुष के सामंती इरादों के चक्रव्यूह में फँसी घुटती रहे . . . जिसके दिल–दिमाग को घर की चारदीवारियों तक ही व्यापक और गहरा होने दिया गया। ”[1] ‘ तत्–सम ’ की वसुधा के विचार में भी स्त्रियाँ अपने अधिकार की लड़ाई इसलिए न लड़ पाती क्योंकि वे शताब्दियों से शोषित थी। आज भी स्त्रियों की चेतना विकसित न होने का कारण वह पितृसत्तात्मक समाजिक व्यवस्था में ढूँढ़ती है।

नारीवाद के सिद्धांतों में पुनर्पाठ और पुनर्व्याख्या का अपना अलग महत्व है। अब तक जो साहित्य और इतिहास लिखा गया है वह मुख्यतः पुरुष द्वारा ही है। नारीवाद के समर्थक पुरुष द्वारा लिखित इस साहित्य और इतिहास को नारीवादी सिद्धांतों के अनुसार पुनर्पाठ करना चाहते हैं। वे पुरुष द्वारा निर्मित इस साहित्य और इतिहास के स्त्री–विरोधी तत्वों की अलोचना करते हैं। उनके विचार में पुरुष ने स्त्री के साथ यहाँ भी न्याय नहीं किया है। इस संबंध में ‘ छिन्नमस्ता ’ की जूड़ी का कथन उल्लेखनीय है, “ पर जानती हो, इतिहास, समाज शास्त्र, मानव शास्त्र, मनोविज्ञान . . . वह सब तो पुरुष ने ही लिखा है, यह चाहे पूरब हो या पश्चिम और सच कहूँ तो परिवर्तन किसको अच्छा लगेगा? खासकर उसे, जिसे सदियों से इतनी सुविधा मिली हुई है। ”[2]

‘ इदन्नमम ’ की मंदाकिनी रामायण और महाभारत का अंधानुकरण करना नहीं चाहती। वह पहचानती है कि वे सब पुरुष प्रधान समाज के अवसरवादी प्रसंग है। “ क्या कहे मन्दाकिनी? क्या बताये वह? सही–गलत, उचित–अनुचित की परिभाषा

---

[1] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ115

[2] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–188

किस तरह करे? पुराणकथाओं को किस कसौटी पर कसे? रामायण–महाभारत की हर बात का अंधानुकरण उसके बस का नहीं . . . वे सब पुरुष–प्रधान समाज के अवसरवादी प्रसंग हैं। एक ओर पतिव्रता धर्म की परिभाषा करता राम के साथ सीता का वनागमन, दूसरी ओर उसी निष्ठा को तोड़ता मर्यादा पुरुषोत्तम राम का सीता की अग्नि–परीक्षा लेना। सीता ने क्यों नहीं माँगा कोई सबूत कि हे भगवान कहे जाने वाले राम, तुम भी तो उस अवधि में मुझसे अलग रहे हो, आपने पवित्र रहने के साक्ष्य दो। ‘ सपनेहु तिन पर नारि न हेरी ’ कह देना अग्नि–परीक्षा जैसा कुन्दन सत्य नहीं था। बाद में प्रजा का प्रतिनिधि धोबी को मानकर सीता का निष्कासन ! तो क्या सीता अयोध्या की प्रजा में नहीं आती थीं? या वे केवल दण्ड पाने के लिए जन्मी थीं और भूमि में समा जाना उनकी नियति थी? सोचा बहुत कुछ। बोली केवल इतना ही, “ रामायण में, महाभारत में, पुराणों में कौन सही था कौन गलत, क्या ग्रहण करने योग्य है क्या नहीं, यह तो अपने विवेक से देखो बऊ, परखो अपनी बुद्धि से। ”[1]

वास्तव में पुरुष द्वारा रचित इतिहास और साहित्य स्त्री–दमन को सिद्धांत का रूप देने का प्रयास है। नारीवादी लेखिकाएँ यह पहचानती है और उसकी पुनर्व्याख्या करके, उसमें निहित स्त्री–विरुद्ध तत्वों को पाढ़कों के सामने प्रस्तुत करती हैं।

पुरुष वर्चस्व के विरुद्ध विद्रोह

सामाजिक नियम और धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करने के साथ–साथ आज नारी अपने व्यक्तिगत जीवन में भी विद्रोही रूप धारण करने से चूकती नहीं है। पुरुष वर्चस्व के सामने सिर चुकाने को आज वह तैयार नहीं है। पुरुष के शोषक तत्वों को पहचानकर वह व्यक्तिगत जीवन में भी सख्त विद्रोह प्रकट करने लगी है। प्रत्येक नारी के परिवेश और परिस्थितियाँ एक दूसरे से भिन्न होने के कारण इस विद्रोह

---
[1] मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ– 269

का कोई नियत स्वरूप नहीं है। किन्तु सभी प्रकार के विद्रोह का मुख्य लक्ष्य उसका रूप कोई भी हो, पुरुष वर्चस्व का नकार ही है। समकालीन नारीवादी उपन्यासों में इसप्रकार के विद्रोह के कई आयाम चित्रित हुए हैं।

पुरुष की अवहेलना के खिलाफ नारी के विद्रोह का व्यावहारिक रूप ' झूला नट ' की शीलो में देखा जा सकता है। वह सुमेर को अपनी मर्ज़ी के अनुसार जेठ और पति, दोनों स्थापित करती है। बालकिशन के साथ संबंध स्थापित होने के बाद जब सुमेर आकर शीलो से अकेले में बात करना चाहता है तो सीलो उसे यह कहकर ठुकराती है कि वह उसका जेठ है। यही शीलो का दूसरा रूप तब प्रकट होता है जब सुमेर उनसे ज़मीन–जायदाद की बात करता है। तब वह उसे याद दिलाता है कि कानून के अनुसार वे अब भी पति–पत्नी है। सुमेर सरकारी मुलाजिम है जिसको दो जनी रखने का अधिकार नहीं है, शीलो यह जानती है इसलिए वह उससे संबंध विच्छेद के लिए तैयार नहीं होती। इस तरह सुमेर को अपनी नौकरी की सुरक्षा के लिए अपनी दया पर निर्भर रहने को वह विवश करती है।

हमारे समाज में नारी पर हाथ उठाकर अपनी मर्दानगी स्थापित करनेवाले पुरुषों का अभाव नहीं है। शारीरिक दृढ़ता के सहारे वह नारी के मन में भय उत्पन्न करता है। पर समकालीन उपन्यासों में चित्रित कतिपय नारियाँ पुरुष के हमले को चुप–चाप सहने के लिए तैयार नहीं होतीं। वह आक्रमण का बदला आक्रमण से ही लेती है। ' चाक ' की सारंग अपने ऊपर आक्रमण करने वाले डोरिये को लात मारती है और बाद में उसके बदसलूकी का बदला देने का प्रण लेती है। ' इदन्नमम ' की मंदा उसके साथ अभद्र आचरण करनेवाले पुलीस दीवान पर हाथ उठाने में देर न लगाती।

" उठा और मुख पर झुक आया दीवान। होंठों पर होंठ धर दिये और हाथ कंधे से नीचे . . .

तड़ाक् ! तड़ाक् ! तड़ाक् !

तीन थपड़ों की तीन हथगोलों की तरह आवाज़ गयी बाहर।

मेहावतसिंह सिपाही दौड़ आया।

दीवान गिरते–गिरते बचा अप्रत्याशित प्रहार के कारण। ”[1]

‘ कठगुलाब ’ की असीमा स्त्रियों पर अन्याय करनेवाले पुरुषों को मारने में खुशी का अनुभव करती है। वह स्मिता के जीजा पर तब कराटे किक लगाती है जब वह नमिता को मारने जा रहा था। वह स्वयं मान लेती है कि अन्याय करनेवाले पुरुषों को मारते समय वह मज़े का अनुभव करती है। बाद में नर्मदा के साथ बदसलूकी करनेवाली प्रिंसिपल के पति को भी वह मारती है। यह घटना असीमा याद करती है,

“ नर्मदा को स्कूल में नौकरी मिली तो फ़िर एक बार सबकुछ गड़बड़ा गया। स्कूल की प्रिंसिपल ने उसे अपने घर रख लिया था और वहाँ उसके अधेड़ पति ने नर्मदा पर धावा बोल दिया था। भाग कर नर्मदा हमारे यहाँ पहूँची थी और एक पल में मेरा संचित धैर्य और संस्थागत उदासीनता काफ़ूर हो गए थे। मैंने आव देखा था न ताव, सीधे जाकर उस हरामी की धुनाई कर दी थी। सच कहूँ, मेरी समझ में आ गया है कि मुझे मर्दों को पीटने में खास मजा आता था। ”[2]

‘ आवाँ ’ की स्मिता सीढ़ियों से ढकेलकर अपने अत्याचारी पिता की हत्या करती है और इस बात को लेकर उसके मन में कोई अफसोस नहीं है। उसके विचार में पुरुष के बदसलूक की प्रतिक्रिया करने का एक ही तरीका है। नमिता जब अन्ना साहेब के अभद्र आचरण के बारे में स्मिता से कहती है तो सहानुभूति प्रकट करने के

[1] मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ–292

[2] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–177

बजाय वह कहती है, “ पें–पें छोड़ ! पेंपे करने से कुछ हासिल नहीं होने वाला। पें–पें की बजाय उसी समय हिम्मत दिखाती ! कुरसी उठा पटक देती साले हरामी के सिर पर! बहाने गढ़ता फिरता अपने फूटे सिर के पीछे ! मजदूर नेता हो या मटका किंग, सब साले मर्द हैं कुत्ते ! कटखने। माफी माँगने से क्या होता है और तू क्यों माफ करने लगी? जिस काम में तू राजी नहीं, हरामखोर ने तेरा इस्तेमाल किया कैसे? ”[1]

‘ माई ’ उपन्यास की सुनैना अंत में ही पहचानती है कि माई भी विद्रोही नारी है। माई की खामोशी में विद्रोह है। जब सुनैना बाहर जाकर पढ़ने की माँग करती है तो, उस माँग से उसे पीछे हटाने का दयित्व बाबू माई पर सौंपता है। लेकिन माई इसके लिए तैयार नहीं थी। लेकिन वह अपना विरोध शब्दों द्वारा प्रकट नहीं करती। वह चुप्पी साधकर ही अपनी बेटी की सहयता करती है। सुनैना सोचती है, “ किसी के कहे की अनुगूँज न बनना, उसके आदेश को बुत की तरह बस सुन लेना, इनका भी कोई श्रेय हो सकता है, हमें सोचने की फुरसत नहीं थी। ”[2] माई जो विद्रोह खामोशी द्वारा प्रकट करती है, इस संबंध में रेखा कस्तवार का कथन उल्लेखनीय है, “ खुले विद्रोह की हिमायती नई पीढ़ी जिसे माई की कमज़ोरी समझती रही, वह प्रतिरोध का तरीका था, नए रास्तों की तलाश थी। माई जिन परिस्थितियों में जी रही है वहाँ इस तरह बचा लेना, रास्ता निकाल लेना माई के व्यक्तित्व को नया आयाम देता है। संघर्ष हमेशा परिस्थिति सापेक्ष होता है। प्राप्त परिस्थितियों में हम क्या कदम उठाते हैं, और उन पर कैसी प्रतिक्रिया करते हैं यह महत्वपूर्ण है। सीधी भिड़न्त न करते हुए भी

---

[1] चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ–(278)

[2] गीतांजली श्री, माई, पृ–89

अवसर आते ही अपनी सृजनात्मक प्रतिभा से ड्योढ़ी का काया कल्प करती है, अपने संपर्कों का विस्तार करती है। ''[1]

' दिलो–दानिश ' उपन्यास के प्रारंभ में ' खामोश ' रहने वाली, दुःख झेलने वाली महक भी अंत में अपना हक पूछनेवाली औरत के रूप में तब्दील हो जाती है। कई वर्षों के शोषण के बाद ही सही वह उस शोषण को पहचानती है और उसके विरुद्ध खडी हो जाती है। संघर्ष करके अपना अधिकार, अपनी अम्मी का जेवर प्राप्त करने के बाद ही उसे अपना औरत होना महसूस होती है। वह सोचती है, '' आज से पहले तो हम औरत भी नहीं थे। ओढ़नी थे, अँगिया थे, सलवार थे। . . . जूती अपनी थी और पाँव किसी को सौंप रखे थे। ''[2]

इसप्रकार पुरुष वर्चस्व और शोषण के खिलाफ नारी–विद्रोह के कई आयाम समकालीन नारीवादी उपन्यासों में चित्रित हुए हैं। सभी नारियों में अपने–अपने परिवेश से निकलने का श्रम भी द्रष्टव्य है।

नारी और अस्मिता–बोध

पितृसत्तात्मक सामाजिक नियम और परिवारिक साँचे ने मिलकर नारी की हालत कुछ इस तरह बनायी कि उसके स्वतंत्र अस्तित्व के बारे में सोचने की कोई गुंजाईश नहीं रही। हमारे समाज और परिवार के अंतर्गत नारी एक व्यक्तित्व विहीन इकाई मात्र थी। पुरुष से अलग उसके व्यक्तित्व की कल्पना करना संभव ही नहीं था। वास्तविकता यह है कि उसके लिए कोई नाम तक हासिल नहीं था। अमुक की बेटी, अमुक की पत्नी, अमुक की माँ, यही नारी की पहचान थी। नारी शिक्षा एवं पाश्चात्य नारीवाद के प्रचार ने ही भारतीय नारी को सबसे पहले अपने अस्तित्व के बारे में

---

[1] रेखा कस्तवार, स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, पृ–170

[2] कृष्णा सोबती, दिलो–दानिश, पृ–175

सोचने को विवश किया था। वास्तव में इसी सोच ने ही उसके मन में अस्मिता बोध को जन्म दिया था। आज की जागृत नारी के लिए अपनी अस्मिता ही सर्वोपरी है। अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए आज वह किसी भी तरह के समझौते के लिए तैयार नहीं है। वह अपने व्यक्तिगत मामलों में किसी दूसरे का हस्तक्षेप बर्दाश्त करने को आज तैयार नहीं है। अपनी अस्मिता की पहचान ने नारी को निश्चय ही स्वाभिमानी बनायी है। डॉ० अलका प्रकाश के शब्दों में, " नारी का आत्मबोध उसे पति–आश्रिता पत्नी से ऊपर उठाकर एक महत्वाकाँक्षी और स्वाभिमानी नारी बना देता है। ये महिलाएँ अपनी स्वतंत्र इच्छाओं की पूर्ति चाहती हैं, दूसरों की इच्छापूर्ति का माध्यम बनना नहीं चाहती। वे निजी मामलों में भी पति का हस्तक्षेप सहन नहीं कर पातीं। अपनी तर्कक्षमता के बल पर वह अपना इस्तेमाल व्यक्ति और समाज दोनों के द्वारा नहीं होने देती। "[1]

अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्षरत नारियों का चित्रण समकालीन नारीवादी उपन्यासों की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इन उपन्यासों में चित्रित नारियाँ अपनी अस्मिता को पहचानती है और हर हालत में उसे बरकरार रखना चाहती है। वे स्थापित करना चाहती है कि पुरुष से हटकर भी नारी का अस्तित्व हो सकता है।

' मैं और मैं ' की माधवी लेखिका है। जब दूसरा लेखक कौशल कुमार उसकी कहानी पढ़कर उसके द्वारा कुछ सुधार करने का प्रस्ताव रखता है तो माधवी उसकी माँग को साफ–साफ ठुकराती है। वह कहती है, " नहीं . . . यह मज़ाक नहीं है। मेरी कहानी मेरी अपनी है, उसमें किसी का दखल मैं बर्दाश्त नहीं कर सकती। हो सकता है, आप मुझसे अच्छा लिखते हों, आपका जीनियस मुझसे बड़ा हो पर मेरी कहानी आप नहीं सुधार सकते। अगर मुझे लगा कि आपके कुछ जोड़ने से मेरी

---

[1] डॉ० अलका प्रकाश, नारी चेतना के आयाम, पृ–80

कहानी सुधर गयी तो लिखना छोड़ दूँगी। हमेशा केलिए। ”[1] ‘ झूला नट ’ की सीलो अपने व्यक्तित्व की अवहेलना करनेवाले सुमेर के हाथ से कुछ लेने को तैयार नहीं होती। सुमेर की दी हुई साड़ी अम्मा शीलो को देती है तो वह कहती है, “ अम्मा जी, अपने हाथों धरो, उठाओ। उनकी लाई चीज़ हमारे लिए मिट्‌टी की दर है। ”[2]

‘ अपने–अपने चेहरे ’ की रमा का विश्वास ऐसा है कि पुरुष के बिना भी वह एक पूर्ण इकाई है। बाद में वह रीतू को औरत की अस्मिता और अस्तित्व का बोध दिलाती है, “ रीतू, जीवन सार्थक बन सके इसका प्रयास करो। विवाह, पति, बच्चे से परे भी औरत है, उसका अस्तित्व है। उसका सामाजिक अवदान हो सकता है इस पर सोचो। पति सर्वस्व नहीं, अपने स्व को पहचानो। ”[3]

‘ पीली आँधी ’ की सोमा के लिए अपनी अस्मिता और स्वयं निर्णय लेने का अधिकार सबसे बढ़कर है। रूँगटा हाऊस में सारी भौतिक सुविधाओं के बीच भी वह नाखुश है क्योंकि उसे स्वयं किसी निर्णय लेने का अधिकार नहीं है। वह सुजीत से कहती है, “ सुख–सुविधा, धन का महत्व सब कुछ समझती हूँ, लेकिन इनकी ज़रूरत किस सीमा तक? इस बड़े घर में मुझे दो वक्त का अच्छा खाना, कुछ साड़ियाँ, एक एअरकंडिशंड कमरा। बस यही सब कुछ तो मिला है। मैंने अभाव नहीं जाना, लेकिन तुम भी तो कभी भूखे नहीं रहे। तब फर्क? स्टेट्‌स का? रूँगटा हाऊस का? हाँ सुजीत, रूँगटा हाऊस का महत्व बहुत बड़ा है। ऊँची शान है। लेकिन मेरी नहीं। मुझे किसी भी निर्णय का अधिकार नहीं। मैं यहाँ कुछ भी नहीं। सुजीत मैं मरना नहीं चाहती। जीना चाहती हूँ। जीना . . . ”[4]

---

[1] मृदुला गर्ग, मैं और मैं, पृ–45

[2] मैत्रेयी पुष्पा, झूला नट, पृ103

[3] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ– 94

[4] प्रभा खेतान, पीली आँधी, पृ– 241

‘ आओ पेपे घर चलें ’ की कैथी की आण्टी के लिए भी अपनी अस्मिता ही सबसे महत्वपूर्ण है। वह अपने आप को फेमिनिश्ट मानती है, “ आण्टी कहती हैं कि जो माँ–बाप मेरी भावनाओं की कद्र नही कर सकते, जिनकी निगाहों में मेरे लिए सम्मान नहीं, उनसे न मुझे संबंध रखना है और न ही उनके पास जाना है। ”[1]

‘ एक ज़मीन अपनी ’ की अंकिता अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए अपनी पक्की नौकरी भी छोड़ने को तैयार हो जाती है, जो कई वर्षों की तलाश से उसे मिली थी। वह अपने ऊपर किसी भी प्रकार का दबाव पसंद नहीं करती। सुधांशु जब दूसरी बार उसकी ज़िंदगी में दाखिल होना चाहता है तो अंकिता कहती है,

“ सुधांशुजी, औरत बोनसाई का पौधा नहीं है . . . जब जी चाहा उसकी जड़ें काटकर उसे वापस गमले में रोप लिया . . . वह बौना बनाए रखने की इस साजिश को अस्वीकार भी तो कर सकती है। ”[2] ‘ छिन्नमस्ता ’ का नरेन्द्र पत्नी के रूप में एक सेक्रटरी को चाहता था। लेकिन प्रिया कुछ वर्षों के बाद ही सही अपनी अस्मिता को पहचानती है। वह अपनी सास की तरह अपनी पूरी ज़िन्दगी नरेन्द्र के साये में बिताना नहीं चाहती। वह सोचती है, “ नरेन्द्र के पीछे– पीछे सासूजी रहतीं। अपने सुपुत्र की वे साँस–साँस गिनती रहतीं। मुझसे भी उन्हें यही आशा थी। मैंने किया भी। काफी वर्षों तक करती रही . . . और एक दिन लगा . . . मैं नरेन्द्र की पत्नी हूँ . . . सेक्रेटरी और नौकरानी नहीं। ”[3]

‘ अन्तर्वंशी ’ की वाना जब से अपनी अस्मिता को पहचानती है तब से वह अपने ‘ स्व ’ को अपूर्ण रखने के लिए तैयार नहीं होती। अब वह अपने आप को ठगने

---

[1] प्रभा खेतान, आओ पेपे घर चलें, पृ–117
[2] चित्रा मुद्‌गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–220

[3] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ–139

को तैयार नहीं है। वह अंजी से कहती है, “ मैं कब से एकाधिक स्तरों पर जीती आई हूँ, पत्नी, माँ – जो मेरी शिक्षा रहीं ; पर अन्दर की स्त्री, जो हमेशा इस शान्त मुखाकृति के भीतर रेस्टलेस, खोज में व्यस्त, इधर–उधर भटकती रही, जहाँ भी जो कुछ मिला, उसी को कंगाल की तरह सँजोती रही, अब यह बेईमानी और नहीं चल पाएगी अंजी ! मैं कब तक अपने को ठगती रहूँगी – कब तक अपने ‘ स्व ’ को अपूर्ण रक्खूँगी। ”[1] ‘ शेषयात्रा ’ की अनु जब पति प्रणव से अलग हुई थी तब अकेले जीने का आत्मविश्वास उसमें नहीं थी। किन्तु आत्मनिर्भर होने के बाद वह अपने स्वत्व को पहचानती है। अब उसे अकेलापन या खालीपन नेगेटिव नहीं लगती। वह पहचानती है कि पुरुष के बिना भी नारी का अस्तित्व हो सकती है। वह सोचती है, “ यह खालीपन अब नेगेटिव नहीं लगती। किसी के प्यार में न होना, किसी में अपने को समाहित न करना, इसका भी एक पॉजिटिव पक्ष है। मैं हूँ, अनु, अपने में तुष्ट, अपने स्वत्व–बोध में सुखी, अपने सुख–दुख में अकेली, अपने में स्वाधीन। उसे यह अनुभूति प्रिय लगती है। उसने अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व का लक्ष्य पा लिया है। अब आगे जो भी समय और भाग्य दे, पूरे एहसास और ज़िम्मेदारी से स्वीकार करेगी। अगर कुछ न भी मिले तो भी कोई शिकायत नहीं होगी । अपनी डॉक्टरी की उपाधि तो होगी, सुख–चैन से तो रह सकोगी, काम करने का संतोष तो मिलेगा। स्थाई रूप से पुरुष जीवन में न हो, तो न हो। ज़रूरत भी किसे है ! ”[2]

‘ समय सरगम ’ की अरण्या को बूढ़ी होने पर भी अपनी अस्मिता पर पूरा भरोसा और गर्व है। वह अपने आप को मज़बूत समझती है।

---

[1] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वंशी, पृ–237

[2] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, पृ–117

“ दरवाज़े में छोटा–सा कपाट खुला और अंदर से दीखा एक जाना–पहचाना चेहरा।

कौन !

यह तो मैं ही हूँ। मैं ही अंदर से झाँक रही हूँ।

नहीं . . . नहीं . . . ऐसे कैसे ! मैं तो बाहर खड़ी हूँ न !

ठीक से देखो अरण्या, क्या यह झुर्रियोंवाला मुखड़ा तुम्हारा नहीं है?

है तो ! पर ऐसा होने से क्या हुआ ! हम तो हर पल बड़े होते रहते हैं न ! हाँ पर जान रखो – इस चेहरे पर सताई हुई रेखाएँ नहीं। समय के साथ उगी पकी हैं। अपने वक्त को खुद जिया है। ”[1]

निसंदेह कहा जा सकता है कि समकालीन नारीवादी उपन्यासों में अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्षरत नारियों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इन नारियों की परिस्थितियाँ और परिवेश एक दूसरे से भिन्न अवश्य है। किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि इनके संघर्ष एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी अपने आप में पूर्ण है। अस्मिता के लिए किए जानेवाला प्रस्तुत संघर्ष इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि स्वत्वबोध की पहचान नारी स्वतंत्रता के लिए पहला और आधारभूत शर्त है। महादेवी वर्मा के शब्दों में, “ हमारी मानसिक दासता, मानसिक तंद्रा के दूर होते ही, न कोई वस्तु हमारे लिए अल्भ्य रहेगी, न कोई अधिकार दुष्प्राप्य ; कारण, अपने स्वत्वों से परिचित व्यक्ति को उनसे वंचित रख सकना कठिन ही नहीं असंभव है। ”[2]

---

[1] कृष्णा सोबती, समय सरगम, पृ–8

[2] महादेवी वर्मा, महदेवी साहित्य समग्र–3 हमारी श्रृंखला की कड़ियाँ, पृ–304

नारी–स्वतंत्रता

किसी भी सामाजिक प्राणी के जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता के अभाव में किसी व्यक्ति के विकास के बारे में सोचना व्यर्थ है। नारी की जो बदहालत आज है उसका मुख्य कारण उसकी अस्वतंत्रता ही है। जब तक दुनिया की आधी आबादी स्वतंत्र नहीं है तब तक मानव समाज की स्वतंत्रता की बात करना निरर्थक है। नारी को उसकी स्वतंत्रता से वंचित रखने में पितृसत्तात्मक समाज ने जो भूमिका अदा की है वह निर्विवाद का है। कभी सुरक्षा के नाम पर, कभी सामाजिक नियम के नाम पर, कभी धार्मिक रूढ़ियों के नाम पर तो कभी शारीरिक दृढ़ता के नाम पर , पुरुष ने हमेशा स्त्री को उसकी आज़ादी से वंचित रखा है।

आखिर यह स्त्री–स्वतंत्रा क्या है? राकेश कुमार के शब्दों में, " स्त्री स्वतंत्रता का अर्थ है स्त्री की शोषण से मुक्ति, ताकि वह स्वतंत्र ढंग से जी सके–सोच सके, कर सके। उसके सामने पितृक अनुशासन की दीवारें, श्रृंखलाएँ, जंजीरें न हों। वह पूर्ण स्वाधीन हो। समाज की निर्णायक शक्ति हो। अपने अस्तित्व, अस्मिता के बारे में उसके स्वाधीन विचार हों। अपने स्वत्वाधिकारों के बारे में उसकी सोच स्वतंत्र हो। "[1]

दिनेश धर्मपाल के अनुसार स्त्री स्वतंत्रता का मतलब है स्त्री जीवन में आनेवाले सभी परिवर्तनों का संचालक स्वयं स्त्री हो। वह लिखता है, " ज़रूरी है उसमें आने वाला समग्र परिवर्तन उसके स्वयं के द्वारा संचालित हो। ऐसा कदापि न हो कि परिवर्तन तो हो, पर पकड़ किसी दूसरे के हाथों में हो। वह सत्ता में बराबर की भागीदार बने। वह समाज–परिवर्तन में बराबर की भागीदार बने। अर्थतंत्र पर उसकी बराबर की पकड़ हो। संस्कृति के नाम पर उसका शोषण न हो। धर्म के नाम पर उसका

---

[1] राकेश कुमार, नारीवादी विमर्श, पृ– 53-54

शोषण न हो। अभिव्यक्ति के नाम पर उसका शोषण न हो। उसे अपना गंतव्य तलाशने की पूर्ण स्वतंत्रता हो। उसे अपनी तकदीर बदलने की पूर्ण स्वतंत्रता हो। वह पुरुष के समान निर्णय ले सके। वह पुरुष के समान सोच सके। वह अपनी ज़मीन तलाश सके। वह अपना आकाश ढूँढ सके। उसे अपनी बात को कहने के लिए प्रतीकों, बिंबों, माध्यमों, का सहारा न लेना पड़े . . . . .। ''[1]

नारी स्वतंत्रता की उपरिलिखित परिभाषाओं पर ध्यान देने के बाद ये महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं कि भारत की नारी किस हद तक स्वतंत्र है? वह शोषण तथा पितृसत्तात्मक जकड़नों से कहाँ तक मुक्त है? सामाजिक परिवर्तन में उसकी क्या भूमिका है? उसकी आर्थिक स्थिति कैसी है? स्वयं निर्णय लेने का अधिकार किसको प्राप्त है? कहना न होगा कि इन सवालों पर गहराई से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत की नारी आज भी अस्वतंत्र है। हिन्दी के समकालीन नारीवादी उपन्यास लेखिकाओं ने इन प्रश्नों पर बड़ी संजीदगी से विचार किया है और नारी स्वतंत्रता के स्वरूप को अपने उपन्यासों में व्यक्त करने का प्रयास किया है।

स्वतंत्रता के नाम पर नारी द्वारा पुरुष का अनुकरण करने की प्रवृत्ति की आलोचना इस समय के लगभग सभी उपन्यासों में हुई हैं। स्त्री को स्वतंत्रता अपने मूल प्रकृति, ' स्त्रीत्व ' में रखकर ही अर्जित करनी चाहिए। ' एक ज़मीन अपनी ' की नीता के विचार में पुरुष का अनुकरण करना ही स्वतंत्रता है। उसका तर्क यह है कि अगर पुरुष अपने मन को जी सकता है तो स्त्री क्यों नहीं? किन्तु अंकिता इस प्रकार के अनुकरण के विरुद्ध है। वह कहती है, '' . . . औरत ज़रूर अपने मन को महत्व दे, लेकिन मर्द बनकर नहीं . . . तुम्हारा स्त्री–समानता का दृष्टिकोण मर्द बनना है? . . . मर्दों की भाँति रहना . . . वे समस्त आचार–व्यवहार, व्यवस्थाएँ अपनाना . . . यही

[1] दिनेश धर्मपाल, स्त्री, पृ–127

समानता का दृष्टिकोण है? स्त्री को समाज में समान अधिकारों के नाम पर इन्हीं उच्छृंखलताओं और अनुशासनहीनता की चाह है? "[1] अंकिता के विचार में स्त्री को मुक्ति स्त्रीत्व के गुणों को बरकरार रखकर हासिल करनी चाहिए। वास्तव में स्त्री को मुक्ति स्त्रीत्व से नहीं उन रूढ़ियों से चाहिए जिनके कारण वह अस्वतंत्र है। वह नीता से कहती है, " मैं तो विशेष रूप से इस बात को रेखांकित करना चाहती हूँ कि स्त्री मर्द बनकर समाज में समानता चाहती है, स्त्री बने रहकर क्यों नहीं? . . . स्त्रीत्व के गुणों को बरकरार रखते हुए . . . संघर्ष का यह गलत मोड़ है नीतू ! चेतने की ज़रूरत है . . . स्त्री को स्त्रीत्व से मुक्ति नहीं चाहिए। उन रूढ़ियों से मुक्ति चाहिए जिन्होंने उसे वस्तु बना रखा है . . . "[2]

' कठगुलाब ' की स्मिता और मारियान के मन में भी मर्द बनने की इच्छा ज़रा भी नहीं है। वे दोनों इस जन्म और अगले जन्म में भी स्त्री ही होकर जीने की अपनी इच्छा भी व्यक्त करतीं हैं। मारियान तो मर्द नहीं सर्जक होना चाहती है। स्मिता स्वतंत्रता के नाम पर स्त्री के पुरुष होने की इच्छा के विरुद्ध है। उसके अनुसार स्त्री के इस मोह के कारण ही वह दूसरी स्त्री के साथ अन्याय करती है। वह कहती है, " औरत, औरत के साथ अन्याय क्यों करती है, वह सोच रही थी, क्या उसके मूल में पुरुष ईर्ष्या नहीं रहती? वह पुरुष होना चाहती है, इसलिए, समर्थ होते ही, दूसरी स्त्रियों पर अपने उधार के पौरुष का रौब जमाने लगती है। वैसे ही, जैसे छोटे बच्चे, बड़ों की नकल करके, तुष्टि पाते हैं। अपने को कमतर माननेवाली औरत, मर्द होना चाहती है; वही उसकी सबसे महत आकांक्षा होती है। तभी तो वह बराबरी के हक की

---

[1] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–200

[2] वही, पृ–201

माँग करती है तो पुरुष से। आज़ादी की गुहार मचाती है तो मर्द से; समाज, इतिहास और मानव जाति की सड़ी–गली, युगों से चली आ रही मान्यताओं से नहीं। ''[1]

' ठीकरे की मंगनी ' की महरूख के मन में भी पुरुष का लबादा पहनने का मोह नहीं है। वह न मर्द बनना चाहती और न मर्द को औरत बनाना चाहती है। वह कहती है, '' नहीं, अपना पक्ष मज़बूत और ठोस बनाने की बात कर रही हूँ, हमारी लड़ाई अपनों से संघर्ष की लड़ाई है, यानी भूमिगत, अपने अन्दर अपने को समझने और मज़बूत बनाने की– हमें मर्द नहीं बनना है न ही मर्द को औरत बनाना है – एक दूसरे का लबादा पहनने की यह ललक ही मुसीबत बन रही है। ज़रूरत है अपनी–अपनी जग खड़े होकर अपने – आप को समझने और दूसरे को समझाने की...। ''[2]

वर्तमान समय में नारी शोषण के नये–नये तरीके हमारे सामने प्रकट होने लगा है। एक समय ऐसा था जब नारियों का शोषाण प्राचीनता और धार्मिक रूढ़ियों के नाम पर होता था। किन्तु आज की स्थिति कुछ ऐसी है कि ' आधुनिकता ' के नाम पर उसका शोषण हो रहा है। क्योंकि यह आधुनिकता की परिभाषा गढ़नेवाला पुरुष है। आधुनिकता के नाम पर आज स्वतंत्रता के गलत प्रतिमान और प्रतीकों को स्त्री के सामने रखा जा रहा है। नारी–स्वतंत्रता की परिभाषा आज यौन स्वतंत्रता में सिमटती जा रही है। सुप्रसिद्ध लेखिका चित्रा मुद्‌गल को आधुनिकता के नाम पर स्त्री को सौंपे गए इन आदर्शों में पुरुष का षड़यंत्र ही नज़र आ रहा है। इसलिए वह सवाल करती है कि, '' आधुनिकता, स्वतंत्रता और समानता के नाम पर तमाम संचार माध्यमों के ज़रिए पुरुष प्रधान समाज नारी को आज क्या कुछ सौंप रहा है . . .? यहाँ समाज के पुनर्गठन में

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–105
[2] नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, पृ181

नई ताकत के साथ जुटने की आकांक्षा प्रबल है या भविष्य में भी नारी को अबला बनए रखने का षडयंत्र . . .? ''[1]

हिन्दी के समकालीन नारीवादी लेखिकायें आधुनिकता के नाम पर स्त्री को सौंपी जा रही स्वतंत्रता के इन गलत प्रतिमानों से पूरी तरह वाकिफ हैं। स्वतंत्रता के नाम पर नारी के उच्छृंखल बनने की प्रवृत्ति की वे आलोचना करती हैं। ' एक ज़मीन अपनी ' की नीता पुरुष द्वारा दी गई स्वतंत्रता की परिभाषा में विश्वास रखती है। उसके जीवन में पाश्चात्य जीवन शैली का प्रभाव है। उसके अनुसार स्वतंत्रता पुरुष का अनुकरण मात्र है। किन्तु अंकिता पहचानती है कि इसप्रकार आधुनिकता के नाम पर स्वतंत्रता की जो गलत परिभाषा दी जा रही है उसका वास्तविक उद्देश स्त्री को हमेशा अधीन में रखने की चाल मात्र है। वह नीता से कहती है, '' आधुनिकता की जिस परिभाषा को तुम जी रही हो, जीना चाहती हो, क्या तुमने अन्वेषित और अर्जित की है? नहीं ! दर असल, वह परिभाषा – अधिकार, आधुनिकता, समानता और स्वतंत्रता के नाम पर पुरुषों द्वारा ही अखबारों, पत्रिकाओं, विज्ञापनों, फिलमों . पोस्टरों, स्लाइड्स के माध्यम से स्त्री को सौंपी जा रही है . . . बड़ी चतुरता से काया–कल्प के बहाने जिंस को जिंस बनाए रखने का षडयंत्र ! स्पष्ट है, स्त्री को आगे भी अपने अधीन बनाए रखने के सामंती इरादों को वह इन हथकंडों से सिद्ध कर रहा है . . . क्या यही स्त्री को चाहिए? यही आधुनिकता–बोध स्त्री को चेतनापूर्ण बनाएगा? कुरीतियों से भिड़ने की ताकत देगा? स्त्री अब भी इस्तेमाल हो रही है और तथाकथित भद्र, संपन्न, महत्वाकांक्षी आधुनिक कहलाने का शौकीन एक शिक्षित स्त्री–वर्ग, ठीक तुम्हारी तरह इन परिभाषाओं को आत्मसात् कर पुरुषों से बराबरी का दंभ जी रहा है . . . ''[2]

---

[1] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, आमुख पृष्ठ

[2] वही, पृ–116

वास्तव में आज स्त्री दिग्भ्रमित है। स्त्री स्वतंत्रता के वास्तविक स्वरूप को समझने में वह कुछ असमर्थ ही दिखाई देती है, अल्पना सिंघल के शब्दों में,

" शिक्षित आधुनिक नारी जिसे अपनी पहचान मान रही है, वह आज़ादी नहीं वरन् भटकन का मार्ग है, वह दृगभ्रमित हो गई है। पाश्चात्य चकाचौंध के प्रभाव से वह कुछ नहीं देख पा रही है। वह अपनी ही गरिमा–मान–मर्यादा से खेल रही है। अज्ञानवश उन्हें नारी प्रगति का नाम दे रही है। यह कितनी बड़ी त्रासदी है। "[1]

पुरुष के विचार में स्त्री के आधुनिक होने का मतलब उसकी यौन–स्वतंत्रता ही है। ' अपने–अपने चेहरे ' का राजेन्द्र गोयन्का इस प्रकार का पुरुष है। रमा सोचती है, " कल उसने पूछा, " तुम शारीरिक संबंध से इतना क्यों घबड़ाती हो? " मैंने कहा, " मालूम नहीं, मगर यह मुझे अपनी ही नज़र में अपराधी बना देता है। क्या करूँ, मैं अपने पारंपरिक संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाती। उसने कहा, " तब तुम अपने को स्वतंत्र क्यों कहती हो, आधुनिक होने का दावा क्यों? "[2]

समकालीन नारीवादी लेखिकाओं ने इस बात को स्पष्ट करने की कोशिश की है कि पुरुष द्वारा सौंपे गए स्वतंत्रता के गलत प्रतिमानों को समझने में पढ़ी–लिखी नारी भी असफल निकली है। अपने ही उपन्यास की चर्चा करते समय इस संबंध में चित्रा मुदगल ने जो विचार प्रकट किया है वह उल्लेखनीय है,

" अपने उपन्यास ' एक ज़मीन अपनी ' में नारी चेतना आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में मैंने दिग्भ्रमिता के संकट को विवेचित करते हुए उन खतरों से आगाह किया है कि जिन्हें आज का अधिकांश पढ़ा–लिखा विचारशील होने का दावा करता हुआ स्त्री समाज स्त्री स्वतंत्रता, स्त्री समानता और उसके मानवीय अधिकारों की लड़ाई लड़ता

[1] अल्पना सिंघल, नए आयामों को तलाशती नारी, संपा:दिनेशनन्दिनी डालमिया, रश्मि मलहोत्रा, पृ–18
[2] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ–206-07

हुआ भी नहीं जानता कि वे अधिकार वस्तुतः क्या हैं। कैसे होना चाहिए, किस रूप में होना चाहिए और उनकी सामाजिक छवि कैसी हो? ''[1] स्पष्ट है, आज नारी को स्वतंत्रता की सीमा और स्वरूप निर्धारित करते समय अतिरिक्त सतर्कता भरने की ज़रूरत है।

नारी–स्वतंत्रता के लिए कोई सर्वसम्मत स्वरूप निर्धारित करना कठिन है। क्योंकि प्रत्येक नारी के जीवन–परिवेश और परिस्थिति एक दूसरे से भिन्न है। इसलिए प्रत्येक नारी को अपने परिवेश एवं परिस्थितियों के अनुसार स्वतंत्रता का निर्धारण करना चाहिए। यद्यपि आर्थिक स्वतंत्रता को स्त्री के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु आर्थिक स्वतंत्रता उसकी पूर्ण स्वतंत्रता का परिचायक नहीं है। कुमुद शर्मा के शब्दों में, '' जब–जब औरत की आज़ादी की बात उठाई जाती है तो यह कहा जाता है कि स्त्रियाँ अपनी रोजी–रोटी आप कमाने लगें, मकान, सैर–तफरीह के लिए उन्हें पुरुषों के सामने हाथ न फैलाना पड़े, तो वे सही मायने में स्वतंत्र हो सकती हैं। लेकिन जिन औरतों ने आर्थिक आज़ादी हासिल कर ली उनके हिस्से क्या आया है? वहाँ उनकी आज़ादी ही उन्हें मुंह चिढ़ा रही है– ' और लो आज़ादी। ' दोहरी मशक्कत करती हुई औरत पुरुष के बराबर कमाकर भी न घर में चैन पाती है और न बाहर। ''[2]

प्रभा खेतान का उपन्यास ' अपने–अपने चेहरे ' की रमा के विचार में भी औरत की स्वतंत्रता केवल आर्थिक स्वतंत्रता नहीं है। उसके अनुसार औरत तब स्वतंत्र होती है जब वह अपनी मानसिक जकड़न से मुक्त होती है। वह रीतू से कहती है,

---

[1] चित्रा मुद्गल, नए आयामों को तलाशती नारी, संपा:दिनेशनन्दिनी डालमिया, रश्मि मलहोत्रा, पृ–111-12

[2] कुमुद शर्मा, स्त्रीघोष, पृ–139

“ . . . और रीतू, मुक्ति केवल आर्थिक नहीं होती। ज़रूरत तो है कि औरत अपनी मानसिक जकडन से निकले। धीरे–धीरे मुझे यही समझ में आया कि अकेला होना कोई अपराध नहीं। कोई ज़रूरी है कि हम केवल पारंपरिक संबंधों को ही अपना समझें। ”[1]

‘ चाक ’ की सारंग श्रीधर के साथ के अपने दैहिक संबंध को ही आज़ादी मानती है। उसके विचार में स्वतंत्रता का मतलब देह की मुक्ति है। वह सोचती है, “ वह समझा सकती है बेटे को – कि मैं वह रास्ता खोलने जा रही हूँ, जिसे खोलना औरत के लिए वर्जित है? लोकलाज का डर मुझे नहीं। तेरे पिता को लेकर मैं गद्दारी नहीं कर रही। यह व्यभिचार नहीं आज़ादी है। ”[2]

‘ एक ज़मीन अपनी ’ की अंकिता के विचार में पाश्चात्य नारीवाद भारतीय परिवेश में उपयुक्त नहीं है। भारत की वैवाहिक व्यवस्था की अलोचना करने वाली नीता के विचारों के विरुद्ध है अंकिता का विचार। सुधीर के साथ नीता का जो संबंध है उसे वह विवाह में बाँधना नहीं चाहती, जिसका कारण है पाश्चात्य नारीवाद का प्रभाव। अंकिता कहती है, “ मैं ‘ वैवाहिक ’ व्यवस्था को दो व्यक्तियों के साथ और आत्मसम्मानपूर्व साँझेदारी के रूप में देखती हूँ। ये स्त्री–स्वतंत्रता के पश्चिमी मापदंड हैं . . . हमारी संस्कृति, हमारे सामाजिक परिवेश के लिए सर्वथा अनुपयुक्त ! ये भ्रम वहाँ भी टूट रहे हैं . . . दोहरे शोषण से गुज़र रही है वहाँ की स्त्री . . . ”[3]

[1] प्रभा खेतान, अपने–अपने चेहरे, पृ–149

[2] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–264-65

[3] चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, पृ–200-01

स्वतंत्रता संबंधी विचारों में नारियों के बीच जो मतभेद है, इसका चित्रण नासिरा शर्मा के ' शाल्मली ' उपन्यास में भी हुआ है। शाल्मली की सहेली सरोज उग्र स्त्रीवादी है। उसका विचार पुरुष–विद्वेष पर आधारित है। शाल्मली की दृष्टि पुरुष विद्वेष पर आधारित न होने के कारण वह शाल्मली को स्त्री–स्वतंत्रता की शत्रू समझती है। उसके विचार में अविवाहिता स्त्री पुरुषों के समाज, नाम और आकार से पूर्ण रूप से मुक्त है और तलाक उसके लिए नारी–मुक्ति का प्रमाण पत्र है। किन्तु शाल्मली पुरुष विरोधी न होकर अत्याचार विरोधी है। स्वतंत्रता संबंधी अपना विचार शाल्मली यों व्यक्त करती है, " मैं पहले भी कह चुकी हूँ कि मेरे मन–मस्तिष्क में एक ऐसे समाज की कल्पना है, जहाँ कोई किसी का दास नहीं है, फिर एक बार मैं बता दूँ कि मैं पुरुष विरोधी न होकर अत्याचार विरोधी हूँ। अत्याचारी का कोई नाम और धर्म नहीं होता, तो भी समूह या इकाई में वह हमारे सामने होता है और उसी अत्याचारी से हमें जूझना है। "[1]

' माई ' की सुनैना, जूडिथ और सुबोध के विचार में घर से ' बाहर ' निकलना ही आज़ादी है। जूडिथ सुनैना को आज़ाद होने के लिए ड्योढ़ी से बाहर निकलने का उपदेश देती है। सुनैना एक स्थान पर अपनी आज़ादी की परिकल्पना इस तरह व्यक्त करती है,

" हमारी आज़ादी ' बाहर ' होने की थी। ड्योढ़ी में अब हम अन्दर के नहीं रहे इसलिए वहाँ भी आज़ाद थे। विदेश में तो थे ही बाहरी इसलिए वहाँ भी जो जी में आये कर सकते थे। सब जगह हम ' बाहर ' के और अकेले। खुद मस्त घूमते। औरों को ' टेबल ' पर घसीट लेते। "[2] किन्तु उपन्यास के अंत में जब सुनैना माई के अंदर की आग को पहचानती है तो उसकी स्वतंत्रता संबंधी विचारों में परिवर्तन आती है।

---

[1] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–165

[2] गीतांजली श्री, माई, पृ–111

" और यहीं। और यहीं। क्योंकि आज़ादी एक सिमटे से कोने में सन–सन सनसनाती हवा नहीं और कैद बस साफ नज़र अनेवाले सींखचे नहीं। "[1]

इसमें कोई संदेह नहीं है कि नारी शिक्षा ने स्त्री को अपने अधिकारों के प्रति अधिक सजग बनाया है। शिक्षित नारी आज अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करती नज़र आ रही है। किन्तु वास्तव में स्त्रियों का यह वर्ग केवल नगरों तक ही सीमित है। ग्रामीण इलाकों में स्त्री–शिक्षा का समुचित प्रचार करने का काम अब भी बाकी है। नारी चेतना के उदय के सभी दावों के बीच भी ग्रामीण स्त्रियों की स्थिति उतना स्वस्थ नहीं है। नारी उत्थान–केन्द्र का ध्यान अब तक इन नारियों पर केंद्रित नहीं हुआ है। इसी कारण ' चाक ' का श्रीधर केवल शहरों तक सीमित उन केंद्रों की आलोचना करता है,

" श्रीधर को यह देख–देखकर सदा आश्चर्य होता रहा है कि जानवरों के बाद अगर किसी को खूँटे से बाँधा जाता है तो वे हैं आँगन लीपती, घर सहेजती, खेतों में काम करती औरतें। श्रीधर को शहरों में पनप रही विभिन्न संस्थाओं के नाम याद आते हैं – नारी उत्थान केंद्र, सहेली, जागो री, नारी सहायता केंद्र . . . पता नहीं वे किन नारियों के लिए हैं? प्रौढ शिक्षा, नारी शिक्षा पर व्याख्यान देने से फायदा? यहाँ तो बेटी का जन्म होते ही खेरापतिन दादी चंदना की कथा याद कराने लगती हैं, कि बेटी जन्मी है तो इसे खबरदार भी करती रहना इसकी जननी ! कि इसको कितने, और कहाँ तक पाँव बढ़ाने हैं। छोटी कौम से लेकर बड़ी जाति तक की औरतों की एक सी दशा। एक से बंधन। एक से कसाव। परिवार नहीं, संतान का मोह इनको जीने की हिम्मत देता रहता है। कचहरी–कानून इनके लिए भी है, लेकिन वहाँ तक इनका जाना? चली भी जायँ तो हर ओर से हमलावर घेरने लगते हैं। "[2]

---

[1] गीतांजली श्री, माई, पृ–153

[2] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ–345

इस संबंध में चित्रा मुद्गल का कथन भी उल्लेखनीय है। उसके विचार में जब तक ग्रामीण स्त्रियों की समस्यायें लेखन में उकेरी नहीं जायेगी तब तक महिला लेखन का लक्ष्य अधूरा ही रहेगा, " अन्त में समकालीन महिला लेखन के संदर्भ में मैं इस बात को पुनः दोहराना चाहूँगी कि नारी चेतना की पैरवी रचनात्मक जगत में तब तक अधूरी, अर्थहीन, सतही और अयथार्थवादी होगी जब तक देश की आधी आबादी की शेष पैंतालीस प्रतिशत उत्पीडित ग्रामीण स्त्रियों की त्रासदी – चाहे वे सवर्ण–असवर्ण किसी भी वर्ग, समुदाय या कोटे से आती हों – कि बुनियादी समस्यायें उकेरी नहीं जाएँगी। उनमें स्वचेतना प्रस्फुटित किए बिना नारी अस्मिता की खोज का आन्दोलन केवल अपने स्वार्थों की झोली भरने और उगाहने का अन्दोलन बनकर रह जाएगा जैसा कि अनेक स्तरों पर कुछ अवसरवादी स्त्रियाँ–पुरुषों की आत्म–उत्थान की रजनीति को भी मात देते हुए, नारी उद्धार की आड़ में अपनी यशस्वी महत्वाकांक्षाओं की रोटियाँ सेंक रही हैं। "[1]

पारिस्थितिक सजगता

परिस्थिति के प्रति नारी की सजगता का चित्रण समकालीन नारीवादी उपन्यासों की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। प्रकृति और मनुष्य जीवन का काफी गहरा संबंध है। किन्तु आज विकास और प्रगति के नाम पर प्रकृति का शोषण हो रहा है। आज हमारा पानी और हवा प्रदूषित हो रहे हैं। उद्योगों के लिए एक ओर जंगल साफ किया जा रहा है तो दूसरी ओर उन उद्योगों से प्रदूषण भी हो रहा है। वैसे तो वन–विनाश का दुष्परिणाम नारी को ही अधिक झेलना पड़ता है। खासकर ग्रामीण स्त्रियों को। क्योंकि ये स्त्रियाँ इंधन और चारा के लिए वन को ही आलंबन बनाया है। श्री राधा कुमार के शब्दों में, " इसके परिणामस्वरूप स्त्रियों की स्थिति और अधिक दयनीय हुई है। ग्रामीण स्त्रियों

[1] चित्रा मुद्गल, नए आयामों को तलाशती नारी, संपा:दिनेशनन्दिनी डालमिया, रश्मि मलहोत्रा, पृ–113

को इंधन, चारा और पानी की खोज में अधिक समय लगाकर ज़्यादा दूर तक भटकना पड़ता है। कई बार तो इन्हें २ से ८ किलोमीटर तक पैदल चलना पड़ता है जिससे उन्हें न केवल मज़दूरी के लिए कम समय मिलता है बल्कि प्रतिदिन सामान्यत: १४–१५ घंटे काम करना पड़ता है। "[1] कभी–कभी पानी का अभाव भी नारी को इसप्रकार कफी दूर पैदल चलने को विवश करता है।

भारत में पर्यावरण की रक्षा के लिए जितने आंदोलन हुए उन सब में महिलाओं का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। चिपको आंदोलन यहाँ उल्लेखनीय है। इन आंदोलनों में नारी किसी के प्रेरणावश कम, अपनी इच्छा से भाग लिया था। वास्तव में प्रकृति के प्रति नारी ही अधिक सजग है।

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में परिस्थिति के प्रति सजगता रखनेवाली नारियों का चित्रण कई स्थानों पर हुआ है। प्रगति के नाम पर होनेवाले प्रकृति शोषण से वह पूर्णतया वाकिफ है। भारत में गंगा नदी को देवी समझकर उसकी पूजा तक की जाती है। किन्तु यह गंगा भी प्रदूषण से मुक्त नहीं है। ' अन्तर्वंशी ' के शिवेश गंगा नदी के बारे में कहता है, " और वह पानी, वह पवित्र गंगा मंथर गति से बढ़ती हुई अपने में मटियाले, कीटाणु कुछ समेटे–समेटे। अधजले शव, फूलमालाएँ सब। "[2] गंगा और जमुना नदी के प्रदूषण के बारे में ' समय सरगम ' के नेता सदानन्द महाराज को याद दिलाता है।

" देख रहे हैं न यह गंदा नाला – यह हमारी राष्ट्रीय नदी जमुनाजी हैं –

---

[1] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास (अनुवादक–रमा शंकर सिंह ' दिव्यदृष्टि ') पृ–357

[2] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वंशी, पृ–121

दूसरों को शांत करनेवाली महान गंगा मैया भी गंदगी से खौल रही है। सदानंद महाराज, कुछ करना होगा। दैवी शक्तियाँ क्या इस प्रदूषण को सोख लेंगी। ''[1]

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास ' इदन्नमम ' में पर्यावरण का प्रदूषण किस प्रकार गाँव की ज़िन्दगी में समस्याओं को जन्म देता है, इस बात का चित्रण किया गया है। क्रशरों के आगमन के साथ ही गाँव की खेती तहस-नहस हो जाती है। वर्षों बाद जब बऊ और मंदा गाँव लौट आती है तो गाँव को ठीक से पहचानने में उन्हें दिक्कत होती हैं। क्रशर की धूल के कारण गाँव में तरह-तरह की बीमारियाँ फैल जाती है। मंदा एम०एल०ए राजा साब से इसका ज़िक्र करती है, '' बड़ी दिक्कत है राजा साब जी, बड़ी परेशानी ! क्रैशरों के कारण गाँवों में धूल ही धूल छायी रहती है। पहले के मुकाबले दमा, साँस, तपेदिक कई गुना अधिक फैल गये हैं। मज़दूरों के ही नहीं, किसानों के शरीर भी हो गये हैं इन बीमारों के घर। ''[2] बाँधों के निर्माण के समय पर्यावरण का नाश व्यापक स्तर पर होता है। पारिछा बिजली स्टेशन बनाते समय गाँव, जंगल और नदी का नाश होता है। गनपत काका मंदा से इस संबंध में कहता है, '' बिटिया, जहाँ पारीछा बिजली-टेसन बन गया है, पहले वहाँ क्या था? गाँव, जंगल और नदी। अब देखो कि गाँव-गाँव लट्टू मिलकते हैं। तेरौ कौल बऊ, रात के समय भी दिन जैसा प्रकाश ! सूरज नारायन की धूप की सी रोसनी। ''[3] इसी उपन्यास के महाराज प्रकृति और पर्यावरण के नाश पर परेशान है। अपना दुख वह इस प्रकार व्यक्त करता है, '' पहाड़, वन, नदियाँ, महुआ, बेर, करौंदी, चिरौंदी, हल्दी, अदरक – अरे तमाम संपदा है। पर दुरभाग्य है हमारा कि हम नहीं बरत पाते। दलालों के सुपुर्द हो जाती है हमारी

---

[1] कृष्णा सोबती, समय सरगम, पृ-143

[2] मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ-307

[3] वही, पृ-154

संपत्ति। पहाड़ों की नीलामी, वनों की बोली तहस–नहस कर देती है मनोरम वातावरण को। पहाड़ टूट रहे हैं, सुनसान, सपाट मैदानों में फड़फड़ाते डोल रहे हैं पंछी–परेवा ! ”[1]

भारत सरकार ने दिन–ब–दिन बढ़ते जा रहे वन–विनाश को दृष्टि में रखते हुए देश के ३३ प्रतिशत क्षेत्र में वन लगाने की योजना बनाई है। किन्तु दूसरी ओर उद्योगों के लिए जंगल साफ भी करता जा रहा है। वास्तव में वन–रोपण और जंगल की सफाई में कोई संतुलन नहीं है। नसिरा शर्मा के उपन्यास ‘ शालमली ’ में भी वन–विनाश की मुद्दे पर काफी संजीदगी से विचार किया गया है। शाल्मली कुछ समय के लिए पर्यावरण विभाग के डयरक्टर रही थी। एक संगोष्ठी में वह अपना विचार प्रकट करती है, “ वन हमारी राष्ट्रीय निधि है, जिसे हम ‘ ग्रीन गोल्ड ’ कह सकते हैं। यह आलोचना सही है कि एक ओर हम वन–रोपण आन्दोलन चलाते हैं और दूसरी ओर कारखानों में अधिक से अधिक उत्पादन की होड़ में हम जंगल–के जंगल साफ करा देते हैं। . . . . जैसे योजना आज बनी, कल पौधे लगे, कुल मिलाकर यह काम छः महीने में पूरा हो गया, मगर पौधे को संपूर्ण वृक्ष बनने में कई वर्ष की लंबी अवधि के बीच पुराने वृक्षों के निरन्तर साफ किए जाने पर हमें विचार करना पड़ेगा कि उसमें और उत्पादन की गति को कैसे समान बनाया जाए, . . .। ”[2]

‘ कठगुलाब ’ की स्मिता का अचरण आदिवासी स्त्रियों को प्राभावित करती है। स्मिता गोधड़ गाँव में प्रगति लाने के लिए, परिवर्तन लाने के लिए प्रकृति से ही ताल–मेल बनाती है। प्रकृति से सामंजस्य स्थापित करने के बाद स्मिता का मन स्त्री–पुरुष भेद से ऊपर उठ जाता है। गाँव के स्त्री–पुरुष उसे ‘ बाँ ’ पुकारने लगती है। “ पेड़–पौधों से उसका लगाव और ग्रामवासियों के संसर्ग में उसका मुक्त उल्लास, स्त्री–पुरुष

[1] मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ–310

[2] नासिरा शर्मा, शाल्मली, पृ–131-32

में भेद करना भूल चुका था। उसके मन की निष्पक्षता गाँव के मर्दों तक पहूँच जाती थी; तभी वे उसके साथ मिलकर काम करने में झिझक नहीं महसूस करते थे। एक नैसर्गिक उछाह था, जो उसे गाँव के मर्दों–औरतों से जोड़ देता था। धीरे–धीरे उन्होंने उसे स्मिता बा कहना शुरू कर दिया था। फ़िर केवल बा। ''[1] प्रस्तुत उपन्यास में इस बात की स्थापना की गई है कि प्रकृति से सामंजस्य स्थापित कर हर व्यक्ति स्त्री–पुरुष भेद से ऊपर उठ सकते हैं। गोधड़ गाँव में स्मिता एक ऐसे समाज का निर्माण करता है जहाँ कोई किसी का अधीनस्थ नहीं है। पुरुष की मानसिकता में परिवर्तन वह प्रकृति के माध्यम से ही करती है।

वास्तव में प्रकृति की रक्षा करने की क्षमता मात्र मनुष्य में है। दूसरी किसी भी शक्ति द्वारा प्रकृति की रक्षा संभव नहीं है। ' समय सरगम ' की अरण्या की बातें इस सच की ओर इशारा करती है।

'' हमारी धरती।

इसकी वनस्पतियाँ और हरीतिमा के कौन रखवाली करेगा।

कौन सुरक्षा करेगा !

मनुष्य !

मनुष्य !

मनुष्य ही।

परमाणु हथियार कभी नहीं। कभी नहीं। ''[2]

---

[1] मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ–238

[2] कृष्णा सोबती, समय सरगम, पृ–158

निष्कर्ष

समकालीन नारीवादी उपन्यासों में चित्रित विद्रोही नारी का जन्म इस पहचान से हुआ था कि पुरुष द्वारा बनाए गए सामाजिक नियम और धार्मिक रूढ़ियाँ ही स्त्री स्वतंत्रता के बाधक तत्व हैं। अपने व्यक्तित्व–विकास के बाधक तत्वों के विरुद्ध संघर्ष करनेवाली नारी इस समय के नारीवादी उपन्यास के प्रमुख अंग है। इस समय की लेखिकाओं ने इस बात को स्पष्ट किया है कि पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के तथाकथित ' सुरक्षा ' नारी के लिए कैद के अलावा और कुछ नहीं था। भारत जैसे धर्म प्रधान देश में धर्म ने भी नारी के साथ अन्याय ही किया है। सामाजिक नियमों की भाँति धार्मिक नियमों में भी पुरुष के लिए विशेष अधिकार सुरक्षित है। सचाई यह है कि भारतीय स्त्री का शोषण धर्म के नाम पर ही सबसे अधिक हुआ है। समकालीन नारीवादी लेखिकाओं ने इस बात को साबित किया है कि आज नारी की जो बदहालत है इसका मूल कारण ये सामाजिक नियम और धार्मिक रूढ़ियाँ ही हैं।

पुरुष वर्चस्ववाद के खिलाफ नारी का विद्रोह इस समय के उपन्यासों की अन्य विशेषता है। इन उपन्यासों में चित्रित नारियाँ अपनी–अपनी परिस्थिति और परिवेश के अनुसार विद्रोह के विभिन्न रूप धारण करती हुई नज़र आती हैं। आज अपनी अस्मिता की रक्षा नारी के लिए सबसे महत्वपूर्ण है। अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए किसी भी ठोस निर्णय लेने को आज वह तैयार है। स्वतंत्रता के नाम पर पुरुष का अनुकरण करने की नारी की प्रवृत्ति के विरुद्ध लेखिकाओं ने अपनी असहमति उपन्यासों में दर्ज की है। आधुनिकता के नाम पर स्त्री को दी जानेवाली स्वतंत्रता की गलत परिभाषाओं के प्रति सावधान होने की सलाह भी इन उपन्यासों में दी गई है। प्रत्येक नारी की परिस्थिति एक दूसरे से भिन्न होने के कारण स्वतंत्रता संबंधी परिकल्पनाओं में भी अन्तर द्रष्टव्य

है। परिस्थिति के प्रति नारी की सजगता का चित्रण वास्तव में स्त्री–चेतना की व्यापकता का प्रमाण है।

उपसंहार

उपसंहार

एक सामाजिक प्राणी की हैसियत से स्त्री के मानवीय अधिकारों की माँग करता है नारी विमर्श। स्त्री को ' वस्तु ' से ' व्यक्ति ' में तब्दील करना नारी विमर्श का मुख्य लक्ष्य है। वह एक ऐसे समाज की कल्पना करता है जहाँ स्त्री पुरुष के अधीनस्थ न हो। वास्तव में नारी विमर्श स्त्री के स्वत्वबोध की पहचान की उपज है। पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के स्त्री उत्पीडनकारी सिद्धांतों के खिलाफ विद्रोह इसका पहला शर्त है। स्वतंत्रता और अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्षरत नारियों को प्रश्रय देना नारी विमर्श का महत्वपूर्ण उद्देश्य है। नारी के अधिकारों के प्रति नवीन चेतना का उदय पश्चिम में हुआ था। विश्व भर में नारी विमर्श एक संगठित आंदोलन का रूप 1950 के बाद ही ग्रहण करता है। 1960 तक आते–आते हिन्दी साहित्य में भी इसका प्रभाव छा गया। नारी ने पहली बार अपनी चुप्पी को तोड़कर अपने अनुभवों को वाणी देना शुरू कर दिया। वास्तव में इस प्रवृत्ति ने प्रचलित साहित्यिक मानयताओं की जड़ें हिला दीं।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल और रीतिकाल में नारी का भोग्या रूप ही अधिक चित्रित था। भक्तिकाल में कबीर की नज़र में वह साधना–मार्ग की बाधा थी तो तुलसी की नज़र में वह ताड़ना के अधिकारी थी। नवजागारण के प्रभाव के कारण यद्यपि लेखकों की दृष्टि में परिवर्तन आया था किन्तु उस समय भी वह सहानुभूति के पात्र ही अधिक थी। एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में नारी को मानना करना इस समय के लेखकों के लिए संभव नहीं था। प्रेमचंद ने निश्चय ही अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों से हटकर नारी–जीवन को गौर से देखने का प्रयास किया था किन्तु वेश्या–समस्या , विधवा–समस्या , दहेज और अनमेल विवाह की समस्या जैसे कुछ विषयों तक ही उसका विचार सीमित रहा। इस समय की महिला लेखिकाओं द्वारा भी परंपरागत नारी

संहिता को तोड़ने का कोई भी प्रयास दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रेमचंदोत्तर युग के उपन्यासों में स्त्री–पुरुष संबंधों की नई व्याख्या हुई। इस समय के मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासकारों ने प्रेम , काम , दांपत्य संबंधों में तनाव , विवाहेतर संबंध जैसे विषयों का विश्लेषण करने का प्रयास किया। स्वतंत्र एवं स्वेच्छाचारिणी नारियों का चित्रण इस समय के उपन्यासों में देखा जा सकता है। इस समय यशपाल जैसे मार्क्सवादी उपन्यासकारों ने परंपरागत नारी संहिता को आलोचना का विषय बनाया। इस समय की महिला लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में नारी–शोषण के विभिन्न मुद्दों को अवश्य उठाया था किन्तु विद्रोह की ओर वे कुछ विमुख–सी दिखाई देती हैं।

आज़ादी के बाद नारी–शिक्षा का प्रसार नारी जीवन में नवीन चेतना लाया। साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में पश्चिम की नारी–मुक्ति आंदोलन का प्रभाव उल्लेखनीय है। इस समय की महिला उपन्यास लेखिकाओं के विचार में प्रस्तुत नारी मुक्ति आंदोलन का स्पष्ट प्रभाव द्रष्टव्य है। अस्सी के बाद उपन्यास लेखन में महिलाओं की भागीदारी में बढ़ोत्तरी हुई। इस समय तक महिलाओं का जीवन–क्षेत्र भी काफी विस्तृत हो चुका था। नारी–शिक्षा के प्रचार नारी के सामाजिक–जीवन में सुधार लाए। नारियाँ अपनी अस्मिता और अस्तित्व के प्रति अधिक सजग एवं संवेदनशील हो गईं। इस समय की लेखिकाओं ने नारी–जीवन को उसकी पूरी समग्रता और व्यापकता के साथ परखने की कोशिश की है। वे परिवार और विवाह जैसी संस्थाओं की नयी व्याख्या करना चाहती हैं। वे आज नैतिकता के नये–नये मापदण्डों के निर्धारण में जुड़ी हुई हैं। आज कामकाजी नारी के जीवन की समस्याओं के प्रति भी वे काफी सजग हैं। सामाजिक नियम और धार्मिक रूढ़ियों में निहित स्त्री–विरुद्ध तत्वों से भी समकालीन नारीवादी लेखिकाएँ वाकिफ हैं। किन्तु वे अपनी पूर्ववर्ती लेखिकाओं की तरह शोषण के ज़िक्र मात्र से संतुष्ट नहीं है। शोषण के विरुद्ध सख्त विद्रोह आज इनके उपन्यासों की पहचान बन गई है। भूमण्डलीकरण , पारिस्थितिक सजगता जैसे विषय भी समकालीन नारीवादी

लेखिकाओं के लिए अछूता नहीं है। संक्षेप में नारी–जीवन से संबंधित सभी मुद्दों को इस समय की लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में दर्ज की है। बेशक नारीवादी उपन्यास समकालीन हिन्दी उपन्यास की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

भारत की पारिवारिक व्यवस्था बिलकुल पितृसत्तात्मक है। इस व्यवस्था के अंतर्गत एक ओर्परिवार के बाहर स्त्री के व्यक्तित्व की कल्पना के लिए कोई गुंजाईश नहीं है तो दूसरी ओर परिवार के अन्तर्गत उसका स्थान कैदी के समान है। समकालीन नारीवादी लेखिकाओं ने भारतीय परिवारों की इस स्त्री उत्पीडनकारी रूप का पर्दाफाश किया है। वास्तविकता यह है कि भारतीय परिवारों के ढाँचे में ऐसी औरतों का ही निर्माण होता है , जो बोलना नहीं जानती , अगर कुछ जानती है तो सिर्फ इतना कि पुरुषों की आज्ञाओं का पालन। उस पर अनुशासन की कड़ी निगाह , उठने–बैठने की विशेष शिक्षा , समय–समय पर लड़की होने का अहसास दिलाना इन सबके परिणामस्वरूप उसके व्यक्तित्व के विकास संभव नहीं हो पाता। इसी परिवार में लड़का अपने विशेष अधिकार के हकदार भी है। सभी क्षेत्रों में यह भेदभाव आज भी बरकरार है। भारतीय परिवारों में वैदिक काल से ही पुरुष संतानों के प्रति विशेष मोह देखा जा सकता है। आज भी इस मोह से वे मुक्त नहीं हुए हैं। इसका भीषण रूप आज कन्याभ्रूण–हत्याओं के मामलों में देखा जा सकता है। पिछले कुछ सालों के आँकड़ों के मुताबिक भारत में पुरुषों पर स्त्री का अनुपात लगातार घटता जा रहा है जो चिन्तनीय है।

आज भी एक भारतीय स्त्री के लिए ऐसे एक घर की कल्पना संभव नहीं है जिसे वह अपना कह सके। घर तो पुरुषों का ही है। पुरुष की नज़र में स्त्री–जीवन का चरम लक्ष्य विवाह है। किन्तु विवाह के मामले में भी चयन के अधिकार से वह वंचित है। नारी की इस बदली हुई मानसिकता भी उल्लेखनीय है कि आज वह विवाह को अपने जीवन की एक अनिवार्य घटना के रूप में देखने को तैयार नहीं है। आजीवन

अविवाहिता रहने के लिए भी वह तैयार है , शादी और प्रेम आज उसके लिए पर्यायवाची शब्द नहीं है। औसत पुरुष की नज़र में आज भी औरत गृहस्थी सँभालने की नौकरानी और भोगने की वस्तु मात्र है। आज तलाक के प्रति नारी की नई सोच विकसित हुई है। मरे हुए संबंधों को ढोने केलिए आज वह तैयार नहीं है। अनुचित समझौतों के लिए भी वह तैयार नहीं है। किन्तु तलाकशुदा स्त्री को समाज आज भी शक भरी दृष्टि से ही देखता है। समकालीन नारीवादी लेखिकाओं के विचार में विश्व के सभी समाज नारी उत्पीडनकारी ही है। वास्तव में नारी शोषण के मामले में विश्व के विभिन्न समाजों के बीच कोई खास अंतर नहीं है।

समकालीन नारीवादी लेखिकाओं के उपन्यासों में काम संबंधी अवधारणाओं में पर्याप्त नवीनता देखने को मिलती है। वे पुरुष लेखकों द्वारा निर्धारित काम संबंधी मान्यताओं का अनुसरण करने के बजाय एक नया रास्ता खोज निकालना चाहती हैं। काम या सेक्स् उनके लिए कोई वर्जित वस्तु नहीं है। पुरुष द्वारा निर्धारित नैतिकता की अवधारणा की इन लेखिकाओं ने धज्जियाँ उठाई है। नैतिकता के मामले में पुरुष विशेष अधिकार का हकदार है। नैतिकता के इन दोहरे मापदण्डों के विरुद्ध आक्रोश इनके उपन्यासों का अभिन्न अंग है। पुरुष द्वारा लादी गई मान्यताओं को पालने के लिए आज की नारी विवश नहीं है। वे समाजगत नैतिकता की तुलना में व्यक्तिगत नैतिकता को महत्व देती हैं। साहित्य के क्षेत्र में भी पुरुष द्वारा निर्धारित नैतिक मानयताओं का उल्लंघन करने की लेखिकाओं की चाह भी प्रस्ताव्य है। स्त्री–पुरुष मिलन के उन्मुक्त चित्रण इनके उपन्यासों में देखा जा सकता है , जिसका मुख्य उद्देश्य पुरुष द्वारा निर्धारित साहित्यिक मान्यता को चुनौती देना है।

यौन–शोषण के बढ़ते दायरों का चित्रण इस समय के उपन्यासों में हुआ है। अपने ही घर में नारी , यहाँ तक की छोटी बच्ची भी सुरक्षित नहीं है। पिता से लेकर नौकर तक उसके शोषण के लिए आमादा हुए हैं। घर के अंदर की हालत यही है तो

बाहर की हालत के बारे में सोचना तक व्यर्थ है। दोनों जगह पुरुष की नज़र में स्त्री महज देह है। बलात्कार के प्रति समाज की ठंठी प्रतिक्रिया को इस समय की लेखिकाओं ने अलोचना का विषय बनाया है। इस संबंध में समाज का रवैया कुछ इस तरह है कि वह शिकारी के नहीं शिकार के पीछे पड़ना चाहते हैं। दूसरी औरत रखने के पीछे पुरुष की जो उपयोगिता की मानसिकता है , समकालीन नारीवादी उपन्यासों में व्यक्त हुई है।

यौन–क्रियाओं में स्त्री की भावनाओं और इच्छाओं पर पुरुष प्रायः कद्र नहीं करता। ऐसा यौन–संबंध नारी के लिए एक बलात्कार के अलावा और कुछ नहीं लगता। इसप्रकार के बलात्कार दीर्घ–काल झेलने के लिए आज की नारी तैयार नहीं है। वे आज विवाहेतर संबंध की खोज करने से भी चूकती नहीं। वे देह की भूख की अवहेलना करना नहीं चाहती। किन्तु इस प्रकार विवाहेतर संबंध स्थापित करते हुए भी वे किसी भी प्रकार के पापबोध का अनुभव नहीं करती।

नवउपनिवेशवादी संस्कृति ने नारी को महज वस्तु के रूप में परिवर्तित किया है। पर नारी भी आज पुरुष को केवल वस्तु के रूप में देखने लगी है। बाज़ारवादी संस्कृति ने स्त्री को वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने के साधन के रूप में तब्दील कर दिया है। इस क्षेत्र के संभाव्य खतरों को पहचानने में नारी भी कुछ असमर्थ दिखाई देती है। स्त्री शरीर के पदार्थीकरण से स्त्री को लाभ की तुलना में हानी ही अधिक हुई है।

देह स्त्री विमर्श का सबसे अहम मुद्दा है। स्त्री–देह संबंधी अवधारणओं में परिवर्तन हुए बिना स्त्री की मुक्ति की कल्पना करना व्यर्थ ही है। देह संबंधी मान्यताओं में परिवर्तन लाने की समकालीन नारीवादी लेखिकाओं का प्रयास यहाँ विशेष उल्लेखनीय है। देह संबंधी इनकी मान्यतायें इस बात को सिद्ध करता है कि स्त्री के शरीर पर सिर्फ स्त्री का ही अधिकार है।

नारी–शिक्षा के प्रसार ने आत्मसम्मान के साथ जीने की प्रेरणा नारी को दी। आत्मसम्मान के साथ जीने के लिए आत्मनिर्भर होने की ज़रूरत को नारियों ने पहचान लिया। उन्होंने पहचान लिया कि आर्थिक परावलंबन ही उसकी स्वतंत्रता के लिए रोड़ा अटकाता है। आज नारी आत्मनिर्भरता को अपनी पहचान के रूप में स्वीकार करती है। वास्तव में पितृसत्तात्मक समाज के श्रम का विषम विभाजन ही स्त्री को उसकी आर्थिक स्वतंत्रता से वंचित रखा आया है। प्रस्तुत विभाजन के अनुसार स्त्री के लिए घरेलू काम ही काफी है जिससे कोई आमदनी नहीं मिलती। पुरुष घर के बाहर काम करके उस कमाई के बल पर ही स्त्री को अपने इशारों पर नचाकर आए हैं। समकालीन नारीवादी लेखिकाओं ने श्रम के इस विषम विभाजन का पोल खोल दिया है।

समकालीन उपन्यासों में चित्रित नारियाँ आत्मनिर्भरता के महत्व से भली–भाँति परिचित है। आज आत्मनिर्भरता उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन गया है। वे जानती हैं कि बिना अपने पैरों पर खड़े हुए कोई भी ठोस निर्णय वह नहीं ले सकती। आर्थिक अस्वतंत्रता ने ही उसे कई अनुचित समझौतों के लिए विवश किया था। निस्संदेह कहा जा सकता है कि आर्थिक स्वतंत्रता ने नारी के निर्णय–क्षमता को बढ़ावा दिया है। नारी के मन में अस्मिता बोध जगाने में नौकरी ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। आज नौकरी उसके लिए अपने अस्तित्व–स्थापन ही है। नौकरी नारी में यह बोध दिलाने में सहायक सिद्ध हुई है कि वह भी समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई है।

घर के बाहर भी स्त्री का कर्म–क्षेत्र हो सकता है , यह बात आज भी पुरुष के लिए पूरी तरह हज़म नहीं हुई है। उनके विचार में स्त्री को घर के बाहर काम करने की ‘ इजाज़त ’ देने का अधिकार सिर्फ उन्हें ही है। उनका विचार है किसी भी गंभीर कार्य करने की क्षमता से आज भी नारी वंचित है। वे अपनी नौकरी की तुलना में नारी की नौकरी तुच्छ समझते हैं। समाज की नज़र में कामकाजी नारी की छवि उतना

वांछनीय नहीं है। कामकाजी नारी के प्रति शक भरी दृष्टि रखनेवालों का आज अभाव नहीं है। कामकाजी नारी के जीवन की सबसे बड़ी समस्या घर और ऑफिस की दोहरी भूमिका है। पति और परिवार के अन्य सदस्यों का असहयोग इस समस्या को और अधिक जटिल बनाता है। आज कामकाजी नारी अर्थोपार्जन का एक अच्छा साधन है। पर अपनी कमाई पर उसका कोई हक है। कुछ पुरुषों की नज़र में कामकाजी नारी पैसा पैदा करने की मशीन मात्र है।

पिछले दो दशकों में कामकाजी नारी पर होनेवाले यौन–शोषणों की संख्या में काफी वृद्धि हुई हैं। जिनमें मामूली छेड़छाड़ से लेकर बलात्कार की घटनायें तक शामिल हैं। इस प्रवृत्ति को रोकने की उच्चतम न्यायालय की सारी कोशिशों के बावजूद इस प्रकार की घटनायें बढ़ती ही जा रही हैं जो वास्तव में विचारणीय है। सैक्सुअल हैरेसमेंट कमेटियाँ भी नारी पर होनेवाले शोषण को रोकने में पूर्णतया सफल नहीं हुई हैं। विज्ञापन जैसे क्षेत्रों में यौन–शोषण सारी सीमाओं को लाँघकर आगे बढ़ रहा है। सहकर्मियों की ओर से खासकर पुरुष सहकर्मियों की ओर से होनेवाले दुर्व्यवहार का सामना भी कामकाजी नारी को करना पड़ता है। पत्नी के सहकर्मी पर शक करना कुछ पुरुषों की आदत सी बन गई है। भूमण्डलीकरण ने जहाँ एक ओर नारी को नौकरी के नए–नए अवसर प्रदान किये तो दूसरी ओर शोषण के नए–नए आयाम भी खोल दिए हैं। आज स्त्री का देह एक अच्छी पूँजी है , एक अच्छा निवेश है। नौकरियों के चयन के समय निश्चय ही नारी को अतिरिक्त सतर्कता बरतने की ज़रूरत है। बेशक कहा जा सकता है कि नारी को आत्मसम्मान से जीने की प्रेरणा इन उपन्यासों ने दी है।

साहित्य का परम लक्ष्य एक शोषण–मुक्त समाज की स्थापना करना है। शोषितों का पक्षधर होना सभी साहित्यकारों का फर्ज़ है। दरअसल किसी भी शोषण के विरुद्ध संघर्ष तब प्रारंभ हो जाता है जब शोषित व्यक्ति उस शोषण को पहचान लेता है। समकालीन नारीवादी उपन्यासों में चित्रित नारियों द्वारा सामाजिक नियम और धार्मिक

रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह भी इस पहचान का परिणाम है। नारियों ने पहचान लिया कि पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था ही उसकी अधीनस्थता का कारण है। समकालीन संदर्भ में इन नियमों और रूढ़ियों के विरुद्ध स्त्रियों के आक्रोश को उपनयासों में वाणी मिली है। आधुनिक नारी उन रूढियों और नियमों के उल्लंघन करने में किसी भी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करती जो उसकी स्वतंत्रता के लिए बाधक है। धर्म के स्त्री–उत्पीडनकारी रूप को समकालीन नारीवादी लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में स्पष्ट किया है। भारत जैसे धर्म–प्रधान देश में इन रूढ़ियों के उल्लंघन करने की नारियों का साहस विशेष उल्लेखनीय है। सामाजिक स्वीकृति के बारे में सोचकर परेशान होने के लिए आज की नारी तैयार नहीं है। पुरुष वर्चस्व के विरुद्ध नारी का विद्रोह इस समय के उपन्यासों की अन्य विशेषता है। पुरुष के हर अन्याय को चुपचाप सहने को आज वह तैयार नहीं है। अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए किसी भी हद तक जाने के लिए आज नारी तैयार है। आज वह आत्मभिमान से जीना चाहती है।

स्त्री–स्वतंत्रता का मतलब पुरुष का अंधानुकरण नहीं है। अस्तु एक स्त्री का परिवेश दूसरे से अलग होने के कारण स्त्री–स्वतंत्रता के लिए कोई सर्वसम्मत परिभाषा देना संभव नहीं है। अधिकांश नारियाँ स्वतंत्रता के नाम पर स्त्री के सहज रूप को त्याजने को तैयार नहीं है। दूसरे शब्दों में , पुरुष बनने का मोह उसमें नहीं है। आधुनिकता के नाम पर स्त्री के ऊपर स्वतंत्रता की जो परिभाषा थोपी जा रही है , इसके खतरों को समझने में स्त्री भी कुछ असमर्थ ही दिखाई देती है। स्वतंत्रता की विभिन्न परिकल्पनाओं के बीच आज वह दिगभ्रमित है। कतिपय नारियों के लिए स्वतंत्रता सिर्फ यौन–स्वतंत्रता ही है। इस बात में कोई संदेह नहीं है कि स्त्री–मुक्ति का प्रश्न जब तक केवल समाज के उच्च एवं मध्य वर्ग की नारियों तक सीमित है तब तक स्त्री–लेखन का लक्ष्य अधूरा ही माना जाएगा। कतिपय उपन्यासों में परिस्थिति के प्रति

नारी की सजगता को चित्रित किया गया है। वस्तुतः यह नारी चेतना की व्यापकता का प्रमाण है।

समकालीन नारीवादी लेखिकाओं के उपन्यास साठोत्तरी महिला लेखिकाओं की भाँति पूर्णतया घरेलू नहीं है। इनके उपन्यासों में नारी–जीवन उसकी सारी समग्रता के साथ चित्रित हुआ है। नारीवादी लेखन में पुरुष की भागीदारी आज बहस का विषय है। केवल पुरुष द्वारा लिखित है , इस कारण किसी भी रचना को ढालना बेवकूफी होगा। अगर वह रचना स्त्री को अपनी वर्तमान स्थिति से , अपनी जकड़–बंदियों से मुक्ति दिलाने में सहायक हो तो उसे स्वीकारने में कोई हर्ज नहीं है। किन्तु इस बात में कोई संदेह नहीं है कि नारी की समस्याओं से नारी ही अधिक परिचित हो सकती है। पुरुष लेखकों के समान नारी मुक्ति उसके लिए आदर्श स्थिति नहीं है। नारी–मुक्ति आंदोलन वास्तव में स्त्री के स्वानुभव की पहचान की उपज है। वह उसके लिए ' कागद की लेखी ' न होकर ' आँखिन देखी ' बात है। अतः नारी द्वारा लिखित उपन्यासों का निश्चय ही अपना अलग महत्व है। समकालीन संदर्भ में नारी के मुक्ति संघर्ष को प्रश्रय देने में , और इस संघर्ष को सही दिशा–निर्देश देने में इन उपन्यासों की भूमिका निश्चित ही महत्वपूर्ण रही है। निस्संदेह, नारियों द्वारा लिखित उपन्यास समकालीन हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

*****

संदर्भ ग्रंथ सूचि

संदर्भ ग्रंथ सूचि

अध्ययन के लिए चयनित उपन्यास

1. आवाँ

चित्रा मुद्गल

सामायिक प्रकाशन , नई दिल्ली

संस्करण–1999

2. तत्–सम

राजी सेठ

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1998

3. शाल्मली

नासिरा शर्मा

किताब घर–नई दिल्ली

संस्करण–1987

4. एक ज़मीन अपनी

चित्रा मुद्गल

प्रभात प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1990

5. माई

गीतांजली श्री

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1993

6. दिलो–दानिश

कृष्णा सोबती

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1993

7. झूला नट

मैत्रेयी पुष्पा

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1999

8. चाक

मैत्रेयी पुष्पा

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1997

9. अन्तर्वंशी

उषा प्रियंवदा

वाणी प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2000

10. इदन्नमम

मैत्रेयी पुष्पा

किताब घर–नई दिल्ली

संस्करण–2008

11. ठीकरे की मंगनी

नासिरा शर्मा

किताब घर–नई दिल्ली

संस्करण–1996

12. पीली आँधी

प्रभा खेतान

लोकभारती प्रकाशन–इलाहाबाद

संस्करण–1996

13. छिन्नमस्ता

प्रभा खेतान

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1993

14. सात नदियाँ एक समंदर

नासिरा शर्मा

प्रभात प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1995

15. आओ पेपे घर चलें

प्रभा खेतान

सरस्वती विहार–दिल्ली

संस्करण–1990

16. एक पत्नी के नोट्स

ममता कालिया

किताब घर–नई दिल्ली

संस्करण–1997

17. कठगुलाब

मृदुला गर्ग

भारतीय ज्ञानपीठ–नई दिल्ली

संस्करण–1998

18. समय सरगम

कृष्णा सोबती

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2000

19. बेतवा बहती रही

मैत्रेयी पुष्पा

किताब घर–नई दिल्ली

संस्करण–1994

20. स्मृति–दंश

मैत्रेयी पुष्पा

किताब घर–नई दिल्ली

संस्करण–1990

20. ऐ लड़की

कृष्णा सोबती

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1991

21. अकेला पलाश

मेहरुन्निसा परवेज़

वाणी प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2002

22. शेष यात्रा

उषा प्रियंवदा

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1984

23. मैं और मैं

मृदुला गर्ग

नेशनल पब्लिशिंग हाउस–नई दिल्ली

संस्करण–1984

24. अल्मा कबूतरी

मैत्रेयी पुष्पा

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2000

25. अपने–अपने चेहरे

प्रभा खेतान

किताब घर–नई दिल्ली

संस्करण1996

आलोचनात्मक ग्रंथ

26. अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य

संस्करणपादक–राजेन्द्र यादव , अर्चना वर्मा

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2001

27. हिन्दी उपन्यास की दिशाएँ

डॉ० वेदप्रकाश अमिताब

गोविन्द प्रकाशन–मथुरा(उ.प्र)

संस्करण–2003

28. उपन्यास की संस्करणरचना

प्रो. गोपाल राय

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2006

29. उपन्यास:स्वरूप और संवेदना

राजेन्द्र यादव

वाणी प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1997

30. समकालीन हिन्दी उपन्यास की आधुनिका

डॉ० प्रतिभा पाठक

हिमालय पुस्तक भण्डार–नई दिल्ली

संस्करण–1992

31. हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा

रामदरश मिश्र

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1968

32. उपन्यास का पुनर्जन्म

परमानंद श्रीवास्तव

वाणी प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1995

33. उपन्यास की शर्त

जगदीश नारायण श्रीवास्तव

किताबघर–नई दिल्ली

संस्करण–1993

34. नये उपन्यासों में नये प्रयोग

डॉ० दंगल झालटे

प्रभात प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1994

35. महादेवी साहित्य समग्र–३

संपादनः निर्मला जैन

वाणी प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2000

36. हिन्दी उपन्यासः समकालीन विमर्श

डॉ० सत्यदेव त्रिपाठी

अमन प्रकाशन, कानपुर

संस्करण–2000

37. भारतीय नारी अस्मिता की पहचान

उमा शुक्ला

लोकभारती प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1994

38. समकालीन साहित्य चिन्तन

संपादक–डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० महीप सिंह

ज्ञान गंगा–दिल्ली

संस्करण–1995

39. विज्ञापन की दुनिया

कुमुद शर्मा

प्रतिभा प्रतिष्ठान–नई दिल्ली

संस्करण–2004

40. नवजागरण और महदेवी वर्मा का रचना–कर्म स्त्री विमर्श के स्वर

कृष्णादत्त पालीवाल

किताबघर–नई दिल्ली

संस्करण–2008

41. नयी सदी के उपन्यास

संपादक–डॉ० नवीनचन्द्र लोहनी

भावना प्रकाशन–दिल्ली

संस्करण–2004

42. स्त्री और पराधीनता

जॉन स्टुअर्ट मिल– अनुः युगांक धीर

संवाद प्रकाशन–मुंबई

संस्करण–2002

43. समकालीन महिला लेखन

डॉ० ओम प्रकाश शर्मा

पूजा प्रकाशन–दिल्ली

संस्करण–2002

44. ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ

सुधा सिंह

ग्रंथ शिल्पी प्रा.लिमिटेड–दिल्ली

संस्करण–2008

45. न्यायक्षेत्रेः अन्यायक्षेत्रे

अरविंद जैन

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2002

46. जहाँ औरतें गढ़ी जाती हैं

मृणाल पाण्डे

राधाकृष्ण प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2006

47. आधी आबादी का संघर्ष

ममता जैतली , श्रीप्रकाश शर्मा

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2006

48. विद्रोही नारी

जर्मेन ग्रियर– अनुः मधु.बी.जोशी

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2001

49. नारीः बहुरूपा

डॉ० उर्मी शर्मा

अनंग प्रकाशन दिल्ली

संस्करण–2002

50. परिधि पर स्त्री

मृणाल पाण्डे

राधाकृष्ण प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1998

51. मात्र देह नहीं है औरत

मृदुला सिन्हा

सामायिक प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2007

52. प्रेम के साथ पिटाई

लवलीन

सामायिक प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2007

53 . . . और औरत अंग

मनीषा

शिल्पायन–दिल्ली

संस्करण–2006

54. बन्द गलियों के विरुद्ध–महिला पत्रकारिता की यात्रा

संपादक–मृणाल पाण्डे, क्षमा शर्मा

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2004

55. औरत अपने लिए

लता शर्मा

सामायिक प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2006

56. स्त्रीत्व का उत्सव

राजकिशोर

वाणी प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2003

57. स्त्री देह की राजनीति से देह की राजनीति तक

मृणाल पाण्डे

राधाकृष्ण प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2002

58. भारतीय विवाह संस्था का इतिहास

विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे

वाणी प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2004

59. ओ उब्बीरी . . .

मृणाल पाण्डे

राधाकृष्ण प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2006

60. बाधाओं के बावजूद नई औरत

उषा महाजन

मेधा बुक्स–दिल्ली

संस्करण–2001

61. औरत कल, आज और कल

आशारानी व्होरा

कल्याणी शिक्षा परिषद्–नई दिल्ली

संस्करण–2005

62. जीना है तो लड़ना होगा

बृंदा कारात

सामायिक प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2007

63. नारी प्रश्न

सरला माहेश्वरी

राधाकृष्ण प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2007

64. हमारी औरतें

मनीषा

शिल्पायन–दिल्ली

संस्करण–2006

65. जीवन की तनी डोर : ये स्त्रियाँ

नीलम कुलश्रेष्ठ

मेधा बुक्स–दिल्ली

संस्करण–2002

66. देवी–समयातीत गाथाएँ स्त्रियों की

मृणाल पाण्डे– अनु: मधु.बी.जोशी

राधाकृष्ण प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2001

67. लिंग भाव का मानववैज्ञानिक अन्वेषण:परिच्छेदी क्षेत्र

लीला दुबे– अनु: वंदना मिश्र

वाणी प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2004

68. स्त्री संघर्ष का इतिहास 1800-1990

राधा कुमार– अनुवाद एवं संपादन–रमा शंकर सिंह ‘ दिव्यदृष्टि ’

वाणी प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2002

69. स्त्री–पुरुष कुछ पुनर्विचार

राजकिशोर

वाणी प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2000

70. बधिया स्त्री

जर्मेन ग्रियर– अनु: मधु.बी.जोशी

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2005

71. अपना कमरा

वर्जीनिया वुल्फ– अनु: गोपाल प्रधान

संवाद प्रकाशन–मुंबई

संस्करण–2002

72. स्त्री लेखन और समय के सरोकार

हेमलता महिश्वर

नेहा प्रकाशन–दिल्ली

संस्करण–2006

73. हव्वा की बेटी

दिव्या जैन

वाग्देवी प्रकाशन–बीकानेर

संस्करण–2000

74. औरत: उत्तर कथा

संपादन– राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा

राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2002

75. हिन्दी की महिला उपन्यासकारों की मानवीय संवेदना

डॉ० उषा यादव

राधाकृष्ण प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1999

76. हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव

भारत भूषण अग्रवाल

किताबघर–नई दिल्ली

संस्करण–2001

77. प्रेमचंद– पूर्व के हिन्दी उपन्यास

ज्ञान्चंद जैन

आर्य प्रकाशन मंडल–दिल्ली

संस्करण–1998

78. मूल्य और हिन्दी उपन्यास

डॉ० हेमराज कौशिक

निर्मल पब्लिकेशन्स–दिल्ली

संस्करण–2000

79. हिन्दी उपन्यासों में बौद्धिक विमर्श

डॉ० गरिमा श्रीवास्तव

संजय प्रकाशन–दिल्ली

संस्करण–1999

80. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में युग–बोध

डॉ० लाल साहब सिंह

अभय प्रकाशन–कानपुर

संस्करण–2005

81. हिन्दी उपन्यास सृजन और सिद्धांत

नरेन्द्र कोहली

वाणी प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2002

82. उपन्यास की समकालीनता

ज्योतिष जोशी

भारतीय ज्ञानपीठ–नई दिल्ली

संस्करण–2007

83. बज़ार के बीचः बाज़ार के खिलाफ

भूमण्डलीकरण और स्त्री के प्रश्न

प्रभा खेतान

आणी प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2007

84. स्त्री आकांक्षा के मानचित्र

गीता श्री

सामायिक प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2008

85. नारीवादी विमर्श

राकेश कुमार

आधार प्रकाशन–पंचकूला, हरियाणा

संस्करण–2004

86. आदमी की निगाह में औरत

राजेन्द्र यादव

राजकमल प्रकाशन– नई दिल्ली

संस्करण–2002

87. स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ

रेखा कस्तवार

राजकमल प्रकाशन– नई दिल्ली

संस्करण–2006

88. इक्कीसवीं शदी की ओर

संपादनः सुमन कृष्णकांत

राजकमल प्रकाशन– नई दिल्ली

संस्करण–2001

89. स्त्रीघोष

कुमुद शर्मा

प्रतिभा प्रतिष्ठान–नई दिल्ली

संस्करण–2002

90. स्त्री

दिनेश धर्मपाल

भावना प्रकाशन–दिल्ली

संस्करण–2008

91. नये आयामों को तलाशती नारी

संपादनः दिनेशनन्दिनी डालमिया , रश्मि मल्होत्रा

नवचेतन प्रकाशन–दिल्ली

संस्करण–2003

92. रंग ढंग

मृदुला गर्ग

विद्या विहार–नई दिल्ली

संस्करण–1995

93. हिन्दी के अधुनातन नारी उपन्यास

इन्दु प्रकाश पाण्डेय

हिन्दी बुक सेंटर–नई दिल्ली

संस्करण–2004

94. हिन्दी लेखिकाओं के उपन्यासः चेतना के नए स्वर

डॉ० शारदा सारसर

रजनी पब्लिशिंग हऊस–दिल्ली

संस्करण–2007

95. आधुनिक एवं हिन्दी कथा–साहित्य में नारी का बदलता स्वरूप

संपादनः डॉ० मुदिता चन्द्रा , डॉ० सुलक्षणा टोप्पो

भावना प्रकाशन–दिल्ली

संस्करण–2008

96. हिन्दी उपन्यास का विकास

मधुरेश

सुमित प्रकाशन–इलाहाबाद

संस्करण–1998

97. परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति

फ्रेडरिख़ एंगेल्स

अनुवाद और संपादनः नरेश ‘ नदीम ’

प्रकाशन संस्थान–नई दिल्ली

संस्करण–2003

98. हिन्दी उपन्यास का इतिहास

गोपाल राय

राजकमल प्रकाशन– नई दिल्ली

संस्करण–2002

99. नारी चेतना के आयाम

डॉ० अलका प्रकाश

लोकभारती–इलाहाबाद

संस्करण–2007

100. हिन्दी उपन्यासों में स्त्री अस्मिता की अभिव्यक्ति

वीना यादव

अकादमिक प्रतिभा–दिल्ली

संस्करण–2006

101. स्त्रीः उपेक्षिता

सीमोन द बोउवार, अनुः प्रभा खेतान

हिन्द पॉकेट बुक्स–नई दिल्ली

संस्करण–2002

102. आधुनिक लेखिकाओं के नागरीय–परिवेश के उपन्यास

डॉ० पारूकान्त देसाई

चिन्तन प्रकाशन–कानपुर

संस्करण–1994

103. औरत अस्तित्व और अस्मिता

अरविंद जैन

सारांश प्रकाशन–दिल्ली

पेपरबैक संस्करण–2001

104. भूमण्डलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र

प्रभा खेतान

सामयिक प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2007

105. समकालीन हिन्दी कविता में आम आदमी

मृदुल जोशी

क्लासिकल पब्लिशिंग–नई दिल्ली

संस्करण–2001

106. समकालीन हिन्दी काव्य दशा और दिशा

संपदक: डॉ० जयप्रकाश शर्मा

अनंग प्रकाशन–दिल्ली

संस्करण–2004

107. समकालीन हिन्दी साहित्य–विविध परिदृश्य

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

राधाकृष्ण प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1995

108. समकालीन कविता में मानव मूल्य

डॉ० हुकुमचंद राजपाल

शारदा प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1993/

109. समकालीन कविता संप्रेषण : विचार : आत्मकथ्य

संपादक: वीरेन्द्र सिंह

पंचशील प्रकाशन–जयपूर

संस्करण–1987

110. समकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ

डॉ० रामकली सराफ

विश्वविद्यालय प्रकाशन–वाराणसी

संस्करण–1997

111. समकालीन मूल्य बोध और संशय की एक रात

सुरेश चन्द्र

जवाहर पुस्तकालय–मथुरा

संस्करण–2002

112. मगध: संवेदना और समकालीनता

डॉ० चन्द्रशेखर रावल

प्रकाशक: अकादमिक प्रतिभा –दिल्ली

संस्करण–2007

113. नारी विद्रोह के भारतीय मंच

आशारानी व्होरा

नेशनल पब्लिशिंग हउस–नई दिल्ली

संस्करण–1991

114. स्त्री के लिए जगह

संपादक: राजकिशोर

वाणी प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1994

115. सांस्कृतिक प्रतीक कोश

शोभानाथ पाठक

प्रभात प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1999

116. भारतीय संस्कृति

नरेन्द्र मोहन

प्रभात प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1999

117. मन माँझने की ज़रूरत

अनामिका

सामायिक प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–2006

118. मनुस्मृति

टीकाकार: पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

संस्करण–2003

119. स्म्स्कृति के चार अध्याय

रामधारी सिंह दिनकर

लोकभारती–इलाहाबाद

संस्करण–2006

120. हिन्दी उपन्यास और स्त्री–जीवन

डॉ० ज्योति किरण

मेधा बुक्स , दिल्ली

संस्करण–2004

121. महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारीवादी दृष्टि

डॉ० अमर ज्योति

अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपूर

संस्करण–1999

122. स्त्रीवादी विमर्श समाज और साहित्य

क्षमा शर्मा

राजकमल प्रकाशन– नई दिल्ली

संस्करण–2002

123. नारी–शोषण आईने और आयाम

आशारानी व्होरा

नेशनल पब्लिशिंग हाउस–नई दिल्ली

संस्करण–1996

124. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास

डॉ० बच्चन सिंह

लोकभारती प्रकाशन–इलाहाबाद

संस्करण–1997

125. हिन्दी साहित्य का इतिहास

संपादकः डॉ . नगेन्द्र

मयूर पेपरबैक्स–नौएडा

संस्करण–2001

126. हिन्दी साहित्य का इतिहास

डॉ० रमेश चन्द्र शर्मा

विद्या प्रकाशन, कानपुर

संस्करण–2008

127. हिन्दी साहित्य का इतिहास

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

नागरी प्रचारिणी सभा–काशी

पैपरबैक संस्करण–संवत्2060 वि.

कोश

128. राजपाल अंग्रेज़ी–हिन्दी शब्दकोश

डॉ० हरदेव बाहरी

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

संस्करण–1996

129. मीनाक्षी अंग्रेज़ी–हिन्दी कोश

डॉ० ब्रजमोहन, डॉ० बदरीनाथ कपूर

मीनाक्षी प्रकाशन–मीरट

संस्करण–1993

130. आधुनिक हिन्दी शब्दकोश

गोविन्द चातक

तक्षशिला प्रकाशन–नई दिल्ली

संस्करण–1986

131. अभिनव हिन्दी–अंग्रेज़ी–हिन्दी शब्दकोश

छौलबिहारी मिश्र

आलोक भारती, बंगलूर

संस्करण–1991

मलयालम

132. फेमिनिज़म भग १ और २

संपादन: डॉ० जान्सी जेम्स

प्रकाशक: केरला भाषा इन्स्टिट्यूट–तिरुवनन्तपुरम

संस्करण– 2000

133. स्त्री विमोचनम् चरित्रम् सिद्धांतम् समीपनम्

ए०के० रामकृष्णन, के०एम० वेणुगोपालन

नयन बुक्स्–पय्यन्नूर

संस्करण–1989

134. स्त्रीवादम्

जे० देविका

डि०सी बुक्स्– कोट्टयम्

संस्करण– 2000

135. आगोळवत्करणत्तिन्टे पुतु युद्धंङळ

वन्दना शिवा– अनुः के०रमा

डि०सी बुक्स्– कोट्टयम्

संस्करण– 2007

136. अतिजीवनवुम् विमोचनवुम्

बृंदा कारात– अनुः राघवन वेन्ङाडु

चिंता पब्लीशेर्स– तिरुवनन्तपुरम

संस्करण– 2007

137. स्त्री व्यत्यस्त मतन्ङलिल

के०सी० राघवन

कुरुक्षेत्र प्रकाशन– कोच्चि

संस्करण– 2007

138. ओरु फेमिनिस्टावुका

फा० अलोष्यस् डि० फेर्णान्टस्

प्रभात् बुक्स्– तिरुवनन्तपुरम

संस्करण– 2007

139. स्त्रीनीति

केरला भाषा इन्स्टिट्यूट–तिरुवनन्तपुरम

संपादनः वि०एम० राजलक्ष्मि

संस्करण–1996

अंग्रेज़ी

140. The Second Sex
SimonDe Beauvior
(Paper back)Edition-1989
Wintage Books U.S.A
141. A Room of One's Own
Virginia Woolf
(Paper back)Edition-2002
Cambridge Uni.press India
142 . The Subjection of Women
John Stuart Mill
(Paper back)Edition-2007
Book Jungle
143. Land Of The Great Mogul Akbar's India
Martin Ballard
Methuen Educational Ltd.
1973
144. History Of Social Development
B.M. Bhatiya
Vikas PubliShing House-Delhi
1974
145. The History Of India
Mont Stuart
Kitab mahal.Allahabad
1966

146. The Vedic Age
Edi: R.C.Majumdar
Bharatiya Vidya Bhavan-Bombay
1971

147. Muslim Rule in India
Vidyadhar Mahajan
S.Chand&Co PubliShers-Delhi
1970

148. Ancient IndianSocial History Some interpretations
Romila Thaper
Orient Longman Ltd.-Hyderabad
1996

149. A social , Cultural and Economic History of India
Editors-P.N.Chopra, B.N. Puri, M.N.Das
Publishers: Macmillan Company of India Ltd.
1974

150. Women and Self
Rajni Waliya
Books Plus-New Delhi
2001

पत्र–पत्रिकाएँ

1. हंस

जनवरी–1999 & 2000

मार्च–2000

सितंबर–2000

नवंबर–2000

2. **दस्तावेज़**

जनवरी–मार्च–1999

जुलाई–सितंबर–1999

जुलाई–सितंबर–2000

अक्तूबर–दिसंबर–2000

जुलाई–सितंबर–2001

अप्रैल–जून–2004

जुलाई–सितंबर–2004

जुलाई–सितंबर–2005

3. समीक्षा

जनवरी–मार्च–1980

अप्रैल–जून–1989

अक्तूबर–दिसंबर–1991

अप्रैल–जून–1993

जुलाई–सितंबर–1994

अप्रैल–जून–1996

अप्रैल–जून–1999

जनवरी–मार्च–2000

जनवरी–मार्च–2001

जुलाई–सितंबर–2002

अप्रैल–जून–2003

जनवरी–मार्च–2005

अप्रैल–जून–2005

अक्तूबर–दिसंबर–2005

4. **आलोचना**

अप्रैल–जून–2002

जूलाई–सितंबर–2001

5. **पल–प्रतिपल**

सितंबर–दिसंबर–2000

6. **मधुमति**

जून–2000

7. **वागर्थ**

अंक–80– फरवरी–2000

8. **साक्षात्कार**

अप्रैल–1996

दिसंबर–1999

9. **आजकल**

मार्च–2000

10. **वर्तमान साहित्य**

आगस्त–2008

11. **वाङ्मय**

जुलाई–दिसंबर–2007

* * * * *